समय यदि स्वरों में कुछ भी विकृति हुई तो वे इष्ट के बदले अनिष्ट फल देते हैं। पर काल-भेद, देश-भेद, व्यक्ति-भेद तथा उच्चारण-भेद से वेद-पाठ में भिन्नताओं के साथ-साथ उनकी सहस्रों शाखाएँ उत्पन्न हो गईं जिनका संक्षिप्त विवरण दे दिया गया है।

वेदों के सम्बन्ध में 'शाखा' शब्द की व्याख्या करने तथा उनके वर्त्तमानकाल में उपलब्ध शाखाओं पर प्रकाश डालने के पश्चात् उनके ब्राह्मण आदि ग्रन्थों का विवरण दिया गया है। सिद्धान्तः वेदों की जितनी शाखाएँ हैं उतने ही उनके ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदें होनी चाहिए। इसी प्रकार उतने ही उनके श्रौतसूत्र, धर्मसूत्र और गृह्य सूत्र भी होने चाहिए। पर काल पाकर कतिपय शाखाओं का उच्छेद हो गया, जिसका यह फल हुआ कि कितने ब्राह्मण आदि ग्रन्थ एवं कितने सूत्र-ग्रन्थ लापता हो गए। अतः जो बच-खुच गए हैं केवल उन्हीं का संक्षिप्त परिचय देकर संतोष कर लिया गया है।

संहिताओं से लेकर सूत्र-ग्रन्थों तक प्रकृत वैदिक साहित्य है जिस पर तत्सम्बन्धित ग्रन्थों के द्वारा प्रकाश डाला गया है। इस साहित्य का आधार ग्रन्थ विशेष हैं; न कि तत्प्रतिपादित विषय। पर इस साहित्य के शेष-भाग का आधार कोई ग्रन्थ विशेष न होकर कतिपय विषय हैं; अर्थात् विचार्य वस्तु मुख्यतः विषय हैं न कि तत्सम्बन्धी कोई ग्रन्थ। इसलिए इस भाग को सहायक वैदिक साहित्य कहते हैं। उदाहरणतः शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष, ये पाँच वेदांग; धनुर्वेद, गान्धर्व-वेद और अर्थ-वेद, ये चार उपवेद; तथा सांख्य, योग, वैशेषिक, न्याय, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा (वेदांत), ये छः वेदोपांग, ये केवल विषयों के नाम हैं, ग्रन्थों के नहीं। एक-एक विषय पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं। इन ग्रन्थों में से कितने लुप्त भी हो गए; पर जो कुछ उपलब्ध हैं उन्हीं के आधार पर विषय-विवरण यथासम्भव दिया गया है।

शिक्षा वह शास्त्र है जो हमें वेदमंत्रों के उच्चारण करते समय उनके उचित अक्षरों और स्वरों पर बल (Accent) देना सिखलाता है। कल्प से हमें विविध श्रौत (वेद-सम्बन्धी), गृह्य (परिवार-सम्बन्धी) और धार्मिक (सामाजिक, राजनैतिक और पारमार्थिक) कर्त्तव्यों के पालन करने की विधि मालूम होती है। व्याकरण से शब्दों की रचना मालूम होती है। वह दो प्रकार का है—वैदिक और लौकिक। वैदिक व्याकरण को प्रातिशाख्य कहते हैं। वैदिक शब्दों के कोष का नाम निघंटु है। निघंटु के शब्दों की जो व्याख्या वा भाष्य है वही निरुक्त है। जिस वाक्य में अक्षरों और मात्राओं की गणना की जाती है और जिसमें प्रायः चार चरण होते हैं उसे छन्दस् वा पद्य कहते हैं। चूँकि इस पुस्तक का विषय वैदिक साहित्य है अतः इसमें केवल वैदिक छन्दों पर ही विचार किया गया है। जिस शास्त्र के द्वारा हमें सूर्यादिग्रहों के अश्विन्यादि नक्षत्रों के

बीच भ्रमण-वश धार्मिक कृत्यों के सम्पादनार्थ शुभ मुहूर्त मालूम
छः वेदांग हुए।

अब उपवेदों पर आइए। जिस शास्त्र के द्वारा शरीर की
पूर्णायु का उपभोग कर सके वह आयुर्वेद है। इस शास्त्र पर
चरक-संहिता (चक्रपाणिदत्त-कृत संस्कृत टीका समेत), सुश्रुत
संस्कृत टीका समेत) तथा प्रत्यक्ष-शारीरम् (म० म० गणनाथ
सहायता ली है। अतएव हम उक्त महानुभावों के आभारी हैं।

धनुर्वेद वह शास्त्र है जिसके द्वारा हमें रण-भूमि में व्यवहृत होने वाले विविध
शस्त्रास्त्रों की रचना और प्रयोग, सैन्य-संचालन, व्यूह-रचना, सैन्य-संगठन, कवायद, मल्ल-
युद्ध आदि की शिक्षा मिलती है। इस शास्त्र पर विचार करते समय हमने प्राचीनकाल में
प्रयुक्त होने वाले कतिपय अस्त्रों और शस्त्रों का संक्षिप्त विवरण दिया है।

गान-विद्या वा संगीत-शास्त्र को गान्धर्ववेद कहते हैं। इस शास्त्र पर लिखते समय हमने
गीत, वाद्य और नृत्य पर, जो इस शास्त्र के विषय हैं यथेष्ट प्रकाश डाला है तथा निषादादि
सातों स्वरों, तत आदि चार प्रकार के वाद्ययंत्रों, नाद के आहत और अनाहत इन
दोनों भेदों, रागों, रागिनियों, तालों, मात्राओं एवं विविध लयों पर भी विचार किया गया
है। गान्धर्ववेद विषयक उक्त सामग्रियों के अधिकांशतः श्री सुदर्शनाचार्य-कृत संगीत
सुदर्शन नामक ग्रन्थ से लिया गया है जिनके लिए हम उनके ऋणी हैं।

अर्थवेद शिल्प-शास्त्र को कहते हैं। इसके अन्तर्गत नगरों, दुर्गों, भवनों आदि की
निर्माण-कला तथा चित्रकारी आदि विविध कारीगरियाँ हैं। हमने भारत में प्रागैतिहासिक-
कालीन स्थापत्य पर प्रकाश डालने के लिए वेदों, पुराणों, रामायणादि महाकाव्यों एवं
मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा की खुदाइयों के विवरणों से सहायता ली है। इसी
ऐतिहासिक काल के स्थापत्य की चर्चा, जिसके अन्तर्गत बौद्ध, जैन, मुस्लिम तथा राजपूत
स्थापत्य है; तक्षशिला, सारनाथ, नालन्दा, पाटलिपुत्र, बसाढ़ और [illegible] के खंडहरों
एवं पठानों और मुगलों की इमारतों के विवरणों के आधार पर की गई है। इस वास्तु-
चर्चा को प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् वाराहमिहिर-कृत वाराही (बृहत्) संहिता का हवाला देकर
समाप्त किया गया है जिसमें उन्होंने राजा, सेनापति, मंत्री, युवराज आदिकों के गृह-
निर्माण की विधि बतलाई है।

उपवेदों के बाद वेदोपांगों का नम्बर आता है जो वस्तुतः छः दर्शन हैं और जिनके
नाम पहले दे आये हैं। ये छः दर्शन इतने विशाल साहित्य के प्रतीक हैं कि
किसी एक का भी विचार, इस छोटे से ग्रन्थ में, जिसमें अन्य और भी विषयों का
करना आवश्यक है, स्थानाभाव के कारण यथेष्ट रीति से नहीं हो सकता

सम्भव हुआ है हमने प्रत्येक दर्शन के प्रतिपाद्य विविध विविध विषयों पर प्रकाश का प्रयत्न किया है। जैसे साख्य दर्शन के प्रकृति आदि पच्चीस तत्त्वों, सत्त्वादि गुणों, पचत मात्राओं, पचभूतों, ग्यारह इन्द्रियों, पुरुषो की अनेकता आदि पर, दर्शन के द्रष्टा, दृश्य और दृष्टि, वृत्तियों के पाँचों भेद, चित्त की पाँच अवस्थाओं, प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि, चित्त के विविध विक्षेपों, पाँच क्लेशों, आठ अङ्गों, सिद्धियों तथा काय सम्पत् आदि पर, न्याय दर्शन के प्रमाण आदि सोलह पदार्थों, आदि द्वादश प्रमेयों, सशय और सिद्धान्त के चार भेदों, वाद के पाँच अवयवों, के पाँच भेदों, छल के तीन भेदों, जाति के २४ तथा निग्रह स्थान के २६ भेदों कतिपय मुख्य भेदों और मोक्ष प्राप्ति के क्रम पर, वैशेषिक दर्शन के पृथ्वी आदि ९ रूपादि २४ गुणों, उत्क्षेपण आदि पाँच कर्मों, एव सामान्य, विशेष और समवाय, तीन उपपदार्थों पर, मीमासा-दर्शनोक्त विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध और अर्थवाद, पाँच कर्म स्थलों, विधि के उत्पत्ति, विनियोग, अधिकार और प्रयोग, इन चार भेदों, नियोग के श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या, इन छ सहकारी प्रमाणों, ति के विधात्री, अभिधात्री और विनियोक्त्र इन तीन भेदों, विनियोक्त्र के विभक्तिरूपा, अभिधान रूपा और एक पदरूपा इन ३ भेदों एव उक्त दर्शन सम्बन्धी अन्यान्य विषयों इसी प्रकार वेदात दर्शन के विषय भूत ब्रह्म के स्वरूप, उपनिषद्कारों के ब्रह्म विषयक निषेधात्मक शब्दों मे ब्रह्म के स्वरूप, विधानात्मक शब्दों में ब्रह्म के स्वरूप, ब्रह्म शक्तियों, माया के स्वरूप, जीव के स्वरूप, जीवों के कर्मानुसार शरीर-धारण, देवयान पितृयाण, मुक्त जीव के ऐश्वर्य, वेदातियों में द्वैतवादादि-जन्य विविध मतभेदों तथा भी कितने विषयों का यथासम्भव विवेचनापूर्ण स्पष्टीकरण किया गया है। सबके में जीव, ईश्वर, प्रकृति, परमाणु, सृष्टि, प्रलयादि विषयों पर एक स्वतन्त्र तथा आद्य (Up to date) तर्क पद्धति के अनुसार विचार कर ग्रन्थ की समाप्ति की है।

बक्सर (शाहाबाद)
वसी, विक्रम सवत् २००६

निवेदक
रजनीकान्त शास्त्री

सम्भव हुआ है हमने प्रत्येक दर्शन के प्रतिपाद्य विविध-विविध विषयों पर प्रकाश
तने का प्रयत्न किया है। जैसे सांख्य दर्शन के प्रकृति आदि पच्चीस तत्त्वों, सत्त्वादि
गों गुणों, पंचतन्मात्राओं, पंचभूतों, ग्यारह इन्द्रियों, पुरुषों की अनेकता आदि पर;
ग दर्शन के द्रष्टा, दृश्य और दृष्टि, वृत्तियों के पाँचों भेद, चित्त की पाँच अवस्थाओं,
प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि, चित्त के विविध विक्षेपों, पाँच क्लेशों, आठ अङ्गों,
मि, सिद्धियों तथा काय सम्पत् आदि पर; न्याय-दर्शन के प्रमाण आदि सोलह पदार्थों,
तमा आदि द्वादश प्रमेयों, संशय और सिद्धान्त के चार भेदों, वाद के पाँच अवयवों,
हेत्वाभास के पाँच भेदों, छल के तीन भेदों, जाति के २४ तथा निग्रह-स्थान के २६ भेदों
से कतिपय मुख्य भेदों और मोक्ष-प्राप्ति के क्रम पर; वैशेषिक दर्शन के पृथ्वी आदि ६
व्यों, रूपादि २४ गुणों, उत्क्षेपण आदि पाँच कर्मों, एवं सामान्य, विशेष और समवाय,
न तीन उपपदार्थों पर; मीमांसा-दर्शनोक्त विधि, मंत्र, नामधेय, निषेध और अर्थवाद,
पाँच कर्म-स्थलों; विधि के उत्पत्ति, विनियोग, अधिकार और प्रयोग, इन चार भेदों;
नियोग के श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या, इन छः सहकारी प्रमाणों;
ते के विधात्री, अभिधात्री और विनियोक्त्र इन तीन भेदों; विनियोक्त्र के विभक्तिरूपा,
भिधान-रूपा और एक पदरूपा इन ३ भेदों एवं उक्त दर्शन सम्बन्धी अन्यान्य विषयों
इसी प्रकार वेदांत-दर्शन के विषय भूत ब्रह्म के स्वरूप, उपनिषद्कारों के ब्रह्म विषयक
ार, निषेधात्मक शब्दों में ब्रह्म के स्वरूप, विधानात्मक शब्दों में ब्रह्म के स्वरूप, ब्रह्म
शक्तियों, माया के स्वरूप, जीव के स्वरूप, जीवों के कर्मानुसार शरीर-धारण, देवयान
पितृयाण, मुक्त जीव के ऐश्वर्य, वेदांतियों में द्वैतवादादि-जन्य विविध मतभेदों तथा
भी कितने विषयों का यथासम्भव विवेचनापूर्ण स्पष्टीकरण किया गया है। सबके
में जीव, ईश्वर, प्रकृति, परमाणु, सृष्टि, प्रलयादि विषयों पर एक स्वतंत्र तथा आद्य
तिक (Up-to-date) तर्क पद्धति के अनुसार विचार कर ग्रन्थ की समाप्ति की
है।

बक्सर (शाहाबाद)
वली, विक्रम संवत् २००६

निवेदक
रजनीकान्त शास्त्री

सूची-पत्र

सूची-पत्र

(१) अग्नि वायु रविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।
दुदोह यज्ञ-सिद्धयर्थमृग्यजुः सामलक्षणम् ।।मनु—१।२३।।

अर्थ—परमात्मा ने यज्ञ की सिद्धि के लिए ऋक्, यजुः और साम, इन तीन लक्षण वाले सनातन वेदों को अग्नि, वायु और सूर्य के लिए प्रकट किया। यहाँ ब्रह्म शब्द से ऋच्, यजुस और सामन् लक्षणवाले चारों वेद अभिप्रेत हैं; न कि केवल आदि के तीन ही। 'त्रय' 'ब्रह्म' से तीन प्रकार के मंत्र अभिप्रेत हैं; न कि केवल तीन संहिताएँ।

(२) तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त ।
अग्नेः ऋग्वेदो, वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात् सामवेदः ।। शतपथ ११ अ० ५ ।।

अर्थ—अग्नि, वायु और सूर्य ने, तपस्या करके ऋक्, यजुः और सामवेदों को अर्थात् उक्त त्रिविध मंत्रों को उत्पन्न किया। यहाँ भी 'वेद' शब्द से 'मंत्र' का अभिप्राय लेकर अथर्ववेद को भी मूलवेदों में सम्मिलित करना चाहिए।

और जो लोग अथर्ववेद की मौलिकता पर यह आक्षेप करते हैं कि यदि वह अन्य वेदों के साथ ही प्रकट हुआ तो उसका नाम सब वेदों के अन्त में क्यों लिया जाता है उनके इस कथन में कुछ भी सार नहीं है; कारण कि व्याकरण के नियमानुसार इस वेद का नाम तो सब के अन्त में आवेगा ही। अष्टाध्यायी का सूत्र है, "अल्पाच्तरम्" (२।२।३४); अर्थात् जिन शब्दों में कम स्वर होते हैं वे पहले ही आते हैं और जिनमें सबसे अधिक स्वर रहते हैं वे सबके अन्त में आते हैं। इस नियम के अनुसार वेदों की नामावली में 'अथर्व' जिसमें सबसे अधिक स्वर हैं सबके बाद रखा गया है।

अथर्ववेद का मूलत्व-खंडन

अथर्ववेद की मौलिकता के पक्ष में आस्तिकों की ये दलीलें केवल अन्धविश्वास-जन्य हैं, कारण कि इसमें सार कुछ भी नहीं है। यदि अन्य वेदों की तरह अथर्ववेद भी कोई मूल वेद होता तो उसके अपने किसी विशेष प्रकार के मंत्र होते और उसका नाम-करण किसी ऋषि के नाम पर न होकर उसके अपने ही मंत्रों के आधार पर होता जैसा कि अन्य वेदों का नाम-करण किया गया है। पर इससे कोई यह न समझे कि अथर्ववेद का महत्त्व अन्य वेदों के महत्त्व से कुछ भी कम है या वह कोई एक अर्वाचीन वेद है। अथर्ववेद का स्पष्टतः उल्लेख प्राचीन से भी प्राचीन ग्रन्थों में पाया जाता है। जिससे इसकी प्राचीनता सिद्ध होती है।

(अ) यजुर्वेद की वाजसनेय-संहिता में 'अथर्वाणः' तथा तैत्तिरीय-संहिता में ऋक्, यजुः, साम के साथ चौथे नम्बर में 'आङ्गिरस' आया है जो अथर्ववेद का ही नाम है।

(आ) ऋग्वेद के शतपथ ब्राह्मण के ११वें और १४वें, तैत्तिरीय अरण्यक के २२ और ८वें अध्यायों में अथर्ववेद वेद के रूप में परिगणित हुआ है।

(१) अग्नि वायु रविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।
दुदोह यज्ञ-सिद्ध्यर्थमृग्यजुः सामलक्षणम् ।।मनु—१।२३।।

अर्थ—परमात्मा ने यज्ञ की सिद्धि के लिए ऋक्, यजुः और साम, इन तीन लक्षण वाले सनातन वेदों को अग्नि, वायु और सूर्य के लिए प्रकट किया। यहाँ ब्रह्म शब्द से ऋच्, यजुस और सामन् लक्षणवाले चारों वेद अभिप्रेत हैं; न कि केवल आदि के तीन ही। 'त्रय' 'ब्रह्म' से तीन प्रकार के मंत्र अभिप्रेत हैं; न कि केवल तीन संहिताएँ।

(२) तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त ।
अग्नेः ऋग्वेदो, वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात् सामवेदः ।। शतपथ ११ अ० ५ ।।

अर्थ—अग्नि, वायु और सूर्य ने, तपस्या करके ऋक्, यजुः और सामवेदों को अर्थात् उक्त त्रिविध मंत्रों को उत्पन्न किया। यहाँ भी 'वेद' शब्द से 'मंत्र' का अभिप्राय लेकर अथर्ववेद को भी मूलवेदों में सम्मिलित करना चाहिए।

और जो लोग अथर्ववेद की मौलिकता पर यह आक्षेप करते हैं कि यदि वह अन्य वेदों के साथ ही प्रकट हुआ तो उसका नाम सब वेदों के अन्त में क्यों लिया जाता है उनके इस कथन में कुछ भी सार नहीं है; कारण कि व्याकरण के नियमानुसार इस वेद का नाम तो सब के अन्त में आवेगा ही। अष्टाध्यायी का सूत्र है, "अल्पाच्तरम्" (२।२।३४); अर्थात् जिन शब्दों में कम स्वर होते हैं वे पहले ही आते हैं और जिनमें सबसे अधिक स्वर रहते हैं वे सबके अन्त में आते हैं। इस नियम के अनुसार वेदों की नामावली में 'अथर्व' जिसमें सबसे अधिक स्वर हैं सबके बाद रखा गया है।

अथर्ववेद का मूलत्व-खंडन

अथर्ववेद की मौलिकता के पक्ष में आस्तिकों की ये दलीलें केवल अन्धविश्वास-जन्य हैं, कारण कि इसमें सार कुछ भी नहीं है। यदि अन्य वेदों की तरह अथर्ववेद भी कोई मूल वेद होता तो उसके अपने किसी विशेष प्रकार के मंत्र होते और उसका नाम-करण किसी ऋषि के नाम पर न होकर उसके अपने ही मंत्रों के आधार पर होता जैसा कि अन्य वेदों का नाम-करण किया गया है। पर इससे कोई यह न समझे कि अथर्ववेद का महत्त्व अन्य वेदों के महत्त्व से कुछ भी कम है या वह कोई एक अर्वाचीन वेद है। अथर्ववेद का स्पष्टतः उल्लेख प्राचीन से भी प्राचीन ग्रन्थों में पाया जाता है। जिससे इसकी प्राचीनता सिद्ध होती है।

(अ) यजुर्वेद की वाजसनेय-संहिता में 'अथर्वाणः' तथा तैत्तिरीय-संहिता में ऋक्, यजुः, साम के साथ चौथे नम्बर में 'आङ्गिरस' आया है जो अथर्ववेद का ही नाम है।

(आ) ऋग्वेद के शतपथ ब्राह्मण के ११वें और १४वें, तैत्तिरीय अरण्यक के २रे और ८वें अध्यायों में अथर्ववेद वेद के रूप में परिगणित हुआ है।

(इ) ऋग्वेद के संख्यायन, आश्वलायन तथा समस्त श्रौत सूत्रों में अथर्ववेद की गणना वेदों में ही की गई है।

(ई) गृह्यसूत्रों ने एक स्वर से अथर्ववेद को ही प्रधान वेद माना है।

(उ) पतञ्जलिने अपने महाभाष्य में अथर्ववेद की गणना वेदों में करते हुए उसे कहीं-कहीं पर प्रधान और मूल वेद लिखा है।

पूर्व में कह आये हैं कि ऋच्, यजुस् और सामन् ये तीन प्रकार के वेद मंत्र हैं। आदि के तीन वेदों का नामकरण उक्त त्रिविध मंत्रों के बाहुल्य पर पड़ा है; जैसे—जिसमें ऋक् संज्ञक मंत्रों का बाहुल्य है उसका नाम ऋग्वेद, जिसमें यजु-संज्ञक मन्त्रों का बाहुल्य है उसका नाम यजुर्वेद और जिसमें सामसंज्ञक मंत्रों का बाहुल्य है उसका नाम सामवेद पड़ा है पर अथर्व के कोई अपने खास तरह के मंत्र नहीं हैं; बल्कि वह पूर्वोक्त त्रिविध मंत्रों का एक संकलन मात्र है; अतः उसका नाम किसी विशेष प्रकार के मंत्रों पर आधारित न होकर उसके संकलन-कर्त्ता अथर्वन् ऋषि के नाम पर पड़ा है। इसके अपर नाम अथर्वाङ्गिरस, भृग्वाङ्गिरस, छन्दस्, ब्रह्मवेद आदि है।

अथर्ववेद ब्रह्मवेद क्यों कहलाया ?

अथर्ववेद का नाम ब्रह्मवेद पड़ने का एक कारण है। वेदों का प्रधान व्यापार यज्ञ-सम्पादन है। सभी यज्ञों में होता, उद्गाता, अध्वर्यु और ब्रह्मा इन चार पुरोहितों की आवश्यकता पड़ती है। होता वह है जो मंत्र बोलता है। उद्गाता वह है जो स्वर से गाता है अध्वर्यु वह है जो यज्ञ का व्यापार स्वयं करता है और ब्रह्मा वह है जो प्रधान पुरोहित के रूप में समस्त यज्ञ-कार्य का संचालन एवं निरीक्षण करता है। इनमें से यदि एक भी न रहे तो यज्ञ का कार्य सर्वथा असंभव है। इसलिए इन चार पृथक् पुरोहितों के निमित्त वेद मंत्रों को अलग-अलग चार संहिताओं के रूप में बाँट दिया गया। होता को खास कर ऋचाएँ, उद्गाता को सामगान, अध्वर्यु को यजुमंत्र तथा ब्रह्मा को साधारणतः सभी प्रकार के मंत्र या ब्रह्म एवं निरीक्षकता के उपयुक्त समस्त विधि-विधान जानना चाहिए। अतएव एक स्थान में विशेष ऋचाएँ, दूसरे में विशेष कर सामगान, तीसरे में यजुर्मंत्र और चौथे में समस्त ऐहिकामुष्मिक फल वाले ब्रह्म मंत्र एकत्र कर दिए गए जिससे तत्तन्मंत्रों की प्रधानता तथा बहुलता के कारण उन्हें क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और ब्रह्मवेद (अथर्ववेद) नाम प्राप्त हुए। कहते हैं कि वेदमंत्रों को इस प्रकार चार जगह बाँट देने वाले कृष्ण द्वैपायन व्यास जी थे। पर चारों वेद तो पहले से ही विद्यमान थे; अन्यथा उनसे भी पूर्वकाल में यज्ञ-कार्य समस्त विधि-विधानों के साथ किस प्रकार सम्पन्न होता था? मालूम होता है कि व्यास जी ने खूब छान-बीन करके भूले-भटके वेद मंत्रों का पता लगाते तथा उन्हें

(इ) ऋग्वेद के संख्यायन, आश्वलायन तथा समस्त श्रौत सूत्रों में अथर्ववेद की गणना वेदों में ही की गई है।

(ई) गृह्यसूत्रों ने एक स्वर से अथर्ववेद को ही प्रधान वेद माना है।

(उ) पतञ्जलिने अपने महाभाष्य में अथर्ववेद की गणना वेदों में करते हुए उसे कहीं-कहीं पर प्रधान और मूल वेद लिखा है।

पूर्व में कह आये हैं कि ऋच्, यजुस् और सामन् ये तीन प्रकार के वेद मंत्र हैं। आदि के तीन वेदों का नामकरण उक्त त्रिविध मंत्रों के बाहुल्य पर पड़ा है; जैसे—जिसमें ऋक् संज्ञक मंत्रों का बाहुल्य है उसका नाम ऋग्वेद, जिसमें यजु-संज्ञक मन्त्रों का बाहुल्य है उसका नाम यजुर्वेद और जिसमें सामसंज्ञक मंत्रों का बाहुल्य है उसका नाम सामवेद पड़ा है पर अथर्व के कोई अपने खास तरह के मंत्र नहीं हैं; बल्कि वह पूर्वोक्त त्रिविध मंत्रों का एक संकलन मात्र है; अतः उसका नाम किसी विशेष प्रकार के मंत्रों पर आधारित न होकर उसके संकलन-कर्त्ता अथर्वन् ऋषि के नाम पर पड़ा है। इसके अपर नाम अथर्वाङ्गिरस, भृग्वाङ्गिरस, छन्दस्, ब्रह्मवेद आदि है।

अथर्ववेद ब्रह्मवेद क्यों कहलाया ?

अथर्ववेद का नाम ब्रह्मवेद पड़ने का एक कारण है। वेदों का प्रधान व्यापार यज्ञ-सम्पादन है। सभी यज्ञों में होता, उद्गाता, अध्वर्यु और ब्रह्मा इन चार पुरोहितों की आवश्यकता पड़ती है। होता वह है जो मंत्र बोलता है। उद्गाता वह है जो स्वर से गाता है अध्वर्यु वह है जो यज्ञ का व्यापार स्वयं करता है और ब्रह्मा वह है जो प्रधान पुरोहित के रूप में समस्त यज्ञ-कार्य का संचालन एवं निरीक्षण करता है। इनमें से यदि एक भी न रहे तो यज्ञ का कार्य सर्वथा असंभव है। इसलिए इन चार पृथक् पुरोहितों के निमित्त वेद मंत्रों को अलग-अलग चार संहिताओं के रूप में बाँट दिया गया। होता को खास कर ऋचाएँ, उद्गाता को सामगान, अध्वर्यु को यजुमंत्र तथा ब्रह्मा को साधारणतः सभी प्रकार के मंत्र या ब्रह्म एवं निरीक्षकता के उपयुक्त समस्त विधि-विधान जानना चाहिए। अतएव एक स्थान में विशेष ऋचाएँ, दूसरे में विशेष कर सामगान, तीसरे में यजुर्मंत्र और चौथे में समस्त ऐहिकामुष्मिक फल वाले ब्रह्म मंत्र एकत्र कर दिए गए जिससे तत्तन्मंत्रों की प्रधानता तथा बहुलता के कारण उन्हें क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और ब्रह्मवेद (अथर्ववेद) नाम प्राप्त हुए। कहते हैं कि वेदमंत्रों को इस प्रकार चार जगह बाँट देने वाले कृष्ण द्वैपायन व्यास जी थे। पर चारों वेद तो पहले से ही विद्यमान थे; अन्यथा उनसे भी पूर्वकाल में यज्ञ-कार्य समस्त विधि-विधानों के साथ किस प्रकार सम्पन्न होता था? मालूम होता है कि व्यास जी ने खूब छान-बीन करके भूले-भटके वेद मंत्रों का पता लगाते तथा उन्हें

यथास्थान रखते हुए चारों वेदों का एक सर्वांग-परिपूर्ण संस्करण तैयार किया जिस रूप में हम उन्हें आज देख रहे हैं।

अथर्ववेद की सर्वश्रेष्ठता

एक प्रकार से देखा जाय तो अथर्ववेद ही सर्वश्रेष्ठ वेद प्रतीत होता है। ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद यज्ञों के द्वारा केवल स्वर्ग के देने वाले हैं; किंतु अथर्ववेद में तीनों, अर्थात् ऐहिक, पारत्रिक तथा मौक्षिक, इन सभी प्रकार की कल्याण-प्राप्ति के उपाय बनाए गए हैं; यथा, मंत्र, औषधि और तरह-तरह के टोटकों एवं यंत्रों के प्रयोग से इस लोक में सर्वविध दुःख-दारिद्रय, विघ्न-बाधा, रोग-शोक का निवारण करके ऐहिक कल्याण की प्राप्ति, यज्ञों के द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति तथा ब्रह्मविद्या के बल से मोक्ष की प्राप्ति होती है। पर अथर्ववेद का इतना महत्त्व होते हुए भी वह कोई मूल वेद प्रतीत नहीं होता; कारण कि, जैसा हम पहले कह आए हैं, यदि अथर्ववेद कोई मूलवेद होता तो उसके अपने किसी विशेष प्रकार के मंत्र होते, उसका नामकरण, अन्य तीनों वेदों की तरह, उन मंत्रों के ही आधार पर न कि उसके संकलन-कर्त्ता ऋषि के नामानुसार होता और वेदों को 'त्रयी' न कह कर 'चतुष्टयी' कहते।

वेदों की उत्पत्ति

अब वेदों की उत्पत्ति पर हिन्दुओं की धार्मिक (न कि ऐतिहासिक) दृष्टि से विचार किया जाता है। निम्नलिखित उद्धरणों को पढ़िए—

(१) यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं, यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै। तँ ह देवमात्मा बुद्धि-प्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥ श्वेताश्वतर ६।१८॥

अर्थ—जो ब्रह्मा को सर्वप्रथम उत्पन्न कर उन्हें वेदों का ज्ञान देता है, और जो आत्मा में बुद्धि का प्रकाश देता है उस देवता की शरण, मोक्ष प्राप्ति की इच्छा रखने वाला मैं लेता हूँ।

(२) तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि यज्ञिरे। छन्दाँसि यज्ञिरे तस्माद् यजुस्त-स्मादजायत ॥ यजुः अ० ३१। मं० ७॥

अर्थ—उस सर्वपूज्य परमात्मा से ऋक्, यजुः, साम और अथर्ववेद उत्पन्न हुए। यहाँ 'छन्दांसि' शब्द का अर्थ अथर्ववेद है।

(३) यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्। सामानियस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसोमुखम्। स्कम्भंतं ब्रूहि कतमः स्विदेवसः ॥ अथर्व० का० १० प्रपा० २३। अनु० ४। मं २०॥

अर्थ—हे विद्वन्! तू उस जगदाधार परमात्मा का वर्णन कर जिससे ऋषियों ने ऋक् और यजुः को प्राप्त किया; जिसके लोमसदृश सर्वव्यापक साम और मुख सदृश ज्ञानोपदेशक अथर्व हैं। वह कौन-सा तत्त्व है, इसे हमें बतला।

यथास्थान रखते हुए चारों वेदों का एक सर्वांग-परिपूर्ण संस्करण तैयार किया जिस रूप में हम उन्हें आज देख रहे हैं।

अथर्ववेद की सर्वश्रेष्ठता

एक प्रकार से देखा जाय तो अथर्ववेद ही सर्वश्रेष्ठ वेद प्रतीत होता है। ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद यज्ञों के द्वारा केवल स्वर्ग के देने वाले हैं; किंतु अथर्ववेद में तीनों, अर्थात् ऐहिक, पारत्रिक तथा मौक्षिक, इन सभी प्रकार की कल्याण-प्राप्ति के उपाय बताए गए हैं; यथा, मंत्र, औषधि और तरह-तरह के टोटकों एवं यंत्रों के प्रयोग से इस लोक में सर्वविध दुःख-दारिद्रय, विघ्न-बाधा, रोग-शोक का निवारण करके ऐहिक कल्याण की प्राप्ति, यज्ञों के द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति तथा ब्रह्मविद्या के बल से मोक्ष की प्राप्ति होती है। पर अथर्ववेद का इतना महत्त्व होते हुए भी वह कोई मूल वेद प्रतीत नहीं होता; कारण कि, जैसा हम पहले कह आए हैं, यदि अथर्ववेद कोई मूलवेद होता तो उसके अपने किसी विशेष प्रकार के मंत्र होते, उसका नामकरण, अन्य तीनों वेदों की तरह, उन मंत्रों के ही आधार पर न कि उसके संकलन-कर्त्ता ऋषि के नामानुसार होता और वेदों को 'त्रयी' न कह कर 'चतुष्टयी' कहते।

वेदों की उत्पत्ति

अब वेदों की उत्पत्ति पर हिन्दुओं की धार्मिक (न कि ऐतिहासिक) दृष्टि से विचार किया जाता है। निम्नलिखित उद्धरणों को पढ़िए—

(१) यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं, यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै। तँ ह देवमात्मा बुद्धि-प्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥ श्वेताश्वतर ६।१८॥

अर्थ—जो ब्रह्मा को सर्वप्रथम उत्पन्न कर उन्हें वेदों का ज्ञान देता है, और जो आत्मा में बुद्धि का प्रकाश देता है उस देवता की शरण, मोक्ष प्राप्ति की इच्छा रखने वाला मैं लेता हूँ।

(२) तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि यज्ञिरे। छन्दाँसि यज्ञिरे तस्माद् यजुस्त-स्मादजायत ॥ यजुः अ० ३१। मं० ७॥

अर्थ—उस सर्वपूज्य परमात्मा से ऋक्, यजुः, साम और अथर्ववेद उत्पन्न हुए। यहाँ 'छन्दांसि' शब्द का अर्थ अथर्ववेद है।

(३) यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्। सामानियस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसोमुखम्। स्कम्भंतं ब्रूहि कतमः स्विदेवसः ॥ अथर्व० का० १० प्रपा० २३। अनु० ४। मं २०॥

अर्थ—हे विद्वन्! तू उस जगदाधार परमात्मा का वर्णन कर जिससे ऋषियों ने ऋक् और यजुः को प्राप्त किया; जिसके लोमसदृश सर्वव्यापक साम और मुख सदृश ज्ञानोपदेशक अथर्व हैं। वह कौन-सा तत्त्व है, इसे हमें बतला।

(४) अग्निवायु रविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञ सिद्ध्यर्थमृग्यजुः सामलक्षणम् ।। मनु० १।२३।।

अर्थ—परमात्मा ने यज्ञ की सिद्धि के लिए ऋक्, यजुः और साम इन तीन लक्षण वाले सनातन वेदों को अग्नि, वायु और सूर्य के लिए प्रकट किया।

(५) तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त। अग्नेः ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात् सामवेदः ।।शतपथ ११ अ० ५।।

अर्थ—अग्नि, वायु और सूर्य ने तपस्या करके ऋक्, यजुः और साम, इन तीन वेदों (त्रिविधवेद मंत्रों) को उत्पन्न किया।

(६) निरुक्त कहता है—'साक्षात्कृत धर्म्माण ऋषयोवभूवुः। ते अवरेभ्योऽसाक्षात्कृत धर्मेभ्य उपदेशेन मंत्रान् सम्प्रादुः' ।।निरुक्त अ० १।६।४।।

अर्थ—ऐसे ऋषि हुए जिन्होंने तपस्या के द्वारा वेद रूपी धर्म्म का साक्षात्कार किया। पुनः उन्हीं ऋषियों ने अपने बाद के ऋषियों को, जिनसे उक्त धर्म का साक्षात्कार नहीं हुआ अर्थात् जो स्वयं धर्म्म के साक्षात्कर्त्ता न थे, वेद मंत्रों का उपदेश किया।

वेदोत्पत्ति विषयक असंगति

वेदोत्पत्ति-विषयक विविध उक्त विवरणों पर दृष्टिपात करने से वे परस्पर असंगत जान पड़ते हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् कहता है कि परमात्मा ने सर्वप्रथम ब्रह्मा को रच कर उन्हें ही वेदों का ज्ञान दिया। मनुस्मृति तथा शतपथ ब्राह्मण कहते हैं कि परमात्मा ने ऋक् का ज्ञान अग्नि को, यजुः का ज्ञान वायु को तथा साम का ज्ञान वायु को दिया है। अतः स्पष्ट नहीं होता कि वेदों के वास्तविक द्रष्टा केवल एक ब्रह्मा थे, वा अग्नि आदि तीन थे, वा, जैसा कि निरुक्त कहता है, वैदिक धर्म में साक्षात्कर्त्ता अनेक ऋषि थे। कोई-कोई वेदोत्पत्ति-विषयक उक्त परस्पर-विरोधी मतों की संगति इस प्रकार लगाते हैं कि सर्वप्रथम वेदों का दर्शन केवल ब्रह्मा को हुआ। तत्पश्चात् उन्होंने ही अपने अग्नि आदि तीन शिष्यों को क्रमशः ऋक् आदि का ज्ञान दिया और इन तीनों ने वेदों का उपदेश अन्य सभी ऋषियों को दिया। यदि ऐसी बात है तो केवल एक ब्रह्मा ही मंत्र-द्रष्टा ऋषि थे। उन्हें ही वेदों का ज्ञान सीधे परमात्मा से हुआ; अन्यों को नहीं, जिस दशा में 'ऋषियो मंत्रद्रष्टारः' जैसी अनेक मंत्र-द्रष्टा ऋषियों के होने की बात खंडित हो जाती है और चतुर्थ वेद (अथर्ववेद) के, ब्रह्मा से अथर्वन् ऋषि द्वारा प्राप्त होने का प्रमाण नहीं मिलने से, वह उन्हीं का एक संकलन मात्र सिद्ध हो जाता है और मूल तीन ही वेद रह जाते हैं। पर ये सब अड़चनें किसी-किसी बात पर आँखें मूँद कर विश्वास कर लेने से ही, अर्थात् अन्धविश्वास के कारण ही, आकर उपस्थित हो जाती हैं जो तर्क की कसौटी पर टिक नहीं सकतीं। हम आगे चलकर दिखलावेंगे कि वेद मंत्र किसी ईश्वर के रचे न होकर अनेक ऋषियों के द्वारा अपनी

(४) अग्निवायु रविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञ सिद्ध्यर्थमृग्यजुः सामलक्षणम् ।। मनु० १।२३।।

अर्थ—परमात्मा ने यज्ञ की सिद्धि के लिए ऋक्, यजुः और साम इन तीन लक्षण वाले सनातन वेदों को अग्नि, वायु और सूर्य के लिए प्रकट किया।

(५) तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त। अग्नेः ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात् सामवेदः ।।शतपथ ११ अ० ५।।

अर्थ—अग्नि, वायु और सूर्य ने तपस्या करके ऋक्, यजुः और साम, इन तीन वेदों (त्रिविधवेद मंत्रों) को उत्पन्न किया।

(६) निरुक्त कहता है—'साक्षात्कृत धर्म्माण ऋषयोवभूवुः। ते अवरेभ्योऽसाक्षात्कृत धर्मभ्य उपदेशेन मंत्रान् सम्प्रादुः' ।।निरुक्त अ० १।६।४।।

अर्थ—ऐसे ऋषि हुए जिन्होंने तपस्या के द्वारा वेद रूपी धर्म्म का साक्षात्कार किया। पुनः उन्हीं ऋषियों ने अपने बाद के ऋषियों को, जिनसे उक्त धर्म का साक्षात्कार नहीं हुआ अर्थात् जो स्वयं धर्म्म के साक्षात्कर्त्ता न थे, वेद मंत्रों का उपदेश किया।

वेदोत्पत्ति विषयक असंगति

वेदोत्पत्ति-विषयक विविध उक्त विवरणों पर दृष्टिपात करने से वे परस्पर असंगत जान पड़ते हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् कहता है कि परमात्मा ने सर्वप्रथम ब्रह्मा को रच कर उन्हें ही वेदों का ज्ञान दिया। मनुस्मृति तथा शतपथ ब्राह्मण कहते हैं कि परमात्मा ने ऋक् का ज्ञान अग्नि को, यजुः का ज्ञान वायु को तथा साम का ज्ञान वायु को दिया है। अतः स्पष्ट नहीं होता कि वेदों के वास्तविक द्रष्टा केवल एक ब्रह्मा थे, वा अग्नि आदि तीन थे, वा, जैसा कि निरुक्त कहता है, वैदिक धर्म में साक्षात्कर्त्ता अनेक ऋषि थे। कोई-कोई वेदोत्पत्ति-विषयक उक्त परस्पर-विरोधी मतों की संगति इस प्रकार लगाते हैं कि सर्वप्रथम वेदों का दर्शन केवल ब्रह्मा को हुआ। तत्पश्चात् उन्होंने ही अपने अग्नि आदि तीन शिष्यों को क्रमशः ऋक् आदि का ज्ञान दिया और इन तीनों ने वेदों का उपदेश अन्य सभी ऋषियों को दिया। यदि ऐसी बात है तो केवल एक ब्रह्मा ही मंत्र-द्रष्टा ऋषि थे। उन्हें ही वेदों का ज्ञान सीधे परमात्मा से हुआ; अन्यों को नहीं, जिस दशा में 'ऋषियो मंत्रद्रष्टारः' जैसी अनेक मंत्र-द्रष्टा ऋषियों के होने की बात खंडित हो जाती है और चतुर्थ वेद (अथर्ववेद) के, ब्रह्मा से अथर्वन् ऋषि द्वारा प्राप्त होने का प्रमाण नहीं मिलने से, वह उन्हीं का एक संकलन मात्र सिद्ध हो जाता है और मूल तीन ही वेद रह जाते हैं। पर ये सब अड़चनें किसी-किसी बात पर आँखें मूँद कर विश्वास कर लेने से ही, अर्थात् अन्धविश्वास के कारण ही, आकर उपस्थित हो जाती हैं जो तर्क की कसौटी पर टिक नहीं सकतीं। हम आगे चलकर दिखलावेंगे कि वेद मंत्र किसी ईश्वर के रचे न होकर अनेक ऋषियों के द्वारा अपनी

मातृ-भाषा में, जिसे हम वैदिक संस्कृत कहते हैं, रचे गए हैं तथा उन सबों की रचना सृष्टि के आदि में वा किसी एक काल में न होकर सहस्रों वर्ष में भिन्न-भिन्न काल में हुई है। यों तो ऐतिहासिक तथ्य पर पर्दा डाल अन्धविश्वास को प्रश्रय देने वालों के लिए कोई जवाब ही नहीं है।

वेदों के ऋषि-कृत होने के प्रमाण

वेद मंत्र किसी ईश्वर के रचे न होकर ऋषियों की ही निजी रचनाएँ हैं, इसके कतिपय प्रमाण स्वयं वैदिक एवं लौकिक संस्कृत साहित्य में भरे पड़े हैं। निम्नलिखित उद्धरणों पर दृष्टिपात कीजिए—

(१) ऋषे मंत्र कृतां स्तोमैः कश्यपोद्वर्धयन् गिरः। सोमं नमस्य राजानं यो यज्ञे वीरुधांपतिरिन्द्रायेन्दो परिस्रव ॥ऋक् ६।२१४।३०॥

(२) शिशुर्वा अङ्गिरसां मंत्रकृतां मंत्रकृदासीत्। सपितृन् पुत्रका इत्यामंत्रयत् ॥ तां० ब्रा० १३।३।२४॥

(३) नम ऋषिभ्यो मंत्रकृद्भ्यः मंत्रपतिभ्यो मा माभृऋषयो मंत्रकृतो मंत्रपतयः परादुः माऽहम् ऋषीन् मंत्रकृतो मंत्रपतीन् परादाम् ॥तै० आ०४ १। १॥

(४) इतऊर्ध्वान्मंत्रकृतोऽध्वर्युर्वृणीते। यथर्षि मंत्रकृतोवृणीत इतिविज्ञायते ॥ सत्या० श्रौ० २।१।३॥

(५) तान्होवाच काद्रवेयः सर्पं ऋषि मंत्रकृत्। ॥ऐ० ब्रा० ६।१॥

(६) अथ येषा मुह मंत्रकृतोनस्युः स पुरोहित प्रवरास्ते प्रवृणीरन् ॥आप० श्रौ० २४।१०।१३॥

(७) मंत्रकृतोवृणीते। यथर्षि मंत्रकृतोवृणीत इति ज्ञायते ॥आप० श्रौ० २४।५।६॥

(८) दक्षिणत उदङ्मुखो मंत्रकारः ॥ मा० गृ० सू० १।८।२॥

(९) दक्षिणतस्तिष्ठन् मंत्रवान् ब्राह्मण आचार्यैकाञ्जलिंपूरयेत् ॥खा० गृ० सू० २।४।१०॥

(१०) सुकर्म पाप मंत्र पुण्येषु कृञः ॥ पाणिनि अ० ३।२।८९॥ जैसे—कर्मकृत, पापकृत्, मंत्रकृत्, पुण्यकृत् इत्यादि।

(११) नव मंत्र कृतो मंत्रैर्दूरात् प्रशमितारिभिः। प्रत्यादिश्यन्त इव मे दृष्ट लक्ष्यभिदः शराः ॥ रघुवंश १-६१ ॥

(१२) अप्यग्रणीमंत्र कृतामृषीणां कुशाग्रबुद्धे कुशली गुरुस्ते। यतस्त्वयाज्ञानमशेष माप्तं लोकेन चैतन्य मिवोष्ण रश्मेः ॥ रघुवंश ५।४॥

इन बारहों उद्धरणों में मंत्रकृत्, वा मंत्रकृतः, मंत्रकृताम्, मंत्रकारः आदि इसके विविध रूपान्तर आए हैं जिससे सिद्ध होता है कि वेदमंत्र ऋषियों की ही रचनाएँ हैं, न कि किस

मातृ-भाषा में, जिसे हम वैदिक संस्कृत कहते हैं, रचे गए हैं तथा उन सबों की रचना सृष्टि के आदि में वा किसी एक काल में न होकर सहस्रों वर्ष में भिन्न-भिन्न काल में हुई है। यों तो ऐतिहासिक तथ्य पर पर्दा डाल अन्धविश्वास को प्रश्रय देने वालों के लिए कोई जवाब ही नहीं है।

वेदों के ऋषि-कृत होने के प्रमाण

वेद मंत्र किसी ईश्वर के रचे न होकर ऋषियों की ही निजी रचनाएँ हैं, इसके कतिपय प्रमाण स्वयं वैदिक एवं लौकिक संस्कृत साहित्य में भरे पड़े हैं। निम्नलिखित उद्धरणों पर दृष्टिपात कीजिए—

(१) ऋषे मंत्र कृतां स्तोमैः कश्यपोद्वर्धयन् गिरः। सोमं नमस्य राजानं यो यज्ञे वीरुधांपतिरिन्द्रायेन्दो परिश्रव ॥ऋक् ६।२१४।३०॥

(२) शिशुर्वा अङ्गिरसां मंत्रकृतां मंत्रकृदासीत्। सपितॄन् पुत्रका इत्यामंत्रयत् ॥ तां० ब्रा० १३।३।२४॥

(३) नम ऋषिभ्यो मंत्रकृद्भ्यः मंत्रपतिभ्यो मा माभ्रऋषयो मंत्रकृतो मंत्रपतयः परादुः माऽहम् ऋषीन् मंत्रकृतो मंत्रपतीन् परादाम् ।।तै० आ०४ १। १॥

(४) इतऊर्ध्वान्मंत्रकृतोऽध्वर्युर्वृणीते। यथर्षि मंत्रकृतोवृणीत इतिविज्ञायते ॥ सत्या० श्रौ० २ ।१।३॥

(५) तान्होवाच काद्रवेयः सर्प ऋषि मंत्रकृत्। ।।ऐ० ब्रा० ६।१॥

(६) अथ येषा मुह मंत्रकृतोनस्युः स पुरोहित प्रवरास्ते प्रवृणीरन् ।।आप० श्रौ० २४।१०।१३॥

(७) मंत्रकृतोवृणीते। यथर्षि मंत्रकृतोवृणीत इति ज्ञायते ।।आप० श्रौ० २४।५।६॥

(८) दक्षिणत उदङ्मुखो मंत्रकारः ॥ मा० गृ० सू० १।८।२॥

(९) दक्षिणतस्तिष्ठन् मंत्रवान् ब्राह्मण आचार्यैकाञ्जलिंपूरयेत् ।।खा० गृ० सू० २।४।१०॥

(१०) सुकर्म पाप मंत्र पुण्येषु कृञः ॥ पाणिनि अ० ३।२।८९॥ जैसे—कर्मकृत, पापकृत्, मंत्रकृत्, पुण्यकृत् इत्यादि।

(११) नव मंत्र कृतो मंत्रैर्दूरात् प्रशमितारिभिः। प्रत्यादिश्यन्त इव मे दृष्ट लक्ष्यभिदः शराः ॥ रघुवंश १-६१ ॥

(१२) अप्यग्रणीमंत्र कृतामृषीणां कुशाग्रबुद्धे कुशली गुरुस्ते। यतस्त्वयाज्ञानमशेष माप्तं लोकेन चैतन्य मिवोष्ण रश्मेः ॥ रघुवंश ५।४॥

इन बारहों उद्धरणों में मंत्रकृत्, वा मंत्रकृतः, मंत्रकृताम्, मंत्रकारः आदि इसके विविध रूपान्तर आए हैं जिससे सिद्ध होता है कि वेदमंत्र ऋषियों की ही रचनाएँ हैं, न कि किसी

ईश्वर की। प्रत्येक वेदमंत्र के साथ उस ऋषि का नाम दिया गया है जो उसका रचयिता है, उस देवता का नाम दिया गया है जिसकी स्तुत्यादि में उस मंत्र की रचना हुई है तथा उस छन्द का नाम (यदि वह पद्यात्मक हो तो) दिया गया है जिस में उसकी रचना हुई है। उदाहरण के लिए ऋग्वेद का पहला मंत्र लीजिए—

'अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्'। इस मंत्र के रचयिता वैश्वामित्र (महर्षि विश्वामित्र के वंशधर) मधुच्छन्दा ऋषि, देवता अग्नि और छन्द गायत्री हैं। ऐसा ही सर्वत्र जानना चाहिए। ऋष्यादि के नाम मंत्र के पहले ही दे दिए जाते हैं।

वेदों की तथाकथित अपौरुषेयता

पर हिन्दू जाति वेदों को अपौरुषेय अर्थात् किसी पुरुष वा मनुष्य के नहीं रचे हुए मानती है; अतः वेदभाष्यकार स्वयं सायण को यह बात खटकी कि जब वेद अपौरुषेय हैं, तो वैदिक तथा लौकिक संस्कृत साहित्य में ऋषियों के सम्बन्ध में आए हुए मंत्रकृत् आदि शब्दों का क्या अर्थ है? वे लिखते हैं—

'यद्यप्यपौरुषेये वेदे कर्त्तारो न सन्ति तथापि कल्पादावीश्वरानुग्रहेण मंत्राणां लब्धारो मंत्रकृदित्युच्यन्ते' ॥ तै० अ० सा० भा० ४ । १ । १ ॥ अर्थ—यद्यपि अपौरुषेय वेदों का कोई कर्त्ता नहीं है, तथापि सृष्टि के प्रारंभ में ईश्वर की कृपा से मंत्रों के पाने वाले ऋषियों को ही मंत्रकृत् कहा गया है। तात्पर्य यह कि 'मंत्रकृत्' शब्द का अर्थ 'मंत्र लब्धा' हठात् करके ही सायण ने अपने चित्त को सान्त्वना दी है। पुनः 'तान्होवाच काद्रवेयः' इत्यादि ऐतरेय ब्राह्मण के पूर्वोक्त उदाहरण (६ । १) का भाष्य करते हुए वे लिखते हैं—

'ऋषिरतीन्द्रियार्थ द्रष्टा मंत्रकृत्। करोति धातुस्तत्र दर्शनार्थः'। अर्थ—अतीन्द्रिय अर्थ को देखने वाले ऋषिको 'मंत्रकृत्' कहते हैं। वहाँ 'करोति' धातु का अर्थ देखना है। 'मंत्रकृत्' का अर्थ कहीं पर मंत्र लब्धा करना; पुनः कहीं पर मंत्रद्रष्टा करना केवल सायण का हठ है। इसी प्रकार कितने लोग 'मंत्रकृत्' शब्द का अर्थ मंत्र को प्रकट करने वाला, उनमें क्रम, घन, जटा आदि विकारों को उत्पन्न करने वाला और उसके अनुसार पठन-पाठन तथा यज्ञादि अनुष्ठान करने वाला करते हैं। पर ये सभी अर्थ केवल कपोल-कल्पित हैं। इन का समर्थन वस्तुस्थिति नहीं करती। वेद पौरुषेय हैं, इस सादे सत्य को छिपाने के लिए नाना प्रकार की बहानाबाजियाँ करना विद्वानों के लिए सर्वथा अनुचित है। इस पर एक प्रतिवादी जो वेदों को अपौरुषेय मानता है आक्षेप करता है—

प्रतिवादी—कितने मंत्र ऐसे हैं जिनके द्रष्टा एक से अधिक ऋषि हैं; जैसे—'एव त्वामिन्द्र वज्रिन्, इत्यादि। इस ऋग्वेदीय मंत्र (४ । १९ । १) के प्रथम द्रष्टा विश्वामित्र थे; तत्पश्चात् वामदेव हुए। इस मंत्र के विषय में गोपथ ब्राह्मण (६ । १) कहता है—'तान्

ईश्वर की। प्रत्येक वेदमंत्र के साथ उस ऋषि का नाम दिया गया है जो उसका रचयिता है, उस देवता का नाम दिया गया है जिसकी स्तुत्यादि में उस मंत्र की रचना हुई है तथा उस छन्द का नाम (यदि वह पद्यात्मक हो तो) दिया गया है जिस में उसकी रचना हुई है। उदाहरण के लिए ऋग्वेद का पहला मंत्र लीजिए—

'अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्'। इस मंत्र के रचयिता वैश्वामित्र (महर्षि विश्वामित्र के वंशधर) मधुच्छन्दा ऋषि, देवता अग्नि और छन्द गायत्री हैं। ऐसा ही सर्वत्र जानना चाहिए। ऋष्यादि के नाम मंत्र के पहले ही दे दिए जाते हैं।

वेदों की तथाकथित अपौरुषेयता

पर हिन्दू जाति वेदों को अपौरुषेय अर्थात् किसी पुरुष वा मनुष्य के नहीं रचे हुए मानती है; अतः वेदभाष्यकार स्वयं सायण को यह बात खटकी कि जब वेद अपौरुषेय हैं, तो वैदिक तथा लौकिक संस्कृत साहित्य में ऋषियों के सम्बन्ध में आए हुए मंत्रकृत् आदि शब्दों का क्या अर्थ है? वे लिखते हैं—

'यद्यप्यपौरुषेये वेदे कर्त्तारो न सन्ति तथापि कल्पादवीश्वरानुग्रहेण मंत्राणां लब्धारो मंत्रकृदित्युच्यन्ते' ॥ तै० अ० सा० भा० ४। १। १॥ अर्थ—यद्यपि अपौरुषेय वेदों का कोई कर्त्ता नहीं है, तथापि सृष्टि के प्रारंभ में ईश्वर की कृपा से मंत्रों के पाने वाले ऋषियों को ही मंत्रकृत् कहा गया है। तात्पर्य यह कि 'मंत्रकृत्' शब्द का अर्थ 'मंत्र लब्धा' हठात् करके ही सायण ने अपने चित्त को सान्त्वना दी है। पुनः 'तान्होवाच काद्रवेयः' इत्यादि ऐतरेय ब्राह्मण के पूर्वोक्त उदाहरण (६। १) का भाष्य करते हुए वे लिखते हैं—

'ऋषिरतीन्द्रियार्थं द्रष्टा मंत्रकृत्। करोति धातुस्तत्र दर्शनार्थः'। अर्थ—अतीन्द्रिय अर्थ को देखने वाले ऋषिको 'मंत्रकृत्' कहते हैं। वहाँ 'करोति' धातु का अर्थ देखना है। 'मंत्रकृत्' का अर्थ कहीं पर मंत्र लब्धा करना; पुनः कहीं पर मंत्रद्रष्टा करना केवल सायण का हठ है। इसी प्रकार कितने लोग 'मंत्रकृत्' शब्द का अर्थ मंत्र को प्रकट करने वाला, उनमें क्रम, घन, जटा आदि विकारों को उत्पन्न करने वाला और उसके अनुसार पठन-पाठन तथा यज्ञादि अनुष्ठान करने वाला करते हैं। पर ये सभी अर्थ केवल कपोल-कल्पित हैं। इन का समर्थन वस्तुस्थिति नहीं करती। वेद पौरुषेय हैं, इस सादे सत्य को छिपाने के लिए नाना प्रकार की बहानाबाजियाँ करना विद्वानों के लिए सर्वथा अनुचित है। इस पर एक प्रतिवादी जो वेदों को अपौरुषेय मानता है आक्षेप करता है—

प्रतिवादी—कितने मंत्र ऐसे हैं जिनके द्रष्टा एक से अधिक ऋषि हैं; जैसे—'एव त्वामिन्द्र वज्रिन्, इत्यादि। इस ऋग्वेदीय मंत्र (४। १९। १) के प्रथम द्रष्टा विश्वामित्र थे; तत्पश्चात् वामदेव हुए। इस मंत्र के विषय में गोपथ ब्राह्मण (६। १) कहता है—'तान्

वा एतान् सम्पातान् विश्वामित्रः प्रथममपश्यत्······तान् विश्वामित्रेण दृष्टान् वामदेवो असृजत् ।' दो ऋषि एक ही सूक्त के मंत्रों के कर्त्ता नहीं हो सकते। पर उन्हें उन मंत्रों के द्रष्टा मानने में कोई अड़चन नहीं हो सकती। परमात्मा ने स्वेच्छा से जिन-जिन ऋषियों को योग्य समझा उन्हें ही किसी-किसी सूक्त के निःशेष मंत्रों का दर्शन करा दिया। वेदों में ऐसे बहुत-से सूक्त हैं जिनके दो-दो, तीन-तीन वा इनसे भी अधिक द्रष्टा ऋषि हैं। उदाहरणतः ऋग्वेद के (१। १००) के पाँच तथा (६। ६६) के सौ ऋषि हैं। यदि वेद अपौरुषेय नहीं होते तो ऐसी हालत कदापि नहीं होती।

वेदों की अपौरुषेयता-विषयक तर्कों का खंडन

सिद्धान्ती—हम पहले कह चुके हैं—और फिर भी कहते हैं कि यदि परमात्मा ने पहले-पहल वेदमंत्रों का दर्शन किसी को कराया भी होगा तो ब्रह्मा को ही कराया होगा; यद्यपि आगे चल कर हम दिखलावेंगे कि ऐसा मानना भी केवल अन्धविश्वास है; पर ऐसा मानना भी प्रतिवादी के पक्ष को कुछ भी पुष्ट नहीं करता, कारण कि यदि निःशेष वेदों के द्रष्टा केवल ब्रह्मा ही हुए तो अन्य ऋषियों के मंत्र-द्रष्टा होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस दशा में अन्य ऋषिगण वेद मंत्रों के केवल प्रचारक, विनियोजक आदि सिद्ध होते हैं। पर यह भी बात नहीं है। ऋषिगण स्वयं ही वेद मंत्रों के कर्त्ता, प्रचारक आदि सब कुछ थे। उन मंत्रों को उन्हें किसी परमात्मा ने नहीं बतलाया। किसी-किसी सूक्त के मंत्रों के एक से अधिक द्रष्टा हैं, जो वेदों के अपौरुषेय होने पर ही संभव हो सकता है, प्रतिवादी की इस दलील में भी कुछ भी सार नहीं है। जहाँ पर एक ही सूक्त के अनेक द्रष्टा कहे गए हों वहाँ पर यह समझना चाहिए कि वह सूक्त अनेक ऋषियों की सम्मिलित रचना है। उन सभी ऋषियों ने मिल कर उस सूक्त की रचना की थी और जहाँ पर पौर्वापर्य का प्रश्न हो, जैसे पूर्वोद्धृत गोपथ ब्राह्मण (६, १) के अनुसार 'त्वामिन्द्र वज्रिन्' इत्यादि मंत्र के प्रथम द्रष्टा विश्वामित्र थे, तत्पश्चात् वामदेव हुए, वहाँ पर बाद वाले ऋषि को उक्त मंत्र का केवल विनियोजक समझना चाहिए; अर्थात् प्रथम ऋषि ने मत्र की रचना की और द्वितीय ऋषि ने कर्मकाण्ड में उसका प्रयोग किया। अथवा इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि पहले ने जिस मंत्र की रचना की थी वह काल पाकर किसी कारण लुप्त हो गया था; पुनः दूसरे ने उसका उद्धार किया।

तद्विषयक अन्य लचर दलीलें

वेद अपौरुषेय अर्थात् ईश्वरीय ज्ञान है, इसे सिद्ध करने के लिए कुछ लोग यह दलील भी पेश करते हैं कि सृष्टि के आदि में, जब मनुष्य-प्राणी पूर्णतः ज्ञानशून्य था, उस काल में उस के कर्त्तव्यों तथा अकर्त्तव्यों का ज्ञान किसने दिया? किसने उसे कुमार्ग से बचकर सन्मार्ग पर चलने की शिक्षा दी? उस समय तो उसे शिक्षा देने के लिए कोई लौकिक

वा एतान् सम्पातान् विश्वामित्रः प्रथममपश्यत्······तान् विश्वामित्रेण दृष्टान् वामदेवो असृजत् ।' दो ऋषि एक ही सूक्त के मंत्रों के कर्त्ता नहीं हो सकते। पर उन्हें उन मंत्रों के द्रष्टा मानने में कोई अड़चन नहीं हो सकती। परमात्मा ने स्वेच्छा से जिन-जिन ऋषियों को योग्य समझा उन्हें ही किसी-किसी सूक्त के निःशेष मंत्रों का दर्शन करा दिया। वेदों में ऐसे बहुत-से सूक्त हैं जिनके दो-दो, तीन-तीन वा इनसे भी अधिक द्रष्टा ऋषि हैं। उदाहरणतः ऋग्वेद के (१ । १००) के पाँच तथा (६ । ६६) के सौ ऋषि हैं। यदि वेद अपौरुषेय नहीं होते तो ऐसी हालत कदापि नहीं होती।

वेदों की अपौरुषेयता-विषयक तर्कों का खंडन

सिद्धान्ती—हम पहले कह चुके हैं—और फिर भी कहते हैं कि यदि परमात्मा ने पहले-पहल वेदमंत्रों का दर्शन किसी को कराया भी होगा तो ब्रह्मा को ही कराया होगा; यद्यपि आगे चल कर हम दिखलावेंगे कि ऐसा मानना भी केवल अन्धविश्वास है; पर ऐसा मानना भी प्रतिवादी के पक्ष को कुछ भी पुष्ट नहीं करता, कारण कि यदि निःशेष वेदों के द्रष्टा केवल ब्रह्मा ही हुए तो अन्य ऋषियों के मंत्र-द्रष्टा होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस दशा में अन्य ऋषिगण वेद मंत्रों के केवल प्रचारक, विनियोजक आदि सिद्ध होते हैं। पर यह भी बात नहीं है। ऋषिगण स्वयं ही वेद मंत्रों के कर्त्ता, प्रचारक आदि सब कुछ थे। उन मंत्रों को उन्हें किसी परमात्मा ने नहीं बतलाया। किसी-किसी सूक्त के मंत्रों के एक से अधिक द्रष्टा हैं, जो वेदों के अपौरुषेय होने पर ही संभव हो सकता है, प्रतिवादी की इस दलील में भी कुछ भी सार नहीं है। जहाँ पर एक ही सूक्त के अनेक द्रष्टा कहे गए हों वहाँ पर यह समझना चाहिए कि वह सूक्त अनेक ऋषियों की सम्मिलित रचना है। उन सभी ऋषियों ने मिल कर उस सूक्त की रचना की थी और जहाँ पर पौर्वापर्य का प्रश्न हो, जैसे पूर्वोद्धृत गोपथ ब्राह्मण (६, १) के अनुसार 'त्वामिन्द्र वज्रिन्' इत्यादि मंत्र के प्रथम द्रष्टा विश्वामित्र थे, तत्पश्चात् वामदेव हुए, वहाँ पर बाद वाले ऋषि को उक्त मंत्र का केवल विनियोजक समझना चाहिए; अर्थात् प्रथम ऋषि ने मत्र की रचना की और द्वितीय ऋषि ने कर्मकाण्ड में उसका प्रयोग किया। अथवा इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि पहले ने जिस मंत्र की रचना की थी वह काल पाकर किसी कारण लुप्त हो गया था; पुनः दूसरे ने उसका उद्धार किया।

तद्विषयक अन्य लचर दलीलें

वेद अपौरुषेय अर्थात् ईश्वरीय ज्ञान है, इसे सिद्ध करने के लिए कुछ लोग यह दलील भी पेश करते हैं कि सृष्टि के आदि में, जब मनुष्य-प्राणी पूर्णतः ज्ञानशून्य था, उस काल में उस के कर्त्तव्यों तथा अकर्त्तव्यों का ज्ञान किसने दिया? किसने उसे कुमार्ग से बचकर सन्मार्ग पर चलने की शिक्षा दी? उस समय तो उसे शिक्षा देने के लिए कोई लौकिक

गुरु विद्यमान था ही नहीं और प्रकृति (Nature) स्वयं जड़ होने के कारण केवल ज्ञेय हो सकती है पर सिद्धिका नहीं। अनुभव (Experience) भी जो पूर्वार्जित ज्ञान का संस्कार मात्र है अभी अनुत्पन्न होने के कारण किसी मौलिक ज्ञान का प्रकाशक हो नहीं सकता। आज तक प्रकृति और अनुभव ने किसी को ज्ञान नहीं दिया। कहते हैं कि अकबर ने मनुष्य के कुछ बच्चों को मानव संसर्ग से बिल्कुल अलग किसी निर्जन स्थान में रखवा दिया। कितने औरों ने भी यही परीक्षा की। उन बच्चों के जीवन-यापन के लिए अन्न-वस्त्र का समुचित प्रबन्ध कर दिया गया। पचासों वर्ष तक वे बच्चे इसी अवस्था में पड़े रहे। वे बूढ़े भी हो चले। प्रकृति उनके सामने बिल्कुल खुली पड़ी थी; पर उनको कुछ भी ज्ञान न हुआ। वे कोरे पशु की तरह रह गए। [कतिपय टापुओं के आदिम-निवासी आज तक बनचर हैं। प्रकृति ने उन्हें ज्ञानवान् बनने में कुछ भी सहायता न की। अतः इस दशा में हमें विवश होकर मानना पड़ता है कि मनुष्यों को आदि ज्ञान वेदों के रूप में निःसन्देह ईश्वर से मिला]। कैंट (Kant) साहब का कथन है कि यदि आदि काल में ईश्वरीय ज्ञान द्वारा सर्व तंत्र सिद्धान्तों की शिक्षा न मिलती तो मानव-बुद्धि पूरे तौर से उनकी आन्तरिक स्थिति को न समझ पाती। केवल नास्तिकों को छोड़ कर सभी धर्मों के अनुयायी इलहाम पर विश्वास करते हैं। पारसी, इसाई, मुसाई, मुहम्मदी आदि सभी अपने-अपने धार्मिक ज्ञान को ईश्वर से प्राप्त मानते हैं]। स्वामी दयानन्द तथा उनके अनुयायियों का भी तर्क प्रायः ऐसा ही हुआ करता है। यह तो हुआ पूर्व पक्ष। अब उत्तरपक्ष सुनिए।

अपौरुषेय वाद में अड़चनें

यदि सृष्टि के आदि में मनुष्य को ज्ञान वेदों के रूप में ईश्वर से ही मिला तो, अवश्य ही वह एक उत्तम प्रकार का ज्ञान होगा, क्योंकि ईश्वर से जो कुछ हमें मिलेगा वह अवश्य ही एक अच्छी तथा मानव-समाज के लिए कल्याणकारी चीज होगी। ईश्वर हमें कोई ऐसी बुद्धि नहीं दे सकता जिससे संसार का अनिष्ट हो। पर आज संसार में जो चोरी, डकैती, ठगी, दगाबाजी, व्यभिचार, पाखंड, धूर्तता आदि नाना प्रकार की बुराइयाँ पग-पग पर देख पड़ती हैं तथा जिनका बोलबाला होने के कारण उनके समक्ष सात्विकता आदि उत्तम गुण क्षीणकान्ति से देख पड़ते हैं, उनका मूल-स्रोत कौन है? इन बुराइयों के सम्पादनार्थ मानव-प्राणी ने जो विविध सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं दुर्बोध उपाय ढूँढ़ निकाले हैं उनका ज्ञान मनुष्य को किससे मिला? "वह कौन सा आदिम उस्ताद था जिसने उक्त बुराइयों के करने वाले अपने चेलों को सिखा-पढ़ाकर पक्का कर दिया? इस तर्क-सरणी का अनुसरण करते हुए हमें, अच्छे ज्ञान के साथ-साथ बुरे ज्ञान का भी देने वाला, सृष्टि के आदि में ईश्वर के अतिरिक्त किसी अन्य गुरु के अभाव के कारण, उसी को ही मानना

गुरु विद्यमान था ही नहीं और प्रकृति (Nature) स्वयं जड़ होने के कारण केवल ज्ञेय हो सकती है पर सिद्धिका नहीं। अनुभव (Experience) भी जो पूर्वार्जित ज्ञान का संस्कार मात्र है अभी अनुत्पन्न होने के कारण किसी मौलिक ज्ञान का प्रकाशक हो नहीं सकता। आज तक प्रकृति और अनुभव ने किसी को ज्ञान नहीं दिया। कहते हैं कि अकबर ने मनुष्य के कुछ बच्चों को मानव संसर्ग से बिल्कुल अलग किसी निर्जन स्थान में रखवा दिया। कितने औरों ने भी यही परीक्षा की। उन बच्चों के जीवन-यापन के लिए अन्न-वस्त्र का समुचित प्रबन्ध कर दिया गया। पचासों वर्ष तक वे बच्चे इसी अवस्था में पड़े रहे। वे बूढ़े भी हो चले। प्रकृति उनके सामने बिल्कुल खुली पड़ी थी; पर उनको कुछ भी ज्ञान न हुआ। वे कोरे पशु की तरह रह गए। [कतिपय टापुओं के आदिम-निवासी आज तक बनचर हैं। प्रकृति ने उन्हें ज्ञानवान् बनने में कुछ भी सहायता न की। अतः इस दशा में हमें विवश होकर मानना पड़ता है कि मनुष्यों को आदि ज्ञान वेदों के रूप में निःसन्देह ईश्वर से मिला]। कैंट (Kant) साहब का कथन है कि यदि आदि काल में ईश्वरीय ज्ञान द्वारा सर्व तंत्र सिद्धान्तों की शिक्षा न मिलती तो मानव-बुद्धि पूरे तौर से उनकी आन्तरिक स्थिति को न समझ पाती। केवल नास्तिकों को छोड़ कर सभी धर्मों के अनुयायी इलहाम पर विश्वास करते हैं। पारसी, इसाई, मुसाई, मुहम्मदी आदि सभी अपने-अपने धार्मिक ज्ञान को ईश्वर से प्राप्त मानते हैं]। स्वामी दयानन्द तथा उनके अनुयायियों का भी तर्क प्रायः ऐसा ही हुआ करता है। यह तो हुआ पूर्व पक्ष। अब उत्तरपक्ष सुनिए।

अपौरुषेय वाद में अड़चनें

यदि सृष्टि के आदि में मनुष्य को ज्ञान वेदों के रूप में ईश्वर से ही मिला तो, अवश्य ही वह एक उत्तम प्रकार का ज्ञान होगा, क्योंकि ईश्वर से जो कुछ हमें मिलेगा वह अवश्य ही एक अच्छी तथा मानव-समाज के लिए कल्याणकारी चीज होगी। ईश्वर हमें कोई ऐसी बुद्धि नहीं दे सकता जिससे संसार का अनिष्ट हो। पर आज संसार में जो चोरी, डकैती, ठगी, दगाबाजी, व्यभिचार, पाखंड, धूर्तता आदि नाना प्रकार की बुराइयाँ पग-पग पर देख पड़ती हैं तथा जिनका बोलबाला होने के कारण उनके समक्ष सात्विकता आदि उत्तम गुण क्षीणकान्ति से देख पड़ते हैं, उनका मूल-स्रोत कौन है? इन बुराइयों के सम्पादनार्थ मानव-प्राणी ने जो विविध सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं दुर्बोध उपाय ढूँढ़ निकाले हैं उसका ज्ञान मनुष्य को किससे मिला? "वह कौन सा आदिम उस्ताद था जिसने उक्त बुराइयों के करने वाले अपने चेलों को सिखा-पढ़ाकर पक्का कर दिया? इस तर्क-सरणी का अनुसरण करते हुए हमें, अच्छे ज्ञान के साथ-साथ बुरे ज्ञान का भी देने वाला, सृष्टि के आदि में ईश्वर के अतिरिक्त किसी अन्य गुरु के अभाव के कारण, उसी को ही मानना

पड़ेगा; अर्थात् उसी ने ही हमें सुकर्म और कुकर्म दोनों प्रकार के कर्म करने को सिखलाया और चूँकि दुनिया में बुराई की तुलना में अच्छाई बहुत ही कम है, हमें उस (ईश्वर) को ही संसार का सुख-शान्ति भंग करने वाला मानना पड़ेगा। यदि कहो कि सृष्टि के आदि में ईश्वर ने तुल्य ज्ञान सभी मनुष्यों को दिया; पर उनमें से जिन्होंने उस ज्ञान का सदुपयोग किया वे तो सुकर्म में और जिन्होंने उसका असदुपयोग किया वे कुकर्म में प्रवृत्त हो गए, तो इस दशा में तुम्हारा ईश्वर अति ही अदूर-दर्शी तथा अल्पज्ञ सिद्ध होता है; क्योंकि उसे भविष्य की वस्तुस्थिति मालूम न हुई कि जिनमें वह ज्ञान का तुल्य वितरण कर रहा है उनमें से अधिकांश ऐसे निकलेंगे जो उसके दिये हुए ज्ञान का असदुपयोग करके संसार में ऊधम मचावेंगे; अतः अल्पज्ञऔर अदूरदर्शी ईश्वर ईश्वर नहीं कहा जा सकता और जो स्वयं इस प्रकार अल्पज्ञ और अदूरदर्शी है वह दूसरों को ज्ञान सिखावे और साथ-साथ ईश्वर होने का भी दावा करे, ऐसा मानना निरी मूर्खता है। पर ये सब अड़चनें वेदों को अपौरुषेय मानने से ही हठात् आ उपस्थित होती हैं। इसके अतिरिक्त एक और भी अड़चन है। वह यह कि जब आदि सृष्टि में मनुष्य मात्र को एक ही प्रकार का ज्ञान तुल्य मात्रा में मिला; क्योंकि अन्यथा करने से ईश्वर अन्यायी और पक्षपाती बन जाता, तो समझ में नहीं आता कि उन लोगों ने भिन्न-भिन्न मार्ग क्यों पकड़े ? मनुष्य को कर्म करने में स्वतन्त्र मानने पर भी बुद्धि की समता में कर्म की विषमता असम्भव हो जाती है। जब सभी को एक ही प्रकार का ज्ञान और वह भी एक ही मात्रा में मिला तो कोई सदाचारी तो कोई दुराचारी कैसे बन गया ?

वेदादि सभी ग्रन्थ पौरुषेय हैं

[वस्तुतः वेद, बाइबुल, कुरान आदि विविध धर्म-ग्रन्थों में से कोई भी ग्रन्थ अपौरुषेय वा इलहाम कुछ भी नहीं है। ये सब के सब मनुष्य की रचनाएँ हैं, जो सृष्टि के प्रारंभ से असंख्य वर्षों के बाद रचे गए।] मनुष्य-समाज देश कालानुसार अनेक उपसमाजों में बँटा है जिन्हें हम हिन्दू, मुसलमान, इसाई आदि कहते हैं। प्रत्येक उपसमाज में जो व्यक्ति औरों की अपेक्षा अधिक बल-बुद्धिशाली होता है वह अपने उपसमाज के सञ्चालन के लिए कुछ उपदेश दे दिया करता है, कुछ नियम बना देता है, जिन्हें वह अपने यहाँ की देश-काल-जन्य परिस्थिति के अनुसार उचित समझता है। ये उपदेश और नियम कालान्तर में उसके अनुयायियों के द्वारा संगृहीत और बाद में लेख-बद्ध होकर धर्म-ग्रन्थ के रूप धारण कर लेते हैं और चूँकि साधारण जनता अपनी बुद्धि की अप्रौढ़ता के कारण स्वभावतः अन्धविश्वासिनी होती है जिससे वह धार्मिक विषयों में केवल चमत्कारों पर ही विश्वास किया करती है, उसमें यह मिथ्या प्रचार (Propoganda) कर दिया जाता है कि अमुक धर्म-ग्रन्थ खुदा के यहाँ से उतरा है वा वह ईश्वरीय ज्ञान है ताकि सम्बन्धित

पड़ेगा; अर्थात् उसी ने ही हमें सुकर्म और कुकर्म दोनों प्रकार के कर्म करने को सिखलाया और चूँकि दुनिया में बुराई की तुलना में अच्छाई बहुत ही कम है, हमें उस (ईश्वर) को ही संसार का सुख-शान्ति भंग करने वाला मानना पड़ेगा। यदि कहो कि सृष्टि के आदि में ईश्वर ने तुल्य ज्ञान सभी मनुष्यों को दिया; पर उनमें से जिन्होंने उस ज्ञान का सदुपयोग किया वे तो सुकर्म में और जिन्होंने उसका असदुपयोग किया वे कुकर्म में प्रवृत्त हो गए, तो इस दशा में तुम्हारा ईश्वर अति ही अदूर-दर्शी तथा अल्पज्ञ सिद्ध होता है; क्योंकि उसे भविष्य की वस्तुस्थिति मालूम न हुई कि जिनमें वह ज्ञान का तुल्य वितरण कर रहा है उनमें से अधिकांश ऐसे निकलेंगे जो उसके दिये हुए ज्ञान का असदुपयोग करके संसार में ऊधम मचावेंगे; अतः अल्पज्ञऔर अदूरदर्शी ईश्वर ईश्वर नहीं कहा जा सकता और जो स्वयं इस प्रकार अल्पज्ञ और अदूरदर्शी है वह दूसरों को ज्ञान सिखावे और साथ-साथ ईश्वर होने का भी दावा करे, ऐसा मानना निरी मूर्खता है। पर ये सब अड़चनें वेदों को अपौरुषेय मानने से ही हठात् आ उपस्थित होती हैं। इसके अतिरिक्त एक और भी अड़चन है। वह यह कि जब आदि सृष्टि में मनुष्य मात्र को एक ही प्रकार का ज्ञान तुल्य मात्रा में मिला; क्योंकि अन्यथा करने से ईश्वर अन्यायी और पक्षपाती बन जाता, तो समझ में नहीं आता कि उन लोगों ने भिन्न-भिन्न मार्ग क्यों पकड़े ? मनुष्य को कर्म करने में स्वतन्त्र मानने पर भी बुद्धि की समता में कर्म की विषमता असम्भव हो जाती है। जब सभी को एक ही प्रकार का ज्ञान और वह भी एक ही मात्रा में मिला तो कोई सदाचारी तो कोई दुराचारी कैसे बन गया ?

वेदादि सभी ग्रन्थ पौरुषेय हैं

[वस्तुतः वेद, बाइबुल, कुरान आदि विविध धर्म-ग्रन्थों में से कोई भी ग्रन्थ अपौरुषेय वा इलहाम कुछ भी नहीं है। ये सब के सब मनुष्य की रचनाएँ हैं, जो सृष्टि के प्रारंभ से असंख्य वर्षों के बाद रचे गए।] मनुष्य-समाज देश कालानुसार अनेक उपसमाजों में बँटा है जिन्हें हम हिन्दू, मुसलमान, इसाई आदि कहते हैं। प्रत्येक उपसमाज में जो व्यक्ति औरों की अपेक्षा अधिक बल-बुद्धिशाली होता है वह अपने उपसमाज के सञ्चालन के लिए कुछ उपदेश दे दिया करता है, कुछ नियम बना देता है, जिन्हें वह अपने यहाँ की देश-काल-जन्य परिस्थिति के अनुसार उचित समझता है। ये उपदेश और नियम कालान्तर में उसके अनुयायियों के द्वारा संगृहीत और बाद में लेख-बद्ध होकर धर्म-ग्रन्थ के रूप धारण कर लेते हैं और चूँकि साधारण जनता अपनी बुद्धि की अप्रौढ़ता के कारण स्वभावतः अन्धविश्वासिनी होती है जिससे वह धार्मिक विषयों में केवल चमत्कारों पर ही विश्वास किया करती है, उसमें यह मिथ्या प्रचार (Propoganda) कर दिया जाता है कि अमुक धर्म-ग्रन्थ खुदा के यहाँ से उतरा है वा वह ईश्वरीय ज्ञान है ताकि सम्बन्धित

जनता उस पर विश्वास करे और उसके अनुकूल चलकर अपना आचरण ठीक करे और बुरे कर्मों से बचे। इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए स्वर्ग, नरक, बहिश्त, दोजख, परियों, अप्सराओं, हूरों और गिल्मों आदि अस्तित्वहीन लोकों और जीवों की कल्पना भी कर ली जाती है ताकि मूढ़ जनता, जो किसी और उपाय से काबू में नहीं आ सकती थी, स्वर्गादि की लालच एवं नरकादि के भय से कुमार्ग से हटकर सुमार्ग पर चले। वस्तुतः संसार के सभी धर्म अच्छे उद्देश्य रखते हुए भी जनबाहुल्य के अन्धविश्वास पर ही अवलम्बित हैं। जन्मान्तर वाद की कल्पना भी केवल उक्त उद्देश्य की सिद्धि के लिए ही की गई है। वैदिक, बौद्ध, जैन आदि उन धर्मों का जन्मान्तर-वाद मेरुदंड है जिनका उद्गम स्थान भारत है। इन धर्मों के अनुयायियों का यह विश्वास है कि मनुष्यों को अच्छे कर्म करने से जन्मान्तर में अच्छी, तथा बुरे कर्मों के करने से बुरी गति प्राप्त होती है; अतः मनुष्य को उचित है कि वह अच्छे कर्मों को करे और बुरे कर्मों से अलग रहे।

सृष्टि के आदि में मनुष्य को ज्ञान कैसे मिला ?

पर यदि सृष्टि के आदि में मनुष्य को ज्ञान, वेदों के रूप में, ईश्वर से नहीं मिला तो वह कैसे और कहाँ से प्राप्त हुआ ? इसका उत्तर यह है कि मनुष्य मात्र में एक स्वाभाविक ज्ञान या बुद्धि रहती है। यदि वेदों को अपौरुषेय भी मान लें तो उन्हें समझने और समझाने के लिए इस स्वाभाविक बुद्धि का रहना आवश्यक है; अन्यथा वैदिक ज्ञान व्यर्थ ही पड़ा रह जायगा। यह स्वाभाविक ज्ञान या बुद्धि अनुकूल परिस्थिति पाकर धीरे-धीरे परिवर्त्तित तथा विकासित हुआ, जिसके परिणाम-स्वरूप वह सौ-दो-सौ वर्षों में नहीं बल्कि लाखों वर्षों में वर्त्तमान प्रौढ़ावस्था को प्राप्त हुआ है। सृष्टि के सभी पदार्थ विकसन-शील होते हैं; अतः मनुष्य का स्वाभाविक ज्ञान इस विश्व-व्यापी नियम का अपवाद हो, इसे मानने के लिए कोई कारण नहीं दीखता। पर इस बौद्धिक विकास के लिए मनुष्य किसका ऋणी है ? किस गुरु ने उसे उपदेश देकर उसके ज्ञान की परिधि बढ़ाई ? किस पुस्तक के अध्ययन से उसके ज्ञान का क्षेत्र सुविस्तृत हुआ ? सृष्टि के आदि में वह अकेला और निःसहाय न था। जिस प्रकृति को अन्धविश्वासी जन मनुष्य का आदि गुरु नहीं मानते, सच पूछिए तो वही प्रकृति और उसकी स्वाभाविक बुद्धि उस समय उसकी सहायिकाएँ थीं। उस समय यह विशाल प्रकृति ही उसके लिए एक अपूर्व पाठ्य पुस्तक बन गई जिसका अध्ययन उसने अपनी स्वाभाविक बुद्धि के द्वारा बराबर करता रहा। गगन-चुम्बी पर्वत-मालाओं, उत्ताल-तरंग महासागरों, अपरिमेय रत्न-सरीखे ज्योतिर्विन्दुओं से खचित दश दिग्व्यापी यह नभो मंडल, तथा बलयाकार सुदूर क्षितिज की मेखला भूत विपुल वनस्थली से लेकर गिरिराजों का प्रत्येक उपल-खंड, कल-कल-निनादिनी तथा समुद्र-गामिनी नदियों का प्रत्येक जलकण, सौरभ-विशिष्ट वृक्षों, लताओं और गुल्मों के प्रत्येक पत्र-फल-फूल उस

जनता उस पर विश्वास करे और उसके अनुकूल चलकर अपना आचरण ठीक करे और बुरे कर्मों से बचे। इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए स्वर्ग, नरक, बहिश्त, दोजख, परियों, अप्सराओं, हूरों और गिल्मों आदि अस्तित्वहीन लोकों और जीवों की कल्पना भी कर ली जाती है ताकि मूढ़ जनता, जो किसी और उपाय से काबू में नहीं आ सकती थी, स्वर्गादि की लालच एवं नरकादि के भय से कुमार्ग से हटकर सुमार्ग पर चले। वस्तुतः संसार के सभी धर्म अच्छे उद्देश्य रखते हुए भी जनबाहुल्य के अन्धविश्वास पर ही अवलम्बित हैं। जन्मान्तर वाद की कल्पना भी केवल उक्त उद्देश्य की सिद्धि के लिए ही की गई है। वैदिक, बौद्ध, जैन आदि उन धर्मों का जन्मान्तर-वाद मेरुदंड है जिनका उद्‌गम स्थान भारत है। इन धर्मों के अनुयायियों का यह विश्वास है कि मनुष्यों को अच्छे कर्म करने से जन्मान्तर में अच्छी, तथा बुरे कर्मों के करने से बुरी गति प्राप्त होती है; अतः मनुष्य को उचित है कि वह अच्छे कर्मों को करे और बुरे कर्मों से अलग रहे।

सृष्टि के आदि में मनुष्य को ज्ञान कैसे मिला ?

पर यदि सृष्टि के आदि में मनुष्य को ज्ञान, वेदों के रूप में, ईश्वर से नहीं मिला तो वह कैसे और कहाँ से प्राप्त हुआ ? इसका उत्तर यह है कि मनुष्य मात्र में एक स्वाभाविक ज्ञान या बुद्धि रहती है। यदि वेदों को अपौरुषेय भी मान लें तो उन्हें समझने और समझाने के लिए इस स्वाभाविक बुद्धि का रहना आवश्यक है; अन्यथा वैदिक ज्ञान व्यर्थ ही पड़ा रह जायगा। यह स्वाभाविक ज्ञान या बुद्धि अनुकूल परिस्थिति पाकर धीरे-धीरे परिवर्तित तथा विकासित हुआ, जिसके परिणाम-स्वरूप वह सौ-दो-सौ वर्षों में नहीं बल्कि लाखों वर्षों में वर्त्तमान प्रौढ़ावस्था को प्राप्त हुआ है। सृष्टि के सभी पदार्थ विकसन-शील होते हैं; अतः मनुष्य का स्वाभाविक ज्ञान इस विश्व-व्यापी नियम का अपवाद हो, इसे मानने के लिए कोई कारण नहीं दीखता। पर इस बौद्धिक विकास के लिए मनुष्य किसका ऋणी है ? किस गुरु ने उसे उपदेश देकर उसके ज्ञान की परिधि बढ़ाई ? किस पुस्तक के अध्ययन से उसके ज्ञान का क्षेत्र सुविस्तृत हुआ ? सृष्टि के आदि में वह अकेला और निःसहाय न था। जिस प्रकृति को अन्धविश्वासी जन मनुष्य का आदि गुरु नहीं मानते, सच पूछिए तो वही प्रकृति और उसकी स्वाभाविक बुद्धि उस समय उसकी सहायिकाएँ थीं। उस समय यह विशाल प्रकृति ही उसके लिए एक अपूर्व पाठ्य पुस्तक बन गई जिसका अध्ययन उसने अपनी स्वाभाविक बुद्धि के द्वारा बराबर करता रहा। गगन-चुम्बी पर्वत-मालाओं, उत्ताल-तरंग महासागरों, अपरिमेय रत्न-सरीखे ज्योतिर्विन्दुओं से खचित दश दिग्व्यापी यह नभो मंडल, तथा बलयाकार सुदूर क्षितिज की मेखला भूत विपुल वनस्थली से लेकर गिरिराजों का प्रत्येक उपल-खंड, कल-कल-निनादिनी तथा समुद्र-गामिनी नदियों का प्रत्येक जलकण, सौरभ-विशिष्ट वृक्षों, लताओं और गुल्मों के प्रत्येक पत्र-फल-फूल उस

विशाल प्रकृति-पुस्तक के अध्याय, पृष्ठ तथा शब्द हैं, जिनका अध्यय वह शताब्दियों, सहस्राब्दियों से नहीं, बल्कि लक्षाब्दियों से करता हुआ, तथा जो कुछ देखता या सुनता उसके पर्य्यवेक्षण, प्रयोग तथा परीक्षा के द्वारा नित्य नए-नए ज्ञान और अनुभवों को अर्जित करता हुआ चला आया। गगनचारी पिंडों की गति-विधि का अवलोकन करते-करते मनुष्य ने ज्योतिःशास्त्र की नींव डाली। विविध औषधियों का विविध रोगों पर बार-बार प्रयोग कर उसका फल-स्वरूप चिकित्सा-शास्त्र की रचना हुई। इसी प्रकार रसायन-शास्त्र (Chemistry), भौतिक विज्ञान (Physics), जीवशास्त्र (Biology), शल्य विद्या (Anatomy) आदि विविध विद्याओं का प्रादुर्भाव हुआ। और तो और; स्वयं वेद भी मानव-बुद्धि के कार्य हैं, न कि कारण।

मानव-मस्तिष्क का विकास

बुद्धि विकास के पूर्वोक्त साधनों के अतिरिक्त एक और भी साधन है जिसकी उपेक्षा हम लोग कदापि नहीं कर सकते। वह है अनुकूल जलवायु पर अवलंबित मानव-मस्तिष्क का विकास, उसका आकार (Size) तथा रचना-जटिलता (Complexity of Construction) एवं मनुष्य के खाद्यादि पदार्थ। हमें अनुभव बताता है कि मानव जाति के जिन उपभेदों का मस्तिष्क (Brain) आकार में बड़ा तथा बनावट में जटिल है एवं जिनका भोजन स्निग्ध तथा पुष्टिकारक है वे स्वभावतः तीव्रबुद्धि, तथा इसके विपरीत जिन उपभेदों का मस्तिष्क छोटा और जटिलता रहित है वे स्वभावतः मन्दबुद्धि होते हैं। आर्य और हब्शी क्रमशः पहले और दूसरे उपभेद के नमूने हैं। यही कारण है कि बुद्धि का विकास जितना आर्य-सम्प्रदाय में हुआ है उतना हब्शी सम्प्रदाय में नहीं।

सृष्टि की विचित्रता

पर यह सृष्टि विचित्र है। इसमें कोई भी दो पदार्थ पूर्णतः एक से नहीं होते; यहाँ तक कि एक ही माता-पिता की कोख से उत्पन्न यमल बच्चे भी पूर्णतः सदृश नहीं होते। दोनों में कुछ न कुछ भिन्नता अवश्य रहती है चाहे वह भिन्नता सूक्ष्मातिसूक्ष्म ही क्यों न हो। किसी विशाल इमली के वृक्ष में लगी हुई असंख्य छोटी-छोटी पत्तियों में से किन्हीं दो को हाथ में लेकर मिलाइए। आप उन दोनों में कुछ न कुछ भिन्नता अवश्य पावेंगे। सृष्टि-वैचित्र्य का यह नियम अटल, सनातन तथा विश्वव्यापी है। इसके पंजे से कोई भी पदार्थ मुक्त नहीं है, यहाँ तक कि प्राणी-मात्र के स्वभाव पर भी यह नियम काम कर रहा है जिसका फल-स्वरूप प्रत्येक मनुष्य का स्वभाव भिन्न हुआ करता है। अतः जिसका स्वभाव अच्छा हुआ उसने अपने स्वाभाविक ज्ञान का सदुपयोग और जिसका बुरा हुआ उसने उस ज्ञान का दुरुपयोग किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि जहाँ इस संसार में गौतम बुद्ध, ईसा मसीह आदि जैसे महापुरुष विश्वशान्ति के अग्रदूतों के रूप में प्रकट

विशाल प्रकृति-पुस्तक के अध्याय, पृष्ठ तथा शब्द हैं, जिनका अध्यय वह शताब्दियों, सहस्राब्दियों से नहीं, बल्कि लक्षाब्दियों से करता हुआ, तथा जो कुछ देखता या सुनता उसके पर्यवेक्षण, प्रयोग तथा परीक्षा के द्वारा नित्य नए-नए ज्ञान और अनुभवों को अर्जित करता हुआ चला आया। गगनचारी पिंडों की गति-विधि का अवलोकन करते-करते मनुष्य ने ज्योतिःशास्त्र की नींव डाली। विविध औषधियों का विविध रोगों पर बार-बार प्रयोग कर उसका फल-स्वरूप चिकित्सा-शास्त्र की रचना हुई। इसी प्रकार रसायन-शास्त्र (Chemistry), भौतिक विज्ञान (Physics), जीवशास्त्र (Biology), शल्य विद्या (Anatomy) आदि विविध विद्याओं का प्रादुर्भाव हुआ। और तो और; स्वयं वेद भी मानव-बुद्धि के कार्य हैं, न कि कारण।

मानव-मस्तिष्क का विकास

बुद्धि विकास के पूर्वोक्त साधनों के अतिरिक्त एक और भी साधन है जिसकी उपेक्षा हम लोग कदापि नहीं कर सकते। वह है अनुकूल जलवायु पर अवलंबित मानव-मस्तिष्क का विकास, उसका आकार (Size) तथा रचना-जटिलता (Complexity of Construction) एवं मनुष्य के खाद्यादि पदार्थ। हमें अनुभव बताता है कि मानव जाति के जिन उपभेदों का मस्तिष्क (Brain) आकार में बड़ा तथा बनावट में जटिल है एवं जिनका भोजन स्निग्ध तथा पुष्टिकारक है वे स्वभावतः तीव्रबुद्धि, तथा इसके विपरीत जिन उपभेदों का मस्तिष्क छोटा और जटिलता रहित है वे स्वभावतः मन्दबुद्धि होते हैं। आर्य और हब्शी क्रमशः पहले और दूसरे उपभेद के नमूने हैं। यही कारण है कि बुद्धि का विकास जितना आर्य-सम्प्रदाय में हुआ है उतना हब्शी सम्प्रदाय में नहीं।

सृष्टि की विचित्रता

पर यह सृष्टि विचित्र है। इसमें कोई भी दो पदार्थ पूर्णतः एक से नहीं होते; यहाँ तक कि एक ही माता-पिता की कोख से उत्पन्न यमल बच्चे भी पूर्णतः सदृश नहीं होते। दोनों में कुछ न कुछ भिन्नता अवश्य रहती है चाहे वह भिन्नता सूक्ष्मातिसूक्ष्म ही क्यों न हो। किसी विशाल इमली के वृक्ष में लगी हुई असंख्य छोटी-छोटी पत्तियों में से किन्हीं दो को हाथ में लेकर मिलाइए। आप उन दोनों में कुछ न कुछ भिन्नता अवश्य पावेंगे। सृष्टि-वैचित्र्य का यह नियम अटल, सनातन तथा विश्वव्यापी है। इसके पंजे से कोई भी पदार्थ मुक्त नहीं है, यहाँ तक कि प्राणी-मात्र के स्वभाव पर भी यह नियम काम कर रहा है जिसका फल-स्वरूप प्रत्येक मनुष्य का स्वभाव भिन्न हुआ करता है। अतः जिसका स्वभाव अच्छा हुआ उसने अपने स्वाभाविक ज्ञान का सदुपयोग और जिसका बुरा हुआ उसने उस ज्ञान का दुरुपयोग किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि जहाँ इस संसार में गौतम बुद्ध, ईसा मसीह आदि जैसे महापुरुष विश्वशान्ति के अग्रदूतों के रूप में प्रकट

होकर प्राणी-मात्र के लिए प्रेम, दया, सहानुभूति आदि उत्तम गुणों का सन्देश सुनाया, वहाँ ही हूण-सरदार अटिला, आततायी तैमूरलंग, नृशंस नादिरशाह आदि जैसे नराधमों ने जन्म लेकर अपने को मानव जाति के लिए मल्कुल मौत सिद्ध कर दिखाया।

अस्तित्व के लिए विश्वव्यापी संग्राम

पर प्रश्न उठता है कि आखिर इस संसार में अच्छाई की अपेक्षा बुराई ही क्यों अधिक है? यदि हम लोग 'स्वभाव' शब्द के अर्थ पर विचार करें तो इस प्रश्न का उत्तर आप से आप मिल जाय। 'स्वभाव' शब्द का 'स्व' खंड अपनापन का द्योतक है जिसमें स्वार्थ की भावना भरी है। अभिप्राय यह कि प्रत्येक प्राणी में स्वार्थ की प्रवृत्ति नैसर्गिक होती है। वह इस प्रकार स्वार्थी होता है कि वह दूसरों को हानि पहुँचा कर भी स्वयं फलने-फूलने के लिए सतत प्रयत्नशील दीख पड़ता है। यह स्वार्थमय संग्राम सृष्टि के जलचर, स्थलचर तथा नभचर सभी वर्गों के प्राणियों के बीच निरन्तर चल रहा है। आप जिधर दृष्टि डालिए, उधर ही आपको इस विश्वव्यापी समर के प्रमाण मिलेंगे। अपने कमरे की दीवार पर दृष्टि डालिये और देखिए कि छिपकली किस तरह धीरे-धीरे दबे पाँव एक फतिंगे के पास उसके पीछे से आ रही है और कब्ल इसके कि उस बिचारे असावधान फतिंगे को अपने शत्रु के भावी आक्रमण को कुछ भी आहट मिले, वह छिपकिली एक ही छलांग में अपने शिकार के गले पर सवार हो जाती है और उसे चट मार कर उदरसात् कर लेती है। अथवा उसी कमरे के किसी कोने की ओर अपनी निगाह दौड़ाइए जहाँ एक छोटी-सी मकड़ी अपना धूलि-धूसर जाल तानकर उसकी नाभि में अपने शिकार की घात में चुपचाप बैठी है कि इतने में एक निःशंक मक्खी कहीं से उड़ती हुई आकर उस जाल में फँस जाती है और लाख उछल-कूद करने पर भी उसे छुटकारा नहीं मिलता। मकड़ी बड़े ही हृदयोल्लास के साथ अपने असहाय शिकार के पास जा पहुँचती है और अपनी आगे वाली जहरीली टाँगों के प्रहार से उसे मार डालती है। आपने देखा होगा कि बाज तथा शिकरे अपने एक ही अमोघ निपात में चुहिया, लवा आदि क्षुद्र जन्तुओं तथा पक्षियों को अपने चंगुल में पकड़ लेते हैं और अपनी नुकीली तथा तेज चोंच से उन्हें फाड़ डालते हैं। बाढ़ के दिनों में किसी उमड़ी हुई नदी के किनारे उसका अपूर्व दृश्य देखते हुए थोड़ी देर तक टहलिए। आप देखेंगे कि एक विशालकाय घड़ियाल अपनी लम्बी तथा काँटेदार दुम को बाएँ-दाहिने बार-बार फेरता तथा पानी को उछालता हुआ अपना कराल जबड़ा फैलाए चक्कर लगा रहा है कि इतने में नदी के प्रबल वेग से प्रवाहित होकर चाँदी की तरह चमकती हुई एक बड़ी मछली उसके भयंकर डाढ़ों के बीच जा गिरती है और वह आँख मूँद कर धीरे से उसे निगल जाता है और डकार तक नहीं लेता। वहीं पर पनडुब्बी चिड़िया की भी करामात देखिए। पानी की सतह से प्रायः एक ताड़ की ऊँचाई पर

होकर प्राणी-मात्र के लिए प्रेम, दया, सहानुभूति आदि उत्तम गुणों का सन्देश सुनाया, वहाँ ही हूण-सरदार अटिला, आततायी तैमूरलंग, नृशंस नादिरशाह आदि जैसे नराधमों ने जन्म लेकर अपने को मानव जाति के लिए मल्कुल मौत सिद्ध कर दिखाया।

अस्तित्व के लिए विश्वव्यापी संग्राम

पर प्रश्न उठता है कि आखिर इस संसार में अच्छाई की अपेक्षा बुराई ही क्यों अधिक है? यदि हम लोग 'स्वभाव' शब्द के अर्थ पर विचार करें तो इस प्रश्न का उत्तर आप से आप मिल जाय। 'स्वभाव' शब्द का 'स्व' खंड अपनापन का द्योतक है जिसमें स्वार्थ की भावना भरी है। अभिप्राय यह कि प्रत्येक प्राणी में स्वार्थ की प्रवृत्ति नैसर्गिक होती है। वह इस प्रकार स्वार्थी होता है कि वह दूसरों को हानि पहुँचा कर भी स्वयं फलने-फूलने के लिए सतत प्रयत्नशील दीख पड़ता है। यह स्वार्थमय संग्राम सृष्टि के जलचर, स्थलचर तथा नभचर सभी वर्गों के प्राणियों के बीच निरन्तर चल रहा है। आप जिधर दृष्टि डालिए, उधर ही आपको इस विश्वव्यापी समर के प्रमाण मिलेंगे। अपने कमरे की दीवार पर दृष्टि डालिये और देखिए कि छिपकली किस तरह धीरे-धीरे दबे पाँव एक फतिंगे के पास उसके पीछे से आ रही है और कब्ल इसके कि उस विचारे असावधान फतिंगे को अपने शत्रु के भावी आक्रमण को कुछ भी आहट मिले, वह छिपकिली एक ही छलांग में अपने शिकार के गले पर सवार हो जाती है और उसे चट मार कर उदरसात् कर लेती है। अथवा उसी कमरे के किसी कोने की ओर अपनी निगाह दौड़ाइए जहाँ एक छोटी-सी मकड़ी अपना धूलि-धूसर जाल तानकर उसकी नाभि में अपने शिकार की घात में चुपचाप बैठी है कि इतने में एक निःशंक मक्खी कहीं से उड़ती हुई आकर उस जाल में फँस जाती है और लाख उछल-कूद करने पर भी उसे छुटकारा नहीं मिलता। मकड़ी बड़े ही हृदयोल्लास के साथ अपने असहाय शिकार के पास जा पहुँचती है और अपनी आगे वाली जहरीली टाँगों के प्रहार से उसे मार डालती है। आपने देखा होगा कि बाज तथा शिकरे अपने एक ही अमोघ निपात में चुहिया, लवा आदि क्षुद्र जन्तुओं तथा पक्षियों को अपने चंगुल में पकड़ लेते हैं और अपनी नुकीली तथा तेज चोंच से उन्हें फाड़ डालते हैं। बाढ़ के दिनों में किसी उमड़ी हुई नदी के किनारे उसका अपूर्व दृश्य देखते हुए थोड़ी देर तक टहलिए। आप देखेंगे कि एक विशालकाय घड़ियाल अपनी लम्बी तथा काँटेदार दुम को बाएँ-दाहिने बार-बार फेरता तथा पानी को उछालता हुआ अपना कराल जबड़ा फैलाए चक्कर लगा रहा है कि इतने में नदी के प्रबल वेग से प्रवाहित होकर चाँदी की तरह चमकती हुई एक बड़ी मछली उसके भयंकर डाढ़ों के बीच जा गिरती है और वह आँख मूँद कर धीरे से उसे निगल जाता है और डकार तक नहीं लेता। वहीं पर पनडुब्बी चिड़िया की भी करामात देखिए। पानी की सतह से प्रायः एक ताड़ की ऊँचाई पर

लपलपाते हुए अपने दोनों डैनों के बल पर अपनी तेज आँखों और चोंच से पानी की ओर निशाना ठीक करती हुई क्षणमात्र के लिए वह स्थिर-सी हो जाती है और निमेषमात्र में वह उसी ऊँचाई से जल पर मानों छुप-सी चू जाती है और किसी छोटी मछली को अपनी चोंच से पकड़ कर ले भागती है। अब जरा जंगल की ओर चलें और व्याघ्र महोदय के आखेट-कौशल का तमाशा देखें। दिन भर तो वह मक्खियों के भय से किसी अन्धेरी झाड़ी में छिपकर ऊँघता रहता है। पर ज्योंही भगवान् भास्कर पश्चिम क्षितिज के नीचे विलीन हो जाते हैं, वह अंगड़ाई लेकर अपनी चमकीली आँखें खोलता है और मूँछ फट-कारता हुआ शिकार की खोज में धीरे-धीरे चल पड़ता है। पावों में कुदरती गद्दे लगे रहने के कारण उसके भ्रमण में किसी प्रकार का शब्द नहीं होता। दिन भर मृदुल दूर्वांकुरों का रसास्वादन कर संध्या के समय किसी निरापद-मन्य स्थान पर बैठा हुआ मृगयूथ निःशंक भाव से पागुर कर रहा है कि इतने में किसी अभागे मृग के ऊपर साक्षात् अन्तक की तरह वह बाघ अकस्मात् आकर चढ़ बैठता है और उसे अपने रक्त-रंजित जबड़े में दबाए किसी अज्ञात वनस्थली की ओर चम्पत हो जाता है।

मनुष्य के प्रति मनुष्य के अत्याचार

यह तो हाल है पशु-पक्षियों का जो अपनी नैसर्गिक प्रेरणा तथा कार्याकार्य विवेक-हीनता के कारण अपने निर्बल भाइयों पर नाना प्रकार के अत्याचार निरन्तर कर रहे हैं। अब हाल सुनिए मानव प्राणी का जो अशरफुलमखलूकात् (सभी जन्तुओं का सिर मौर) तथा सदसद् विचारशील होने का दम भरता है। यदि मनुष्य के काले कारनामों की सूची तैयार करनी हो तो आप इतिहास के रक्त-रंजित तथा रोमहर्षण पन्नों को उलटिए और देखिए कि मनुष्य ने मनुष्य का सर्वनाश करने के लिए कौन सा उपाय रचने से बाज आया? मानव-पशुता के सामने तैर्यग-पशुता भी झेंप जाती है। अभी हाल में (सन् १९३९ से १९४५ ई० तक) जो विश्वव्यापी महासमर हो गया है उसके द्वारा हमें मानव-प्रकृति की विलक्षण क्रूरता का पता मिलता है। मनुष्य ने विविध प्रलयकारी अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग कर न मालूम अपने कितने भाइयों को यमधाम पठा दिया, कितने लम्बे-चौड़े भूभाग की फसल नष्ट कर उनके आहार छीन लिए, उनके कितने गावों और शहरों को जलाकर खाक कर दिया, उनकी कितनी अपार दौलत लूटकर उन्हें चिरकाल के लिए भिखारी बना दिया। गत महासमर ने न मालूम कितने माँ-बहनों का सौभाग्य-सिन्दूर उनके ललाट से पोंछ डाला, कितने अबोध बच्चों को अनाथ बना दिया, कितने बूढ़े-बुढ़ियों के बुढ़ापे का सहारा छीन लिया। यदि मनुष्य की काली करतूतों की सूची तैयार करने स्वयं सरस्वती भी बैठें तो उनकी लेखनी फेल कर जाय।

लपलपाते हुए अपने दोनों डैनों के बल पर अपनी तेज आँखों और चोंच से पानी की ओर निशाना ठीक करती हुई क्षणमात्र के लिए वह स्थिर-सी हो जाती है और निमेषमात्र में वह उसी ऊँचाई से जल पर मानों छप-सी चू जाती है और किसी छोटी मछली को अपनी चोंच से पकड़ कर ले भागती है। अब जरा जंगल की ओर चलें और व्याघ्र महोदय के आखेट-कौशल का तमाशा देखें। दिन भर तो वह मक्खियों के भय से किसी अन्धेरी झाड़ी में छिपकर ऊँघता रहता है। पर ज्योंही भगवान् भास्कर पश्चिम क्षितिज के नीचे विलीन हो जाते हैं, वह अंगड़ाई लेकर अपनी चमकीली आँखें खोलता है और मूँछ फट-कारता हुआ शिकार की खोज में धीरे-धीरे चल पड़ता है। पावों में कुदरती गद्दे लगे रहने के कारण उसके भ्रमण में किसी प्रकार का शब्द नहीं होता। दिन भर मृदुल दूर्वांकुरों का रसास्वादन कर संध्या के समय किसी निरापद-मन्य स्थान पर बैठा हुआ मृगयूथ निःशंक भाव से पागुर कर रहा है कि इतने में किसी अभागे मृग के ऊपर साक्षात् अन्तक की तरह वह बाघ अकस्मात् आकर चढ़ बैठता है और उसे अपने रक्त-रंजित जबड़े में दबाए किसी अज्ञात वनस्थली की ओर चम्पत हो जाता है।

मनुष्य के प्रति मनुष्य के अत्याचार

यह तो हाल है पशु-पक्षियों का जो अपनी नैसर्गिक प्रेरणा तथा कार्याकार्य विवेक-हीनता के कारण अपने निर्बल भाइयों पर नाना प्रकार के अत्याचार निरन्तर कर रहे हैं। अब हाल सुनिए मानव प्राणी का जो अशरफुल्मखलूकात् (सभी जन्तुओं का सिर मौर) तथा सदसद् विचारशील होने का दम भरता है। यदि मनुष्य के काले कारनामों की सूची तैयार करनी हो तो आप इतिहास के रक्त-रंजित तथा रोमहर्षण पन्नों को उलटिए और देखिए कि मनुष्य ने मनुष्य का सर्वनाश करने के लिए कौन सा उपाय रचने से बाज आया? मानव-पशुता के सामने तैर्यग-पशुता भी झेंप जाती है। अभी हाल में (सन् १९३९ से १९४५ ई० तक) जो विश्वव्यापी महासमर हो गया है उसके द्वारा हमें मानव-प्रकृति की विलक्षण क्रूरता का पता मिलता है। मनुष्य ने विविध प्रलयकारी अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग कर न मालूम अपने कितने भाइयों को यमधाम पठा दिया, कितने लम्बे-चौड़े भूभाग की फसल नष्ट कर उनके आहार छीन लिए, उनके कितने गावों और शहरों को जलाकर खाक कर दिया, उनकी कितनी अपार दौलत लूटकर उन्हें चिरकाल के लिए भिखारी बना दिया। गत महासमर ने न मालूम कितने माँ-बहनों का सौभाग्य-सिन्दूर उनके ललाट से पोंछ डाला, कितने अबोध बच्चों को अनाथ बना दिया, कितने बूढ़े-बुढ़ियों के बुढ़ापे का सहारा छीन लिया। यदि मनुष्य की काली करतूतों की सूची तैयार करने स्वयं सरस्वती भी बैठें तो उनकी लेखनी फेल कर जाय।

सारी बुराइयाँ स्वार्थ-मूलक हैं

पर इन पैशाचिक लीलाओं की जड़ कहाँ है ? जड़ है उसी स्वार्थ-परता में जो प्राणि-मात्र के स्वभाव का मुख्यतम अंग है और जो एक ऐसी दुर्दमनीय वस्तु है कि उसका दमन सब किसी के लिए सुकर नहीं है। विश्व-कल्याण के इस प्रबल शत्रु पर जिन्होंने विजय पाई वस्तुतः वे ही महात्मा हैं; जिन्होंने परार्थ की वेदी पर स्वार्थ का बलिदान कर दिया, वस्तुतः वे ही महापुरुष हैं। पर महात्माओं की संख्या अति ही अल्प होती है। साधारण पत्थर के टुकड़े तो गली-कूचों में भी मारे-फिरते हैं; पर हीरा किसी-किसी खान में भाग्यवश ही मिलता है। बस, इसी प्रकार समझ लीजिए कि संसार में अच्छाई कम और बुराई अधिक क्यों है। विश्व में शान्ति-स्थापनार्थ न मालूम कितने अवतार और पैगम्बर आए और गला फाड़-फाड़ कर चिल्लाये और चले गये; पर विश्व ज्यों का त्यों अशान्त बना रहा। इस अशान्ति को न किसी वेद ने, न किसी कुरान ने, न किती बाइबिल ने और न किसी जेन्दाबस्ता ने आज तक हटाया; न भविष्य में उसके हट जाने की आशा है; क्योंकि अशान्ति ही विश्व की नैसर्गिक अवस्था है। पर इससे कोई यह न समझ ले कि शान्ति-स्थापना के लिए हमें प्रयत्न नहीं करना चाहिए। बल्कि जहाँ तक हो सके शान्ति स्थापन ही मानव-प्राणी का मुख्य कर्त्तव्य तथा चरम लक्ष्य होना चाहिए।

ज्ञान विकास विषयक सिद्धान्त

विचाराधीन विषय था कि सृष्टि के आदि में मनुष्य को ज्ञान किसने दिया। विपक्षियों के कुतर्कों तथा लचर दलीलों का आमूलोत्पाटन करते हुए यह सिद्ध कर दिया गया कि मनुष्य का जो स्वाभाविक ज्ञान है, जिसे वेदों के द्वारा किसी ईश्वर ने नहीं दिया, पर जो मनुष्य मात्र का सहज गुण है, वही उसका निःशेष ज्ञानों का मूलाधार है। उसी मौलिक तथा नैसर्गिक ज्ञान के द्वारा वह प्रकृति का अध्ययन, पर्यवेक्षण आदि करता तथा अपने अनुभवों को परिवर्तित करता हुआ सौ-दो सौ वर्षों में नहीं, बल्कि लाखों वर्षों में ज्ञान के वर्त्तमान प्रौढ़ अवस्था को प्राप्त हुआ है। जंगली जातियाँ भी अपने यहाँ की जलवायु तथा अपने मस्तिष्क की रचना आदि के अनुसार ज्ञान-पथ पर अवश्य ही अग्रसर हुए हैं और यदि उन्हें योग्य गुरु मिल जायँ तो सम्भव है कि वे भी उन्नत जातियों के समकक्ष बन जायँ। जो लोग कहते हैं कि प्रकृति जड़ है, वह किसी ज्ञान की उपदेशिका नहीं बन सकती, वे स्वयं जड़ हैं। प्रकृति तो ऐसे-ऐसे अलौकिक ज्ञानों का उपदेश करती है जिन्हें चारों क्या हजारों वेद भी नहीं सिखा सकते। विपक्षियों की यह दलील भी कि मनुष्य के बच्चों को किसी निर्जन स्थान में बन्द करके रखने पर उनमें पचासों वर्ष में भी ज्ञान का अंकुर तक भी नहीं उगता, उसी प्रकार मूर्खतापूर्ण है। क्योंकि वे लाखों वर्ष का काम केवल सौ-पचास वर्षों में ही कर दिखाना चाहते हैं; वे सूर्य का काम जुगनू से लिया चाहते हैं।

सारी बुराइयाँ स्वार्थ-मूलक हैं

पर इन पैशाचिक लीलाओं की जड़ कहाँ है ? जड़ है उसी स्वार्थ-परता में जो प्राणि-मात्र के स्वभाव का मुख्यतम अंग है और जो एक ऐसी दुर्दमनीय वस्तु है कि उसका दमन सब किसी के लिए सुकर नहीं है। विश्व-कल्याण के इस प्रबल शत्रु पर जिन्होंने विजय पाई वस्तुतः वे ही महात्मा हैं; जिन्होंने परार्थ की वेदी पर स्वार्थ का बलिदान कर दिया, वस्तुतः वे ही महापुरुष हैं। पर महात्माओं की संख्या अति ही अल्प होती है। साधारण पत्थर के टुकड़े तो गली-कूचों में भी मारे-फिरते हैं; पर हीरा किसी-किसी खान में भाग्यवश ही मिलता है। बस, इसी प्रकार समझ लीजिए कि संसार में अच्छाई कम और बुराई अधिक क्यों है। विश्व में शान्ति-स्थापनार्थ न मालूम कितने अवतार और पैगम्बर आए और गला फाड़-फाड़ कर चिल्लाये और चले गये; पर विश्व ज्यों का त्यों अशान्त बना रहा। इस अशान्ति को न किसी वेद ने, न किसी कुरान ने, न किसी बाइबिल ने और न किसी जेन्दाबस्ता ने आज तक हटाया; न भविष्य में उसके हट जाने की आशा है; क्योंकि अशान्ति ही विश्व की नैसर्गिक अवस्था है। पर इससे कोई यह न समझ ले कि शान्ति-स्थापना के लिए हमें प्रयत्न नहीं करना चाहिए। बल्कि जहाँ तक हो सके शान्ति स्थापन ही मानव-प्राणी का मुख्य कर्त्तव्य तथा चरम लक्ष्य होना चाहिए।

ज्ञान विकास विषयक सिद्धान्त

विचाराधीन विषय था कि सृष्टि के आदि में मनुष्य को ज्ञान किसने दिया। विपक्षियों के कुतर्कों तथा लचर दलीलों का आमूलोत्पाटन करते हुए यह सिद्ध कर दिया गया कि मनुष्य का जो स्वाभाविक ज्ञान है, जिसे वेदों के द्वारा किसी ईश्वर ने नहीं दिया, पर जो मनुष्य मात्र का सहज गुण है, वही उसका निःशेष ज्ञानों का मूलाधार है। उसी मौलिक तथा नैसर्गिक ज्ञान के द्वारा वह प्रकृति का अध्ययन, पर्यवेक्षण आदि करता तथा अपने अनुभवों को परिवर्तित करता हुआ सौ-दो सौ वर्षों में नहीं, बल्कि लाखों वर्षों में ज्ञान के वर्त्तमान प्रौढ़ अवस्था को प्राप्त हुआ है। जंगली जातियाँ भी अपने यहाँ की जलवायु तथा अपने मस्तिष्क की रचना आदि के अनुसार ज्ञान-पथ पर अवश्य ही अग्रसर हुए हैं और यदि उन्हें योग्य गुरु मिल जायँ तो सम्भव है कि वे भी उन्नत जातियों के समकक्ष बन जायँ। जो लोग कहते हैं कि प्रकृति जड़ है, वह किसी ज्ञान की उपदेशिका नहीं बन सकती, वे स्वयं जड़ हैं। प्रकृति तो ऐसे-ऐसे अलौकिक ज्ञानों का उपदेश करती है जिन्हें चारों क्या हजारों वेद भी नहीं सिखा सकते। विपक्षियों की यह दलील भी कि मनुष्य के बच्चों को किसी निर्जन स्थान में बन्द करके रखने पर उनमें पचासों वर्ष में भी ज्ञान का अंकुर तक भी नहीं उगता, उसी प्रकार मूर्खतापूर्ण है। क्योंकि वे लाखों वर्ष का काम केवल सौ-पचास वर्षों में ही कर दिखाना चाहते हैं; वे सूर्य का काम जुगनू से लिया चाहते हैं।

वे विश्व जैसे विस्तीर्ण महाविद्यालय का काम केवल एक काली कोठरी से लिया चाहते हैं।

पौरुषेयता-विषयक वैदिक प्रमाण

वेद अपौरुषेय है, प्रतिवर्ष के इस दावे का खंडन, 'मुद्दई सुस्त, पर गवाह चुस्त' वाली कहावत के अनुसार स्वयं वेद ही कर देते हैं। वेदों का प्रत्येक मंत्र, यदि उसके अर्थ और भाव पर आप विचार करें, तो आपको साफ-साफ कह देगा कि वह किसी ईश्वर की रचना न होकर किसी मनुष्य की रचना है। इसकी पुष्टि में नीचे कतिपय वेद मंत्रों का हवाला दिया जाता है—

(१) सर्वप्रथम गायत्री मंत्र को ही लीजिए जो इतनी पवित्र समझी जाती है कि वह वेद माता कही जाती है—

मंत्र—तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो योनः प्रचोदयात् ॥ ऋग्वेद ३।६२, १०।

अन्वय—सवितुः देवस्यतत् वरेण्यं भर्गः धीमहि यः नः धियः प्रचोदयात्।

अर्थ—समस्त जगत् को उत्पन्न करनेवाले सविता देव के परम-प्रसिद्ध तथा सर्वश्रेष्ठ तेज का हम लोग स्मरण करें जो हम लोगों की बुद्धियों को सत्कर्म में प्रेरित करते हैं।

समीक्षा—यदि इस मंत्र को ईश्वर की उक्ति मानते हो तो तुम्हें यह भी मानना पड़ेगा कि ईश्वर से बड़ा कोई अन्य देवता भी है जिसके तेज को तुम्हारा ईश्वर ध्यान करता और अपनी बुद्धियों को सत्कर्म में प्रेरित करने के लिए जिसकी वह प्रार्थना किया करता है। पर यह बात मानने योग्य नहीं; क्योंकि ईश्वरवादी ईश्वर से भी बड़े किसी अन्य ईश्वर की कल्पना नहीं करते। वे जो परमतत्व हैं उसी को ईश्वर-संज्ञा देते हैं; अतः गायत्री मंत्र रूपी उक्त वचन किसी मनुष्य का ही हो सकता है।

इसी प्रकार ऋग्वेद, ३रे मंडल, ६२वें सूक्त के ३रे, ११वें, १४वें, और १५वें मंत्र को भी लीजिए और निष्पक्ष होकर विचार कीजिए कि ये प्रार्थनाएँ किसी परमात्मा की हो सकती हैं या किसी प्रार्थी मनुष्य की जो पुत्र, धन, पशु और अपनी आयु की वृद्धि चाहता है—

(२) अस्मै तदिन्द्रा वरुण वसुस्यादस्मे रयि मरुतः सर्ववीरः। अस्मान्वः रूत्रीः शरणैरवन्त्वस्मान् होत्रा भारती'दक्षिणाभिः ॥३।६२।३॥

अन्वय—(हे) इन्द्रावरुण ! अस्मेतत् वसु स्यात्, (हे) मरुतः ! अस्मै सर्व-वीरः रयिः (स्यात्), अस्मान् वरूत्रीः शरणैः अवन्तु, अस्मान् होत्रा (तथा) भारती दक्षिणाभिः (अवन्तु)

अर्थ—हे इन्द्रावरुण देवो ! हम लोगों को अभिलषित धन प्राप्त हो; हम लोगों को सर्व कर्म समर्थ पुत्र तथा गो, पशु, हिरण्यादि धन मिले; देवियाँ हमारी अभिभाविकाएँ

वे विश्व जैसे विस्तीर्ण महाविद्यालय का काम केवल एक काली कोठरी से लिया चाहते हैं।

पौरुषेयता-विषयक वैदिक प्रमाण

वेद अपौरुषेय है, प्रतिवर्ष के इस दावे का खंडन, 'मुद्दई सुस्त, पर गवाह चुस्त' वाली कहावत के अनुसार स्वयं वेद ही कर देते हैं। वेदों का प्रत्येक मंत्र, यदि उसके अर्थ और भाव पर आप विचार करें, तो आपको साफ-साफ कह देगा कि वह किसी ईश्वर की रचना न होकर किसी मनुष्य की रचना है। इसकी पुष्टि में नीचे कतिपय वेद मंत्रों का हवाला दिया जाता है—

(१) सर्वप्रथम गायत्री मंत्र को ही लीजिए जो इतनी पवित्र समझी जाती है कि वह वेद माता कही जाती है—

मंत्र—तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो योनः प्रचोदयात् ॥ ऋग्वेद ३। ६२, १०।

अन्वय—सवितुः देवस्यतत् वरेण्यं भर्गः धीमहि यः नः धियः प्रचोदयात्।

अर्थ—समस्त जगत् को उत्पन्न करनेवाले सविता देव के परम-प्रसिद्ध तथा सर्वश्रेष्ठ तेज का हम लोग स्मरण करें जो हम लोगों की बुद्धियों को सत्कर्म में प्रेरित करते हैं।

समीक्षा—यदि इस मंत्र को ईश्वर की उक्ति मानते हो तो तुम्हें यह भी मानना पड़ेगा कि ईश्वर से बड़ा कोई अन्य देवता भी है जिसके तेज को तुम्हारा ईश्वर ध्यान करता और अपनी बुद्धियों को सत्कर्म में प्रेरित करने के लिए जिसकी वह प्रार्थना किया करता है। पर यह बात मानने योग्य नहीं; क्योंकि ईश्वरवादी ईश्वर से भी बड़े किसी अन्य ईश्वर की कल्पना नहीं करते। वे जो परमतत्व हैं उसी को ईश्वर-संज्ञा देते हैं; अतः गायत्री मंत्र रूपी उक्त वचन किसी मनुष्य का ही हो सकता है।

इसी प्रकार ऋग्वेद, ३रे मंडल, ६२वें सूक्त के ३रे, ११वें, १४वें, और १५वें मंत्र को भी लीजिए और निष्पक्ष होकर विचार कीजिए कि ये प्रार्थनाएँ किसी परमात्मा की हो सकती हैं या किसी प्रार्थी मनुष्य की जो पुत्र, धन, पशु और अपनी आयु की वृद्धि चाहता है—

(२) अस्मै तदिन्द्रा वरुण वसुस्यादस्मे रयि मरुतः सर्ववीरः। अस्मान्वः रूत्रीः शरणैरवन्त्वस्मान् होत्रा भारती'दक्षिणाभिः ॥३।६२।३॥

अन्वय—(हे) इन्द्रावरुण ! अस्मेतत् वसु स्यात्, (हे) मरुतः ! अस्मै सर्व-वीरः रयिः (स्यात्), अस्मान् वरूत्रीः शरणैः अवन्तु, अस्मान् होत्रा (तथा) भारती दक्षिणाभिः (अवन्तु)

अर्थ—हे इन्द्रावरुण देवो ! हम लोगों को अभिलषित धन प्राप्त हो; हम लोगों को सर्व कर्म समर्थ पुत्र तथा गो, पशु, हिरण्यादि धन मिले; देवियाँ हमारी अभिभाविकाएँ

बनकर गृहादि शरण-स्थानों के द्वारा हमारी रक्षा करें और अग्नि, पानी, होत्रा तथा सूर्यपत्नी भारती दान-दक्षिणाओं या उदार वाणियों के द्वारा हमारा पालन करें ।

(३) देवस्य सवितुर्वयं वा जयन्तः पुरन्ध्या भगस्य राति मीमहे ॥ ऋग्वेद ३।६२।११

अन्वय—वयं वाजयन्तः (सन्तः) सवितुः देवस्य भगस्य रातिं पुरन्ध्या ईमहे ।

अर्थ—हम लोग धनाभिलाषी होकर जगदुत्पादक सविता देव से धन-दान की याचना स्तुति द्वारा करते हैं ।

(४) सोमः अस्मभ्यं द्विपदे चतुष्पदे चपशवे । अनमीना इषस्करत् ॥ ऋग्वेद ३ । ६२ । १४ ॥

अर्थ—सोम देव हमारे लिए तथा दो पैरवालों (भृत्यों) और चार पैरवालों (गो आदि पशुओं) के लिए रोग-रहित अन्नों का उत्पादन करें ।

(५) अस्माकमायुर्वर्द्धयन भिमानीः सहमानः । सोमः सधस्थमासदत् ॥

अन्वय–सोम अस्माकम् आयुः वर्द्धयन् (तथा) अभिमानीः सहमानः सधस्थम् आसदत् ।

अर्थ—सोमदेव हमारी आयु को बढ़ाते तथा हमारे शत्रुओं का नाश करते हुए हमारे यज्ञस्थान में आकर बैठें ।

अब यजुर्वेद का एक मंत्र लीजिए । यह बहुत ही प्रसिद्ध मंत्र है—

(६) विश्वानि देव सवितुर्दुरितानि परासुव । यद् भद्रंतन्न आसुव ॥ युजुर्वेद अध्याय ३०, मंत्र ३ ॥

अन्वय—(हे) सवितः देव ! नः विश्वानि दुरितानि परासुव, यत् भद्रं तत् आसुव ।

अर्थ—हे समस्त जगत् के उत्पन्न करने वाले सविता देव ! हमारे सभी दुःखों और दुर्गुणों को दूर कीजिए और जो कल्याणकारी पदार्थ हों उन्हें प्रदान कीजिए ।

अवश्य ही यह मनुष्य का वचन है । यदि इसे ईश्वर का वचन मानते हो तो, तुम्हें उसे दुःखी और दुष्ट भी मानना पड़ेगा और यह भी मानना पड़ेगा कि वह अपने से भी बड़े किसी अन्य देवता से अपने कल्याण की याचना करता है । ऐसे-ऐसे अनेक वेद मंत्रों का हवाला दिया जा सकता है जो स्वयं अपौरुषेय-वाद के मिथ्यापक्ष का भंडाफोड़ कर देते हैं । यदि कहो कि ईश्वर इन मंत्रों के द्वारा हम लोगों को प्रार्थना करने का ढंग बतलाता है जिसमें हम लोगों का ऐहिक और पारलौकिक कल्याण हो सके तो ऐसा मानना केवल तुम्हारी कपोल-कल्पना है जिसका वेदों में कहीं पर भी प्रमाण नहीं है । यदि ईश्वर उक्त मंत्रों के द्वारा अपने उपासकों को प्रार्थना करने का ढंग बताया होता तो वेदों की रचना भगवद्गीता के ढंग पर वक्ता और श्रोता के बीच पारस्परिक संवाद के रूप में हुई होती । जिस प्रकार भगवद्गीता में श्री कृष्ण को उपदेष्टा (वक्ता) और अर्जुन को उपदेश्य (श्रोता) के पद पर बरांबर रखते हुए निःशेष ज्ञान का उपदेश दिया गया है उसी प्रकार की कोई

बनकर गृहादि शरण-स्थानों के द्वारा हमारी रक्षा करें और अग्नि, पानी, होत्रा तथा सूर्यपत्नी भारती दान-दक्षिणाओं या उदार वाणियों के द्वारा हमारा पालन करें।

(३) देवस्य सवितुर्वयं वा जयन्तः पुरन्ध्या भगस्य रातिमीमहे ॥ ऋग्वेद ३।६२।११

अन्वय—वयं वाजयन्तः (सन्तः) सवितुः देवस्य भगस्य रातिं पुरन्ध्या ईमहे।

अर्थ—हम लोग धनाभिलाषी होकर जगदुत्पादक सविता देव से धन-दान की याचना स्तुति द्वारा करते हैं।

(४) सोमः अस्मभ्यं द्विपदे चतुष्पदे चपशवे। अनमीना इषस्करत् ॥ ऋग्वेद ३। ६२। १४ ॥

अर्थ—सोम देव हमारे लिए तथा दो पैरवालों (भृत्यों) और चार पैरवालों (गो आदि पशुओं) के लिए रोग-रहित अन्नों का उत्पादन करें।

(५) अस्माकमायुर्वर्द्धयन भिमानीः सहमानः। सोमः सधस्थमासदत् ॥

अन्वय—सोम अस्माकम् आयुः वर्द्धयन् (तथा) अभिमानीः सहमानः सधस्थम् आसदत्।

अर्थ—सोमदेव हमारी आयु को बढ़ाते तथा हमारे शत्रुओं का नाश करते हुए हमारे यज्ञस्थान में आकर बैठें।

अब यजुर्वेद का एक मंत्र लीजिए। यह बहुत ही प्रसिद्ध मंत्र है—

(६) विश्वानि देव सवितुर्दुरितानि परासुव। यद् भद्रंतन्न आसुव ॥ युजुर्वेद अध्याय ३०, मंत्र ३ ॥

अन्वय—(हे) सवितः देव ! नः विश्वानि दुरितानि परासुव, यत् भद्रं तत् आसुव।

अर्थ—हे समस्त जगत् के उत्पन्न करने वाले सविता देव ! हमारे सभी दुःखों और दुर्गुणों को दूर कीजिए और जो कल्याणकारी पदार्थ हों उन्हें प्रदान कीजिए।

अवश्य ही यह मनुष्य का वचन है। यदि इसे ईश्वर का वचन मानते हो तो, तुम्हें उसे दुःखी और दुष्ट भी मानना पड़ेगा और यह भी मानना पड़ेगा कि वह अपने से भी बड़े किसी अन्य देवता से अपने कल्याण की याचना करता है। ऐसे-ऐसे अनेक वेद मंत्रों का हवाला दिया जा सकता है जो स्वयं अपौरुषेय-वाद के मिथ्यापक्ष का भंडाफोड़ कर देते हैं। यदि कहो कि ईश्वर इन मंत्रों के द्वारा हम लोगों को प्रार्थना करने का ढंग बतलाता है जिसमें हम लोगों का ऐहिक और पारलौकिक कल्याण हो सके तो ऐसा मानना केवल तुम्हारी कपोल-कल्पना है जिसका वेदों में कहीं पर भी प्रमाण नहीं है। यदि ईश्वर उक्त मंत्रों के द्वारा अपने उपासकों को प्रार्थना करने का ढंग बताया होता तो वेदों की रचना भगवद्गीता के ढंग पर वक्ता और श्रोता के बीच पारस्परिक संवाद के रूप में हुई होती। जिस प्रकार भगवद्गीता में श्री कृष्ण को उपदेष्टा (वक्ता) और अर्जुन को उपदेश्य (श्रोता) के पद पर बराबर रखते हुए निःशेष ज्ञान का उपदेश दिया गया है उसी प्रकार की कोई

प्रणाली वेदों की रचना में भी देखी गई होती। नमूने के लिए गीता के इन श्लोकों को लीजिए—'मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य, येऽपिस्युः पाप योनयः। स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्' ॥ पुनश्च—'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु। मामेवैष्यसियुक्तैव मात्मनं मत्परायणः' ॥ पुनश्च 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते। इति मत्वा भजन्ते मां बुधाभाव समन्विताः' ॥ पुनश्च 'मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय। निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः' ॥ इत्यादि। कहने का तात्पर्य यह कि यदि वेद ईश्वर के उपदेशात्मक वा शिक्षणात्मक वचन होते तो उनकी रचना-शैली वक्ता और श्रोता के रूप में होती। ईश्वर का शिक्षा वा उपदेश देना तो दूर रहा, उसने वेदों में कहीं पर भी अपनी सत्ता-मात्र का भी निर्देश, जो उत्तम पुरुष (First Person) में होना चाहिए नहीं किया है। प्रार्थना, उपदेश आदि सभी कार्य्य मंत्रकर्ता ऋषियों के ही हैं।

वेद नित्य हैं या अनित्य

इसी तरह का बेसिर-पैर का प्रश्न वेदों की नित्यता किम्वा अनित्यता-विषयक है। कितने वेदों को नित्य तथा कितने उन्हें अनित्य मानते हैं। यद्यपि हम पूर्व में कह आए हैं कि वेद अपौरुषेय नहीं अपितु पौरुषेय अर्थात् पुरुष (मनुष्य) कृत हैं, जिससे पाठकों को स्वयं अर्थापत्ति द्वारा यह समझ लेना चाहिए कि जैसे घटपट आदि मनुष्यकृत चीजें नित्य (Aternal) नहीं होतीं वैसे ही वेद मनुष्य कृत होने के कारण कदापि नित्य नहीं हो सकते; तो भी उनकी जानकारी के लिए वेदों के नित्यवादी तथा अनित्यवादी, दोनों पक्षों की दलीलें यहाँ दी जाती हैं जिनसे वे स्वयं अपना निर्णय कर लें।

वेदों की नित्यता-पोषक पूर्व मीमांसकों की दलीलें

सर्वप्रथम हम यह दिखाएँगे कि महर्षि जैमिनि-कृत पूर्व मीमांसा के अनुयायी वेदों की नित्यता की पुष्टि में कौन सा प्रमाण तथा कौन सी दलील पेश करते हैं। मीमांसकों का परम मान्य ग्रन्थ है—शबरस्वामि-कृत जैमिनीय सूत्रों का भाष्य जिसमें वेदों की नित्यता एक विलक्षण ढंग से सिद्ध करने की चेष्टा की गई है। शबरस्वामी अपने भाष्य में लिखते हैं—'यच्च एते पदसंघाताः पुरुषकृताः दृश्यन्ते इति परिहृतं तदस्मरणादिभिः'; अर्थात् किस पुरुष ने इन पदसंघातों (वेदों) को बनाया, यह चर्चा ही, रचयिता के स्मरण नहीं होने से, छोड़ दी गई। यदि यह मान भी लिया जाय कि वेदों के रचयिता का किसी को स्मरण नहीं है तो भी उससे वेदों की नित्यता नहीं सिद्ध हो सकती। एक उदाहरण लीजिए। रात के समय, गवई में, हमारे अनपढ़ भोले-भाले दिहाती भाई जिन कुँवर विजयमल लोरिकायत, बिहुला, सोरठी आदि ग्राम्य-गीतों को गाया करते हैं उन गीतों के रचियतों का आज तक पता नहीं लगा। इसी प्रकार हमारी माँ-बहनें जिन गीतों को ब्याह-शादियों या चेचक की निकसारी गाया करती हैं उन गीतों के भी रचयिता आज तक ला-मालूम हैं। उनके नाम-धाम

प्रणाली वेदों की रचना में भी देखी गई होती। नमूने के लिए गीता के इन श्लोकों को लीजिए—'मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य, येऽपिस्युः पाप योनयः। स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्' ॥ पुनश्च—'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु। मामेवैष्यसियुक्त्वैव मात्मनं मत्परायणः' ॥ पुनश्च 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते। इति मत्वा भजन्ते मां बुधाभाव समन्विताः' ॥ पुनश्च 'मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय। निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः' ॥ इत्यादि। कहने का तात्पर्य यह कि यदि वेद ईश्वर के उपदेशात्मक वा शिक्षणात्मक वचन होते तो उनकी रचना-शैली वक्ता और श्रोता के रूप में होती। ईश्वर का शिक्षा वा उपदेश देना तो दूर रहा, उसने वेदों में कहीं पर भी अपनी सत्ता-मात्र का भी निर्देश, जो उत्तम पुरुष (First Person) में होना चाहिए नहीं किया है। प्रार्थना, उपदेश आदि सभी कार्य्य मंत्रकर्ता ऋषियों के ही हैं।

वेद नित्य हैं या अनित्य

इसी तरह का बेसिर-पैर का प्रश्न वेदों की नित्यता किम्वा अनित्यता-विषयक है। कितने वेदों को नित्य तथा कितने उन्हें अनित्य मानते हैं। यद्यपि हम पूर्व में कह आए हैं कि वेद अपौरुषेय नहीं अपितु पौरुषेय अर्थात् पुरुष (मनुष्य) कृत हैं, जिससे पाठकों को स्वयं अर्थापत्ति द्वारा यह समझ लेना चाहिए कि जैसे घटपट आदि मनुष्यकृत चीजें नित्य (Aternal) नहीं होतीं वैसे ही वेद मनुष्य कृत होने के कारण कदापि नित्य नहीं हो सकते; तो भी उनकी जानकारी के लिए वेदों के नित्यवादी तथा अनित्यवादी, दोनों पक्षों की दलीलें यहाँ दी जाती हैं जिनसे वे स्वयं अपना निर्णय कर लें।

वेदों की नित्यता-पोषक पूर्व मीमांसकों की दलीलें

सर्वप्रथम हम यह दिखाएँगे कि महर्षि जैमिनि-कृत पूर्व मीमांसा के अनुयायी वेदों की नित्यता की पुष्टि में कौन सा प्रमाण तथा कौन सी दलील पेश करते हैं। मीमांसकों का परम मान्य ग्रन्थ है—शवरस्वामि-कृत जैमिनीय सूत्रों का भाष्य जिसमें वेदों की नित्यता एक विलक्षण ढंग से सिद्ध करने की चेष्टा की गई है। शवरस्वामी अपने भाष्य में लिखते हैं—'यच्च एते पदसंघाताः पुरुषकृताः दृश्यन्ते इति परिह्रतं तदस्मरणादिभिः'; अर्थात् किस पुरुष ने इन पदसंघातों (वेदों) को बनाया, यह चर्चा ही, रचयिता के स्मरण नहीं होने से, छोड़ दी गई। यदि यह मान भी लिया जाय कि वेदों के रचयिता का किसी को स्मरण नहीं है तो भी उससे वेदों की नित्यता नहीं सिद्ध हो सकती। एक उदाहरण लीजिए। रात के समय, गवई में, हमारे अनपढ़ भोले-भाले दिहाती भाई जिन कुँवर विजयमल लोरिकायत, विहुला, सोरठी आदि ग्राम्य-गीतों को गाया करते हैं उन गीतों के रचियतों का आज तक पता नहीं लगा। इसी प्रकार हमारी माँ-बहनें जिन गीतों को ब्याह-शादियों या चेचक की निकसारी गाया करती हैं उन गीतों के भी रचयिता आज तक ला-मालूम है। उनके नाम-धाम

आदि विस्मृति के गर्भ में सदा के लिए विलीन हो गए। तो क्या हम इन गीतों को भी इसी से नित्य मान लें ? यदि कहो कि इन गीतों के रचयिता कोई न कोई अवश्य होंगे तो हम भी कह सकते हैं कि वेदों के रचयिता अवश्य ही कोई होंगे; अतः वे अनित्य हैं।

शब्दों और वर्णों की नित्यता

वेदों की नित्यता सिद्ध करने के लिए मीमांसकगण जो दूसरी युक्ति देते हैं वह स्थूल दृष्टि से देखने पर विश्वासयोग्य तो जान पड़ती है, पर तर्क की कसौटी पर कसकर उसे सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर सन्तोषजनक नहीं प्रतीत होती। उनका कहना है कि शब्द नित्य है और वेद शब्दमय है अतः वह भी नित्य है। वर्णों की नित्यता सिद्ध करने के लिए वे यह दलील पेश करते हैं कि क, ख, ग, घ आदि जितने वर्ण हैं उनकी उत्पत्ति नहीं होती केवल उनकी अभिव्यक्ति होती है। कंठ, तालु, दन्त, ओष्ठ आदि मुखावयवों के आघात उनके उत्पादक नहीं, बल्कि केवल उनके अभिव्यंजक हैं। वे तो शब्दमय होने के कारण आकाश में सदा वर्त्तमान रहते हैं। मुखावयवों द्वारा वे केवल श्रुतिगोचर किए जाते हैं। उत्पत्ति और अभिव्यक्ति का भेद एक उदाहरण द्वारा समझाया जाता है। घट का मिट्टी से जो बनना है, वह उसकी उत्पत्ति और घर में पड़े हुए, पर अन्धेरे के कारण नहीं दीखते हुए घट को जो दीपक जलाकर देखता है वह उसकी अभिव्यक्ति है। घट तो पहले से ही विद्यमान था। दीपक जलाकर केवल उसे दृष्टिगोचर किया गया। अभिव्यक्ति उसी की होती है जो अभिव्यक्त होने के पूर्व विद्यमान हो; फिर चाहे वह अनादि-सिद्ध होकर विद्यमान हो चाहे उत्पन्न होकर विद्यमान हो; अभिव्यंजन व्यापार में कोई अन्तर नहीं रहता।

प्रत्यभिज्ञा प्रमाण

वर्णों को नित्य सिद्ध करने के लिए मीमांसक लोग एक दूसरी दलील भी पेश करते हैं। हजारों जगह हजारों वक्ताओं के द्वारा उच्चारित होने पर भी वर्णों की 'वे ही ये हैं' ऐसी पहचान हमें बिना हुए नहीं रहती। यदि वर्ण अनित्य होते तो उनके प्रत्येक बार के उच्चारण में भिन्नता होने से 'वे ही ये हैं' ऐसी पहचान नहीं हो सकती। इसे शास्त्रकार प्रत्यभिज्ञा प्रमाण कहते हैं। प्रत्यभिज्ञा प्रमाण द्वारा वर्णों के नित्य सिद्ध होने से हमें यही मानना पड़ेगा कि वर्णों का उत्पादन नहीं होता; बल्कि उनका केवल अभिव्यंजन होता है।

शब्दों की नित्यता

मीमांसकगण वर्णों की तरह घट, पट, आदि शब्दों को भी नित्य मानते हैं। इस कारण नहीं कि वे नित्य माने जाने वाले वर्णों के ही समुदाय हैं। बल्कि इस कारण कि वे भी अमनुष्य-कृत अर्थात् अपौरुषेय हैं। जैमिनि मुनि का कथन है कि वर्णों का समुदाय ही नहीं हो सकता; क्योंकि अनेक वर्ण युगपत् अर्थात् एक ही काल में अभिव्यक्त नहीं होते।

आदि विस्मृति के गर्भ में सदा के लिए विलीन हो गए। तो क्या हम इन गीतों को भी इसी से नित्य मान लें? यदि कहो कि इन गीतों के रचयिता कोई न कोई अवश्य होंगे तो हम भी कह सकते हैं कि वेदों के रचयिता अवश्य ही कोई होंगे; अतः वे अनित्य हैं।

शब्दों और वर्णों की नित्यता

वेदों की नित्यता सिद्ध करने के लिए मीमांसकगण जो दूसरी युक्ति देते हैं वह स्थूल दृष्टि से देखने पर विश्वासयोग्य तो जान पड़ती है, पर तर्क की कसौटी पर कसकर उसे सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर सन्तोषजनक नहीं प्रतीत होती। उनका कहना है कि शब्द नित्य है और वेद शब्दमय है अतः वह भी नित्य है। वर्णों की नित्यता सिद्ध करने के लिए वे यह दलील पेश करते हैं कि क, ख, ग, घ आदि जितने वर्ण हैं उनकी उत्पत्ति नहीं होती केवल उनकी अभिव्यक्ति होती है। कंठ, तालु, दन्त, ओष्ठ आदि मुखावयवों के आघात उनके उत्पादक नहीं, बल्कि केवल उनके अभिव्यंजक हैं। वे तो शब्दमय होने के कारण आकाश में सदा वर्त्तमान रहते हैं। मुखावयवों द्वारा वे केवल श्रुतिगोचर किए जाते हैं। उत्पत्ति और अभिव्यक्ति का भेद एक उदाहरण द्वारा समझाया जाता है। घट का मिट्टी से जो बनना है, वह उसकी उत्पत्ति और घर में पड़े हुए, पर अन्धेरे के कारण नहीं दीखते हुए घट को जो दीपक जलाकर देखता है वह उसकी अभिव्यक्ति है। घट तो पहले से ही विद्यमान था। दीपक जलाकर केवल उसे दृष्टिगोचर किया गया। अभिव्यक्ति उसी की होती है जो अभिव्यक्त होने के पूर्व विद्यमान हो; फिर चाहे वह अनादि-सिद्ध होकर विद्यमान हो चाहे उत्पन्न होकर विद्यमान हो; अभिव्यंजन व्यापार में कोई अन्तर नहीं रहता।

प्रत्यभिज्ञा प्रमाण

वर्णों को नित्य सिद्ध करने के लिए मीमांसक लोग एक दूसरी दलील भी पेश करते हैं। हजारों जगह हजारों वक्ताओं के द्वारा उच्चारित होने पर भी वर्णों की 'वे ही ये हैं' ऐसी पहचान हमें बिना हुए नहीं रहती। यदि वर्ण अनित्य होते तो उनके प्रत्येक बार के उच्चारण में भिन्नता होने से 'वे ही ये हैं' ऐसी पहचान नहीं हो सकती। इसे शास्त्रकार प्रत्यभिज्ञा प्रमाण कहते हैं। प्रत्यभिज्ञा प्रमाण द्वारा वर्णों के नित्य सिद्ध होने से हमें यही मानना पड़ेगा कि वर्णों का उत्पादन नहीं होता; बल्कि उनका केवल अभिव्यंजन होता है।

शब्दों की नित्यता

मीमांसकगण वर्णों की तरह घट, पट, आदि शब्दों को भी नित्य मानते हैं। इस कारण नहीं कि वे नित्य माने जाने वाले वर्णों के ही समुदाय हैं। बल्कि इस कारण कि वे भी अमनुष्य-कृत अर्थात् अपौरुषेय हैं। जैमिनि मुनि का कथन है कि वर्णों का समुदाय ही नहीं हो सकता; क्योंकि अनेक वर्ण युगपत् अर्थात् एक ही काल में अभिव्यक्त नहीं होते।

जिस समय 'व' उच्चारित होकर अभिव्यक्त होता है उस समय 'ट' अनभिव्यक्त रहता है और जिस समय 'ट' का उच्चारण करते हैं उस समम 'व' अनभिव्यक्त हो जाता है। तात्पर्य यह कि एक काल में अनेक वर्णों का अभिव्यक्त होना असंभव है; अतः शब्दों को आदमी नहीं बना सकता। वे स्वयंसिद्ध और नित्य हैं।

अर्थों की नित्यता

मीमांसक समुदाय यह भी जानता है कि शब्दों के साथ उनके अर्थों का नित्य संबन्ध होने से वे अर्थ भी नित्य हैं। यह सम्बन्ध मनुष्य-कृत न होकर स्वयंसिद्ध है। मनुष्य केवल उस सम्बन्ध का उपदेश मात्र है। वह केवल बतला देता है कि अमुक शब्द का यह अर्थ है। किसी भी काल वा किसी भी देश में एक वा अनेक मनुष्यों के द्वारा 'गो' शब्द का उच्चारण होते ही हमें चतुष्पद् जन्तु-विशेष का ज्ञान हो जाता है। ऐसा ज्ञान बिना हुए नहीं रहता; अतः शब्द के नित्य होने से उसके साथ अटूट सम्बन्ध रखने वाला अर्थ भी नित्य है। मीमांसकों के मत में वाक्यों में स्वतन्त्र रूप से कोई अर्थ-बोधन शक्ति नहीं रहती। उनका अर्थ तो अर्थवान् शब्दों के अन्योन्य सम्बन्ध से उत्पन्न होता है जिसे लोग वाक्यार्थ कहते हैं। मीमांसकों की सारी दलीलों का निष्कर्ष यह है कि वेदों का कर्त्ता कौन है यह अज्ञात और विस्मृत है और मनुष्य में इतनी शक्ति नहीं वह स्वेच्छानुसार वर्णों, शब्दों और अर्थों को उत्पन्न कर उनके द्वारा स्वविचार-प्रकाशक किसी वाक्य की रचना कर सके। अतः हो न हो सृष्टि के आदि में जिस समय मनुष्य सर्वथा ज्ञानरहित था, वेदों जैसी ज्ञानमयी सुन्दर रचना की उत्पादिका कोई अविमानुषिक शक्ति अवश्य होगी जिसे हम परमात्मा वा ईश्वर कहते हैं।

मीमांसकों की दलीलों का खंडन

अब यहाँ पर मीमांसकों के पूर्वोक्त मत पर विचार करके देखना चाहिए कि वह किसी दृढ़ भूमि पर अवस्थित है वा नहीं। हम पूर्व में ही कह आये हैं कि कोई भी रचना उसके रचयिता के केवल अज्ञात होने से ही अपौरुषेय और नित्य नहीं हो सकती। यदि ऐसा होने लगे तो कुँवर विजयमल आदि भी ग्राम्यगीत तथा विवाहादि अवसरों पर गायी जाने वाली गीत भी, उनके रचयिताओं के नाम अज्ञात होने से, अपौरुषेय और नित्य माने जा सकते हैं; पर उन्हें वैसी कोई भी नहीं मानता। तब वेद वैसे क्यों माने जायँ? यदि कहो कि शब्द और उनके अर्थ नित्य हैं; इसी से वेद नित्य हैं, तो यह नहीं माना जा सकता। कारण कि वर्ण (अक्षर) चाहे भले ही नित्य हों; पर उनको आगे-पीछे मिला कर बनाए हुए शब्दों और शब्दों के समुदाय से बने हुए वाक्यों की रचना के पुरुष-कृत होने से वह पौरुषेय और अनित्य होती है। इसी प्रकार शब्दों और वाक्यों का जो अपने-अपने अर्थों के साथ सम्बन्ध है वह भी पुरुष का किया हुआ केवल संकेत है; अतः वह

जिस समय 'घ' उच्चारित होकर अभिव्यक्त होता है उस समय 'ट' अनभिव्यक्त रहता है और जिस समय 'ट' का उच्चारण करते हैं उस समम 'घ' अनभिव्यक्त हो जाता है। तात्पर्य यह कि एक काल में अनेक वर्णों का अभिव्यक्त होना असंभव है; अतः शब्दों को आदमी नहीं बना सकता। वे स्वयंसिद्ध और नित्य हैं।

अर्थों की नित्यता

मीमांसक समुदाय यह भी जानता है कि शब्दों के साथ उनके अर्थों का नित्य संबन्ध होने से वे अर्थ भी नित्य हैं। यह सम्बन्ध मनुष्य-कृत न होकर स्वयंसिद्ध है। मनुष्य केवल उस सम्बन्ध का उपदेश मात्र है। वह केवल बतला देता है कि अमुक शब्द का यह अर्थ है। किसी भी काल वा किसी भी देश में एक वा अनेक मनुष्यों के द्वारा 'गो' शब्द का उच्चारण होते ही हमें चतुष्पद् जन्तु-विशेष का ज्ञान हो जाता है। ऐसा ज्ञान बिना हुए नहीं रहता; अतः शब्द के नित्य होने से उसके साथ अटूट सम्बन्ध रखने वाला अर्थ भी नित्य है। मीमांसकों के मत में वाक्यों में स्वतन्त्र रूप से कोई अर्थ-बोधन शक्ति नहीं रहती। उनका अर्थ तो अर्थवान् शब्दों के अन्योन्य सम्बन्ध से उत्पन्न होता है जिसे लोग वाक्यार्थ कहते हैं। मीमांसकों की सारी दलीलों का निष्कर्ष यह है कि वेदों का कर्त्ता कौन है यह अज्ञात और विस्मृत है और मनुष्य में इतनी शक्ति नहीं वह स्वेच्छानुसार वर्णों, शब्दों और अर्थों को उत्पन्न कर उनके द्वारा स्वविचार-प्रकाशक किसी वाक्य की रचना कर सके। अतः हो न हो सृष्टि के आदि में जिस समय मनुष्य सर्वथा ज्ञानरहित था, वेदों जैसी ज्ञानमयी सुन्दर रचना की उत्पादिका कोई अविमानुषिक शक्ति अवश्य होगी जिसे हम परमात्मा वा ईश्वर कहते हैं।

मीमांसकों की दलीलों का खंडन

अब यहाँ पर मीमांसकों के पूर्वोक्त मत पर विचार करके देखना चाहिए कि वह किसी दृढ़ भूमि पर अवस्थित है वा नहीं। हम पूर्व में ही कह आये हैं कि कोई भी रचना उसके रचयिता के केवल अज्ञात होने से ही अपौरुषेय और नित्य नहीं हो सकती। यदि ऐसा होने लगे तो कुँवर विजयमल आदि भी ग्राम्यगीत तथा विवाहादि अवसरों पर गायी जाने वाली गीत भी, उनके रचयिताओं के नाम अज्ञात होने से, अपौरुषेय और नित्य माने जा सकते हैं; पर उन्हें वैसी कोई भी नहीं मानता। तब वेद वैसे क्यों माने जायँ? यदि कहो कि शब्द और उनके अर्थ नित्य हैं; इसी से वेद नित्य हैं, तो यह नहीं माना जा सकता। कारण कि वर्ण (अक्षर) चाहे भले ही नित्य हों; पर उनको आगे-पीछे मिला कर बनाए हुए शब्दों और शब्दों के समुदाय से बने हुए वाक्यों की रचना के पुरुष-कृत होने से वह पौरुषेय और अनित्य होती है। इसी प्रकार शब्दों और वाक्यों का जो अपने-अपने अर्थों के साथ सम्बन्ध है वह भी पुरुष का किया हुआ केवल संकेत है; अतः वह

अनित्य है। देश-भेद एवं जाति-भेद से संकेत भिन्न-भिन्न होते हैं और नई-नई वस्तुओं के लिए नए-नए संकेत बनते रहते हैं। अतः शब्दों, वाक्यों और उनके अर्थों के आधार पर वेद अपौरुषेय और नित्य नहीं माने जा सकते। यदि ऐसा होने लगे तो कुरान और बाइबिल भी अपौरुषेय और नित्य माने जाने चाहिए; कारण कि उनके भी रचयिताओं का कहीं पता नहीं है और वे भी शब्दों, वाक्यों और उनके अर्थों पर आधारित हैं। यदि कहो कि वेदों का प्रादुर्भाव एक ऐसे समय ('सृष्टि के आदि) में हुआ जिस समय मानव बुद्धि में इतनी क्षमता न थी कि वह वेदों जैसी सुन्दर शब्दमयी रचना स्वयं तैयार कर सके; अतः वेदों की, कुरान और बाइबिल के साथ, जो मानव-बुद्धि के विकसित अवस्था में रचे गये थे, कोई भी तुलना नहीं है। पर तुम्हारा परमात्मा सर्वशक्तिवान् है। विश्व-संचालन में उसका हाथ पकड़ने वाला कोई नहीं है। वह सभी कालों तथा मानव-बुद्धि की सभी अवस्थाओं में भी आवश्यकता पड़ने पर मानव जाति के कल्याणार्थ अपने अनुपम उपदेशों का वितरण कर सकता है अतः जिस दिव्य ज्ञान का उपदेश उसने ईसामसीह के द्वारा बाइबिल के रूप में और मुहम्मद के द्वारा कुरान के रूप में किया है वह भी ईश्वर से प्राप्त होने के कारण अवश्य ही अपौरुषेय और नित्य मानने योग्य है; अन्यथा वेद, बाइबिल वा कुरान कोई भी नित्य और अपौरुषेय नहीं है। नित्य अक्षरों के संयोग से बनी हुई भी रचना नित्य नहीं हो सकती; वह ठीक उसी प्रकार अनित्य होती है जिस प्रकार नित्य परमाणुओं के संयोग से बने घट, पट आदि पदार्थ। यह कोई आवश्यक नहीं है कि कारण के नित्य होने से कार्य भी नित्य हो।

वेद *परमात्मा के निःश्वास हैं; अतः वे नित्य हैं*

वेदों के नित्य मानने वालों में एक ऐसा भी दल है जो उन्हें बृहदारण्यकोपनिषद के आधार पर परमात्मा का निःश्वास मानता है जिसे वह प्रत्येक कल्प के आदि में विश्वकल्याणार्थ अपने अन्दर से बाहर फेंकता और पुनः प्रलय काल में अपने भीतर खींच लेता है; यथा—"अस्य महतोभूतस्य निःश्वसित मेतदृग्वेदो यजुर्वेदः समावेदोऽथर्वाङ्गिरसः" इति। उनकी यह दलील है कि जैसे हमलोग अपने श्वास-प्रश्वासों के कर्त्ता नहीं हैं वैसे ही परमात्मा भी वेद रूपी अपने श्वास-प्रश्वासों का कर्त्ता नहीं है, वे तो स्वयं भू और नित्य हैं। पर इस दलील में भी कुछ सार नहीं है। हम लोग अपने प्रत्येक श्वास-प्रश्वास के साथ भिन्न-भिन्न वायु अन्दर खींचते और बाहर फेंकते हैं। इसी प्रकार ईश्वर के प्रत्येक श्वास-प्रश्वास के साथ नित्य नए-नए वेद बनते-बिगड़ते होंगे; अतः कोई भी त्रयी स्थायी, शाश्वत और नित्य नहीं हो सकती। प्रत्येक बार एक नई श्रुति बनती होगी। इसी आशय को लेकर वायु-पुराण, अध्याय ५६ में लिखा है—

अनित्य है। देश-भेद एवं जाति-भेद से संकेत भिन्न-भिन्न होते हैं और नई-नई वस्तुओं के लिए नए-नए संकेत बनते रहते हैं। अतः शब्दों, वाक्यों और उनके अर्थों के आधार पर वेद अपौरुषेय और नित्य नहीं माने जा सकते। यदि ऐसा होने लगे तो कुरान और बाइबिल भी अपौरुषेय और नित्य माने जाने चाहिए; कारण कि उनके भी रचयिताओं का कहीं पता नहीं है और वे भी शब्दों, वाक्यों और उनके अर्थों पर आधारित हैं। यदि कहो कि वेदों का प्रादुर्भाव एक ऐसे समय ('सृष्टि के आदि) में हुआ जिस समय मानव बुद्धि में इतनी क्षमता न थी कि वह वेदों जैसी सुन्दर शब्दमयी रचना स्वयं तैयार कर सके; अतः वेदों की, कुरान और बाइबिल के साथ, जो मानव-बुद्धि के विकसित अवस्था में रचे गये थे, कोई भी तुलना नहीं है। पर तुम्हारा परमात्मा सर्वशक्तिवान् है। विश्व-संचालन में उसका हाथ पकड़ने वाला कोई नहीं है। वह सभी कालों तथा मानव-बुद्धि की सभी अवस्थाओं में भी आवश्यकता पड़ने पर मानव जाति के कल्याणार्थ अपने अनुपम उपदेशों का वितरण कर सकता है अतः जिस दिव्य ज्ञान का उपदेश उसने ईसामसीह के द्वारा बाइबिल के रूप में और मुहम्मद के द्वारा कुरान के रूप में किया है वह भी ईश्वर से प्राप्त होने के कारण अवश्य ही अपौरुषेय और नित्य मानने योग्य है; अन्यथा वेद, बाइबिल वा कुरान कोई भी नित्य और अपौरुषेय नहीं है। नित्य अक्षरों के संयोग से बनी हुई भी रचना नित्य नहीं हो सकती; वह ठीक उसी प्रकार अनित्य होती है जिस प्रकार नित्य परमाणुओं के संयोग से बने घट, पट आदि पदार्थ। यह कोई आवश्यक नहीं है कि कारण के नित्य होने से कार्य भी नित्य हो।

वेद परमात्मा के निःश्वास हैं; अतः वे नित्य हैं

वेदों के नित्य मानने वालों में एक ऐसा भी दल है जो उन्हें बृहदारण्यकोपनिषद के आधार पर परमात्मा का निःश्वास मानता है जिसे वह प्रत्येक कल्प के आदि में विश्वकल्याणार्थ अपने अन्दर से बाहर फेंकता और पुनः प्रलय काल में अपने भीतर खींच लेता है; यथा—"अस्य महतोभूतस्य निःश्वसित मेतदृग्वेदो यजुर्वेदः समावेदोऽथर्वाङ्गिरसः" इति। उनकी यह दलील है कि जैसे हमलोग अपने श्वास-प्रश्वासों के कर्त्ता नहीं हैं वैसे ही परमात्मा भी वेद रूपी अपने श्वास-प्रश्वासों का कर्त्ता नहीं है, वे तो स्वयं भू और नित्य हैं। पर इस दलील में भी कुछ सार नहीं है। हम लोग अपने प्रत्येक श्वास-प्रश्वास के साथ भिन्न-भिन्न वायु अन्दर खींचते और बाहर फेंकते हैं। इसी प्रकार ईश्वर के प्रत्येक श्वास-प्रश्वास के साथ नित्य नए-नए वेद बनते-बिगड़ते होंगे; अतः कोई भी त्रयी स्थायी, शाश्वत और नित्य नहीं हो सकती। प्रत्येक बार एक नई श्रुति बनती होगी। इसी आशय को लेकर वायु-पुराण, अध्याय ५६ में लिखा है—

प्रत्येक मन्वन्तर में भिन्न श्रुति बनती है; अतः वेद अनित्य है

प्रति मन्वन्तरं चैव श्रुतिरन्या विधीयते।
ऋचो यजुंषिसामानि यथावत् प्रतिदैवतम् ॥५६॥

अर्थ—प्रत्येक मन्वन्तर में दूसरी श्रुति की रचना की जाती है। प्रत्येक देवता के लिए ऋक्, यजुः और साम, जिस रीति से वे पहले रचे जाते थे, उसी रीति से रचे जाते हैं।

श्लोक में साफ लिखा है—'श्रुतिरन्या विधीयते,' जिसका अर्थ 'दूसरी श्रुति रची जाती है' के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता; पर रचने की रीति अर्थात् छन्द आदि वही रहती है। रीति में कुछ भिन्नता नहीं होती। इससे यह अभिप्राय निकला कि जो श्रुति स्वायंभुव मनु के समय में प्रचलित रही होगी वह श्रुति वर्त्तमान वैवस्वत मन्वन्तर में नहीं है; अतः बार-बार बदलते रहने के कारण वेद नित्य नहीं हो सकते। इसके अतिरिक्त वेदों को ईश्वर का निःश्वास मानने से तो यह जान पड़ता है कि ईश्वर कोई साँस लेने वाला शरीर-धारी जन्तु विशेष है और चूँकि सभी साँस लेने वाले प्राणी मरणशील होते हैं, अतः ईश्वर भी मरणशील है। यदि कहो कि वेदों को ईश्वर का निःश्वास कहना केवल एक आलंकारिक वर्णन है तो ऐसे आलंकारिक वर्णन से तुम्हें लाभ ही क्या हुआ; यह तो तुम्हारे ही पक्ष को ले डुबाता है।

वेदों में इतिहास है वा नहीं

वेद नित्य हैं वा अनित्य, इस प्रश्न का, वेद में इतिहास है वा नहीं, इस प्रश्न के साथ एक अटूट सम्बन्ध है। कहीं वेदों में इतिहास मिल गया तो वे कदापि नित्य नहीं हो सकते; कारण कि उस दशा में वे अपने में वर्णित ऐतिहासिक घटनाओं के पश्चात्-कालीन वा अधिक से अधिक उनके समकालीन ही माने जायँगे। उनके वे पूर्व कालीन होते तो उनमें परकालीन घटनाओं का वर्णन नहीं मिलता और यदि वह मिलता भी तो वह भूतकालिक क्रिया में न होकर भविष्यवाणी की तरह भविष्य-कालिक क्रिया में होता। उदाहरण लीजिए—

(१) त्वामग्ने प्रथममायुमायवे अकृण्वन् न हुषष्य विश्वपतिम्।
इडा मकृण्वन् मनुषस्य शासनीं पितुर्यत पुत्रो ममकस्य जायते॥

(ऋग्वेद १।३१।११)

अर्थ—हे अग्नि! देवों ने तुम्हें पहले पुरुरवा के मानव रूप धारी पौत्र नहुष का मनुष्य शरीरवान् सेनापति बनाया। साथ ही उन्होंने इला को मनु की धर्मोपदेशिका भी बनाया था, जिस समय तुमने मेरे पिता अङ्गिरा ऋषि के पुत्र रूप से जन्म ग्रहण किया था। (सायन भाष्यानुसार)

प्रत्येक मन्वन्तर में भिन्न श्रुति बनती है; अतः वेद अनित्य है

प्रति मन्वन्तरं चैव श्रुतिरन्या विधीयते।
ऋचो यजुंषिसामानि यथावत् प्रतिदैवतम् ॥५६॥

अर्थ—प्रत्येक मन्वन्तर में दूसरी श्रुति की रचना की जाती है। प्रत्येक देवता के लिए ऋक्, यजुः और साम, जिस रीति से वे पहले रचे जाते थे, उसी रीति से रचे जाते हैं।

श्लोक में साफ लिखा है—'श्रुतिरन्या विधीयते,' जिसका अर्थ 'दूसरी श्रुति रची जाती है' के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता; पर रचने की रीति अर्थात् छन्द आदि वही रहती है। रीति में कुछ भिन्नता नहीं होती। इससे यह अभिप्राय निकला कि जो श्रुति स्वायंभुव मनु के समय में प्रचलित रही होगी वह श्रुति वर्त्तमान वैवस्वत मन्वन्तर में नहीं है; अतः बार-बार बदलते रहने के कारण वेद नित्य नहीं हो सकते। इसके अतिरिक्त वेदों को ईश्वर का निःश्वास मानने से तो यह जान पड़ता है कि ईश्वर कोई साँस लेने वाला शरीर-धारी जन्तु विशेष है और चूँकि सभी साँस लेने वाले प्राणी मरणशील होते हैं, अतः ईश्वर भी मरणशील है। यदि कहो कि वेदों को ईश्वर का निःश्वास कहना केवल एक आलंकारिक वर्णन है तो ऐसे आलंकारिक वर्णन से तुम्हें लाभ ही क्या हुआ; यह तो तुम्हारे ही पक्ष को ले डुबाता है।

वेदों में इतिहास है वा नहीं

वेद नित्य हैं वा अनित्य, इस प्रश्न का, वेद में इतिहास है वा नहीं, इस प्रश्न के साथ एक अटूट सम्बन्ध है। कहीं वेदों में इतिहास मिल गया तो वे कदापि नित्य नहीं हो सकते; कारण कि उस दशा में वे अपने में वर्णित ऐतिहासिक घटनाओं के पश्चात्-कालीन वा अधिक से अधिक उनके समकालीन ही माने जायँगे। उनके वे पूर्व कालीन होते तो उनमें परकालीन घटनाओं का वर्णन नहीं मिलता और यदि वह मिलता भी तो वह भूतकालिक क्रिया में न होकर भविष्यवाणी की तरह भविष्य-कालिक क्रिया में होता। उदाहरण लीजिए—

(१) त्वामग्ने प्रथममायुमायवे अकृण्वन् न हुषष्य विश्वपतिम्।
इडा मकृण्वन् मनुषस्य शासनीं पितुर्यत पुत्रो ममकस्य जायते॥

(ऋग्वेद १।३१।११)

अर्थ—हे अग्नि! देवों ने तुम्हें पहले पुरुरवा के मानव रूप धारी पौत्र नहुष का मनुष्य शरीरवान् सेनापति बनाया। साथ ही उन्होंने इला को मनु की धर्मोपदेशिका भी बनाया था, जिस समय तुमने मेरे पिता अङ्गिरा ऋषि के पुत्र रूप से जन्म ग्रहण किया था। (सायन भाष्यानुसार)

नोट—इस मंत्र में चन्द्रवंशीय क्षत्रिय नरेश नहुष का उल्लेख हुआ है; अतः इसकी रचना नहुष के पहले कभी नहीं हुई होगी। अन्यच्च—

(२) किमेता वाचा कृणवा तवाहं प्राक्रमिष मुषसामग्रियेव।
पुरुरवः पुनरस्तं परे हि दुरापना वात इवाह मस्मि ॥ ऋग्वेद १।९५।२॥

अर्थ—हे पुरुरवा! तुम्हारी इस संभोग-रहित शुष्क बातों से मुझे अब क्या लाभ होगा? मैं तो अब तुम्हारा सहवास छोड़ रही हूँ—तुम्हारी पटरानियों से दूर हो रही हूँ—जैसे अन्य उषाओं को पहली उषा छोड़ देती है। तुम अब मेरे पास से घर लौट जाओ; मेरी अभिलाषा छोड़ दो। मैं (उर्व्वशी) वायु वेग से चली जाऊँगी। (सायन भाष्यानुसार)।

नोट—अवश्य ही इस मंत्र की रचना उर्वशी के साथ पुरुरवा के प्रेम होने के पहले की कभी नहीं हो सकती।

(३) कस्य नूनं कतमस्या मृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।
कोनो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृश्येयं मातरंच ॥ ऋग्वेद १।२४।१॥

अर्थ—बलिदानार्थ यज्ञयूप में बँधा हुआ शुनःशेप प्रार्थना करता है—मैं भला देवताओं में से किस देवता के मधुर नाम का ध्यान करूँ जो मुझे महामुक्ति के लिए अर्पण कर दे अर्थात् जो मुझे इस बन्धन से पूर्णतः मुक्त कर दे जिसमें मैं माता-पिता का दर्शन कर सकूँ।

नोट—इस तथा शुनःशेप-सूक्त के अन्य मंत्रों की रचना राजा हरिश्चन्द्र के समय में ही हुई होगी; क्योंकि विचाराधीन सूक्तों में वर्णित नरमेध रूपी घटना उन्हीं के राजत्व काल में हुई थी।

ऐतरेय ब्राह्मण में इसकी पूरी कथा लिखी है जो संक्षेपतः यह है—राजा हरिश्चन्द्र पुत्र-हीन थे। पर्वत नारद की सलाह से उन्होंने वरुणदेव की मनौती की कि यदि उन्हें पुत्र होगा तो वे उसे उक्त देवता को बलि दे देंगे। निदान उनको रोहित नामक पुत्र पैदा हुआ जो सयाने होने पर पिता की मनौती जान कर अपनी जान बचाने के लिए जंगल में भाग गया और वहाँ वह अजीगर्त्त नामक एक क्षुधा-पीड़ित ऋषि को १०० गायें देकर उनके पुत्र शुनःशेप को खरीद लिया और अपनी जगह उसे ही बलि चढ़ा देने के लिए उसे अपने पिता हरिश्चन्द्र के हवाले कर दिया। तत्पश्चात् अजीगर्त्त ने राजा से १०० गायें और लेकर शुनःशेप को यज्ञ-यूप में बाँधा। जब शुनःशेप का बध करने के लिए कोई तैयार नहीं हुआ तो अजीगर्त्त ही राजा से १०० गायें और लेकर उसका बध भी करने के लिए हाथ में तलवार लेकर तैयार हो गए। तब शुनःशेप ने उक्त सूक्त के द्वारा अग्न्यादि देवताओं की प्रार्थना स्वप्राणरक्षार्थ की जिससे उसकी जान बची और वहाँ से भाग कर वह महर्षि विश्वा-मित्र की शरण में गया और उनका देवरात नामक स्वयंदत्त पुत्र बन गया। मंत्र में

नोट—इस मंत्र में चन्द्रवंशीय क्षत्रिय नरेश नहुष का उल्लेख हुआ है; अतः इसकी रचना नहुष के पहले कभी नहीं हुई होगी। अन्यच्च—

(२) किमेता वाचा कृणवा तवाहं प्राक्रमिष मुषसामग्रियेव।

पुरुरवः पुनरस्तं परे हि दुरायना वात इवाह मस्मि ।। ऋग्वेद १।९५।२।।

अर्थ—हे पुरुरवा ! तुम्हारी इस संभोग-रहित शुष्क बातों से मुझे अब क्या लाभ होगा ? मैं तो अब तुम्हारा सहवास छोड़ रही हूँ—तुम्हारी पटरानियों से दूर हो रही हूँ—जैसे अन्य उषाओं को पहली उषा छोड़ देती है। तुम अब मेरे पास से घर लौट जाओ; मेरी अभिलाषा छोड़ दो। मैं (उर्व्वशी) वायु वेग से चली जाऊँगी। (सायन भाष्यानुसार)।

नोट—अवश्य ही इस मंत्र की रचना उर्वशी के साथ पुरुरवा के प्रेम होने के पहले की कभी नहीं हो सकती।

(३) कस्य नूनं कतमस्या मृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।

कोनो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृश्येयं मातरंच ।। ऋग्वेद १।२४।१।।

अर्थ—बलिदानार्थ यज्ञयूप में बँधा हुआ शुनःशेप प्रार्थना करता है—मैं भला देवताओं में से किस देवता के मधुर नाम का ध्यान करूँ जो मुझे महामुक्ति के लिए अर्पण कर दे अर्थात् जो मुझे इस बन्धन से पूर्णतः मुक्त कर दे जिसमें मैं माता-पिता का दर्शन कर सकूँ।

नोट—इस तथा शुनःशेप-सूक्त के अन्य मंत्रों की रचना राजा हरिश्चन्द्र के समय में ही हुई होगी; क्योंकि विचाराधीन सूक्तों में वर्णित नरमेध रूपी घटना उन्हीं के राजत्व काल में हुई थी।

ऐतरेय ब्राह्मण में इसकी पूरी कथा लिखी है जो संक्षेपतः यह है—राजा हरिश्चन्द्र पुत्र-हीन थे। पर्वत नारद की सलाह से उन्होंने वरुणदेव की मनौती की कि यदि उन्हें पुत्र होगा तो वे उसे उक्त देवता को बलि दे देंगे। निदान उनको रोहित नामक पुत्र पैदा हुआ जो सयाने होने पर पिता की मनौती जान कर अपनी जान बचाने के लिए जंगल में भाग गया और वहाँ वह अजीगर्त्त नामक एक क्षुधा-पीड़ित ऋषि को १०० गायें देकर उनके पुत्र शुनःशेप को खरीद लिया और अपनी जगह उसे ही बलि चढ़ा देने के लिए उसे अपने पिता हरिश्चन्द्र के हवाले कर दिया। तत्पश्चात् अजीगर्त्त ने राजा से १०० गायें और लेकर शुनःशेप को यज्ञ-यूप में बाँधा। जब शुनःशेप का बध करने के लिए कोई तैयार नहीं हुआ तो अजीगर्त्त ही राजा से १०० गायें और लेकर उसका वध भी करने के लिए हाथ में तलवार लेकर तैयार हो गए। तब शुनःशेप ने उक्त सूक्त के द्वारा अग्न्यादि देवताओं की प्रार्थना स्वप्राणरक्षार्थ की जिससे उसकी जान बची और वहाँ से भाग कर वह महर्षि विश्वा-मित्र की शरण में गया और उनका देवरात नामक स्वयंदत्त पुत्र बन गया। मंत्र में

'पितरं च दृश्येयं मातरं च' पद आए हैं। इनका यह अर्थ कदापि नहीं है कि वह अपने जनक अजीगर्त्त तथा अपनी जननी अजीगर्त्त की स्त्री के पास जाने के लिए व्याकुल हो रहा था; क्योंकि उन्होंने ही तो उसे बेचा था; बल्कि वह एक ऐसे दम्पति को पाने के लिए लालायित था जो उसके साथ सच्चे माता-पिता का व्यवहार करें और यह विश्वामित्र के घर जाकर सफल-मनोरथ हुआ। इस कथा का उल्लेख मनुस्मृति में भी हुआ है—

अजीगर्त्तः सुतं हन्तुमुपासर्पद् बुभुक्षितः।
न चालिप्यत पापेन क्षुत्प्रतीकार माचरन्॥ मनु० १० । १०५॥

अर्थ—भूखे अजीगर्त्त स्वक्षुधानिवृत्यर्थ अपने पुत्र का बध करने के लिए तैयार हो गए। ऐसा करके भी वे पाप से लिप्त नहीं हुए।

कितने आधुनिक विद्वान, विशेषतः स्वामी दयानन्द और उनके अनुचर-वर्ग, ऋग्वेद के शुनःशेप सूक्त में नरमेध-सम्बन्धी किसी वास्तविक घटना की गन्ध तक नहीं पाते। उनके मन में यह उपाख्यान प्रकृति के सत्, रजस् और तमस् इन तीन यज्ञयूपों में माया-पाश से बँधा हुआ जीव परमात्मा से प्रार्थना करता है कि वह उसके माया-पाश को काट कर उसे निस्त्रैगुण्य तथा माया-मुक्त कर दे, बस इसी कथन का एक आलंकारिक-रूप (Allegorical form) है। पर यह कथा वाल्मीकीय रामायण, महाभारत और श्रीमद्भागवत में भी आई है। याद रहे कि वेद-मंत्रों को अलग-अलग विषयानुसार ऋग्वेदादि संहिताओं के रूप में वर्गीकरण करने वाले तथा महाभारत एवं भागवत पुराण के रचयिता एक ही व्यक्ति महर्षि वेदव्यास हैं। अवश्य ही उन्हें वेद मंत्रों का वास्तविक अर्थ जिस स्पष्टता के साथ मालूम रहा होगा उस स्पष्टता के साथ आधुनिक विद्वानों को, जो काल की दृष्टि से वैदिक काल से कई सहस्राब्दियाँ दूर चले आए हैं, तथा जिनके समय में वेदों के अध्ययनाध्यापन का इस प्रकार भीषण ह्रास हो गया है, मालूम होना असंभव है। इसी प्रकार रामायण के रचयिता तपःस्वाध्याय-निरत महर्षि वाल्मीकि हैं जो काल की दृष्टि से, वैदिक काल के, महर्षि व्यास की भी अपेक्षा, अधिक समीप थे। उन्हें तो वेदों का ज्ञान व्यास से भी बढ़ कर रहा होगा। अतः जब स्वयं वाल्मीकि और व्यास को भी उक्त शुनःशेप-सूक्त में कोई रूपक नहीं दिखाई दिया तो उसे रूपक बताने वाले आधुनिक विद्वान् किस खेत की मूली हैं कि उनमें मौलिकता कुछ भी न रहते हुए भी उनके वचनों पर विश्वास किया जाय 'सत्यार्थ-प्रकाश, के अनन्य भक्त भागवत को पुराण और मनुस्मृति के उक्त श्लोक को प्रक्षिप्त कह कर अपनी बला भले ही टाल दें; पर रामायण और महाभारत ये दोनों ही इतिहास-ग्रन्थ उनके सिर पर सवार होकर उनकी बोलती बन्द कर देते हैं।

वेदों में इतिहास का एक चौथा प्रमाण लीजिए—

'पितरं च दृश्येयं मातरं च' पद आए हैं। इनका यह अर्थ कदापि नहीं है कि वह अपने जनक अजीगर्त्त तथा अपनी जननी अजीगर्त्त की स्त्री के पास जाने के लिए व्याकुल हो रहा था; क्योंकि उन्होंने ही तो उसे बेचा था; बल्कि वह एक ऐसे दम्पति को पाने के लिए लालायित था जो उसके साथ सच्चे माता-पिता का व्यवहार करें और यह विश्वामित्र के घर जाकर सफल-मनोरथ हुआ। इस कथा का उल्लेख मनुस्मृति में भी हुआ है—

अजीगर्त्तः सुतं हन्तुमुपासर्पद् बुभुक्षितः।
न चालिप्यत पापेन क्षुत्प्रतीकार माचरन् ॥ मनु० १० । १०५ ॥

अर्थ—भूखे अजीगर्त्त स्वक्षुधानिवृत्यर्थ अपने पुत्र का बध करने के लिए तैयार हो गए। ऐसा करके भी वे पाप से लिप्त नहीं हुए।

कितने आधुनिक विद्वान, विशेषतः स्वामी दयानन्द और उनके अनुचर-वर्ग, ऋग्वेद के शुनःशेप सूक्त में नरमेध-सम्बन्धी किसी वास्तविक घटना की गन्ध तक नहीं पाते। उनके मन में यह उपाख्यान प्रकृति के सत्, रजस् और तमस् इन तीन यज्ञयूपों में माया-पाश से बँधा हुआ जीव परमात्मा से प्रार्थना करता है कि वह उसके माया-पाश को काट कर उसे निस्त्रैगुण्य तथा माया-मुक्त कर दे, बस इसी कथन का एक आलंकारिक-रूप (Allegorical form) है। पर यह कथा वाल्मीकीय रामायण, महाभारत और श्रीमद्भागवत में भी आई है। याद रहे कि वेद-मंत्रों को अलग-अलग विषयानुसार ऋग्वेदादि संहिताओं के रूप में वर्गीकरण करने वाले तथा महाभारत एवं भागवत पुराण के रचयिता एक ही व्यक्ति महर्षि वेदव्यास हैं। अवश्य ही उन्हें वेद मंत्रों का वास्तविक अर्थ जिस स्पष्टता के साथ मालूम रहा होगा उस स्पष्टता के साथ आधुनिक विद्वानों को, जो काल की दृष्टि से वैदिक काल से कई सहस्राब्दियाँ दूर चले आए हैं, तथा जिनके समय में वेदों के अध्ययनाध्यापन का इस प्रकार भीषण ह्रास हो गया है, मालूम होना असंभव है। इसी प्रकार रामायण के रचयिता तपःस्वाध्याय-निरत महर्षि वाल्मीकि हैं जो काल की दृष्टि से, वैदिक काल के, महर्षि व्यास की भी अपेक्षा, अधिक समीप थे। उन्हें तो वेदों का ज्ञान व्यास से भी बढ़ कर रहा होगा। अतः जब स्वयं वाल्मीकि और व्यास को भी उक्त शुनःशेप-सूक्त में कोई रूपक नहीं दिखाई दिया तो उसे रूपक बताने वाले आधुनिक विद्वान् किस खेत की मूली हैं कि उनमें मौलिकता कुछ भी न रहते हुए भी उनके वचनों पर विश्वास किया जाय 'सत्यार्थ-प्रकाश, के अनन्य भक्त भागवत को पुराण और मनुस्मृति के उक्त श्लोक को प्रक्षिप्त कह कर अपनी बला भले ही टाल दें; पर रामायण और महाभारत ये दोनों ही इतिहास-ग्रन्थ उनके सिर पर सवार होकर उनकी बोलती बन्द कर देते हैं।

वेदों में इतिहास का एक चौथा प्रमाण लीजिए—

(४) याभि रन्तकं जसमानमारणे भुज्युं याभिरव्यथिभि जिजिन्वथुः ।
याभिः कर्कन्धुं वय्यं च जिन्वथ स्ताभिरुषुऊतिभिरश्विनागतम् ॥
(ऋग्वेद १, ११२ । ६)

अर्थ—कूएँ में डालकर असुर लोग जिस समय राजर्षि अन्तक की हत्या कर रहे थे, उस समय तुम लोगों ने जिन उपायों के द्वारा उनकी रक्षा की थी; जिन सब पीड़ा-रहित नौकारूप उपायों के द्वारा समुद्र में डूबते हुए तुग्र-पुत्र भुज्यु की रक्षा की थी और जिन सब उपायों के द्वारा असुरों द्वारा पीड्यमान कर्कन्धु और वय्य की रक्षा की थी, उनके साथ हे अश्विनी कुमारो, आओ। (सायन भाष्यानुसार)।

स्वामी दयानन्द का मत

वेदों में इतिहास होने के और भी कितने प्रमाण हैं जिन्हें विस्तार-भय से छोड़ दिया गया। आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द तथा उनके-से विचार रखने वाले कितने अन्य लोग भी वेदों में इतिहास का होना इस भय से नहीं मानते कि कहीं उनमें इतिहास माना तो उनकी नित्यता का समुच्छेद हो जायगा; क्योंकि उस दशा में वेद उनमें उल्लिखित इतिहासों से पहले के कदापि नहीं हो सकते; अतः वे लोग वेदोक्त इतिहासों की कपोल-कल्पित व्याख्या कर उनका अस्तित्व मिटा देने के लिए आकाश-पाताल के कुलाबे एक कर देते हैं। पर यह अटल सिद्धान्त है कि अपने किसी अन्धविश्वास की रक्षा के लिए नाना प्रकार की असत्य कल्पनाओं का आश्रय लेना और उसे जनता में फैलाना सच्चे विद्वानों के लिए सर्वथा अनुचित है। यह कैसा गर्हित व्यापार है कि एक असत्य पर सत्य की कलई चढ़ाने के लिए अनेक असत्यों का सहारा लिया जाय! स्वामी दयानन्द जैसे विद्वानों का मत है कि वेदों में आए हुए व्यक्तिवाचक जैसी दीख पड़ने वाली संज्ञाएँ कुछ ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम नहीं हैं जिनसे किसी ऐतिहासिक घटना का वर्णन समझा जाय; बल्कि वे सब की सब यौगिक हैं। ये शब्द आदि में धात्वर्थक थे और उन सभी वस्तुओं के लिए प्रयुक्त होते थे जिनसे उन अर्थों की झलक निकलती थी। बाद में वे ऐतिहासिक रूप धारण कर व्यक्तिवाचक संज्ञाएँ बन गईं। इसके सबूत में वे विद्वद्गण शतपथ ब्राह्मण का हवाला देते हैं। वे कहते हैं कि शतपथ ब्राह्मण के आठवें काण्ड में 'वसिष्ठ' आदि नामों की व्याख्या इस प्रकार की गई है—(१) प्राण ही 'वसिष्ठ' है। जो श्रेष्ठ है उसे 'वसिष्ठ' कहते हैं; वा जो फैला हुआ बसता है वह 'वसिष्ठ' कहलाता है; अतः 'वसिष्ठ' का अर्थ प्राण हुआ। (२) मन ही 'भरद्वाज' ऋषि है। 'वाज' का अर्थ है अन्न। मन का नाम 'भरद्वाज' इसलिए हुआ कि वह 'वाज' (अन्न) को 'भरत्' अर्थात् भरता है। (३) कान को 'विश्वामित्र' कहते हैं; क्योंकि कान से ही सब सुनते हैं और इसी से सब मित्र होते हैं। इसलिए कान को विश्वामित्र कहते हैं। इसी 'प्रकार विश्वकर्म्मा'

(४) याभि रन्तकं जसमानमारणे भुज्युं याभिरव्यथिभि जिजिन्वथुः ।
याभिः कर्कन्धुं वय्यं च जिन्वथ स्ताभिरुषुऊतिभिरश्विनागतम् ॥
(ऋग्वेद १, ११२ । ६)

अर्थ—कूएँ में डालकर असुर लोग जिस समय राजर्षि अन्तक की हत्या कर रहे थे, उस समय तुम लोगों ने जिन उपायों के द्वारा उनकी रक्षा की थी; जिन सब पीड़ा-रहित नौकारूप उपायों के द्वारा समुद्र में डूबते हुए तुग्र-पुत्र भुज्यु की रक्षा की थी और जिन सब उपायों के द्वारा असुरों द्वारा पीड्यमान कर्कन्धु और वय्य की रक्षा की थी, उनके साथ हे अश्विनी कुमारो, आओ । (सायन भाष्यानुसार) ।

स्वामी दयानन्द का मत

वेदों में इतिहास होने के और भी कितने प्रमाण हैं जिन्हें विस्तार-भय से छोड़ दिया गया । आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द तथा उनके-से विचार रखने वाले कितने अन्य लोग भी वेदों में इतिहास का होना इस भय से नहीं मानते कि कहीं उनमें इतिहास माना तो उनकी नित्यता का समुच्छेद हो जायगा; क्योंकि उस दशा में वेद उनमें उल्लिखित इतिहासों से पहले के कदापि नहीं हो सकते; अतः वे लोग वेदोक्त इतिहासों की कपोल-कल्पित व्याख्या कर उनका अस्तित्व मिटा देने के लिए आकाश-पाताल के कुलाबे एक कर देते हैं । पर यह अटल सिद्धान्त है कि अपने किसी अन्धविश्वास की रक्षा के लिए नाना प्रकार की असत्य कल्पनाओं का आश्रय लेना और उसे जनता में फैलाना सच्चे विद्वानों के लिए सर्वथा अनुचित है । यह कैसा गर्हित व्यापार है कि एक असत्य पर सत्य की कलई चढ़ाने के लिए अनेक असत्यों का सहारा लिया जाय ! स्वामी दयानन्द जैसे विद्वानों का मत है कि वेदों में आए हुए व्यक्तिवाचक जैसी दीख पड़ने वाली संज्ञाएँ कुछ ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम नहीं हैं जिनसे किसी ऐतिहासिक घटना का वर्णन समझा जाय; बल्कि वे सब की सब यौगिक हैं । ये शब्द आदि में धात्वर्थक थे और उन सभी वस्तुओं के लिए प्रयुक्त होते थे जिनसे उन अर्थों की झलक निकलती थी । बाद में वे ऐतिहासिक रूप धारण कर व्यक्तिवाचक संज्ञाएँ बन गईं । इसके सबूत में वे विद्वद्गण शतपथ ब्राह्मण का हवाला देते हैं । वे कहते हैं कि शतपथ ब्राह्मण के आठवें काण्ड में 'वसिष्ठ' आदि नामों की व्याख्या इस प्रकार की गई है—(१) प्राण ही 'वसिष्ठ' है । जो श्रेष्ठ है उसे 'वसिष्ठ' कहते हैं; वा जो फैला हुआ बसता है वह 'वसिष्ठ' कहलाता है; अतः 'वसिष्ठ' का अर्थ प्राण हुआ । (२) मन ही 'भरद्वाज' ऋषि है । 'वाज' का अर्थ है अन्न । मन का नाम 'भरद्वाज' इसलिए हुआ कि वह 'वाज' (अन्न) को 'भरत्' अर्थात् भरता है । (३) कान को 'विश्वामित्र' कहते हैं; क्योंकि कान से ही सब सुनते हैं और इसी से सब मित्र होते हैं । इसलिए कान को विश्वामित्र कहते हैं । इसी 'प्रकार विश्वकर्म्मा'

आदि नामों की भी व्याख्या की गई है। पर हमें यहाँ यह कहना है कि 'वसिष्ठ' आदि शब्दों के अर्थ प्राण आदि करने में जो युक्तियाँ पेश की गई हैं वे किसी पागल के प्रलाप-सी मालूम होती हैं। कारण कि यदि केवल फैले हुए बसने के कारण 'बसिष्ठ' का अर्थ प्राण है तो उसका अर्थ आकाश, वायुमंडल, तड़ित्, अग्नि आदि क्यों नहीं? क्योंकि ये भी तो सर्वत्र फैले हुए हैं। 'भरद्वाज' का अर्थ मन करना तो और भी विचित्र है; क्योंकि अन्न और मन के बीच क्या सम्बन्ध? यदि 'भरद्वाज' का अर्थ किसान वा वणिक् किया जाता तो वह पूर्णतः युक्ति-युक्त और तर्क-संगत होता; क्योंकि किसान खेती द्वारा और बनिया व्यापार के द्वारा देश के कोने-कोने को अन्न से भर देता है। और यदि केवल कान से सुन लेने के कारण हम किसी के मित्र हो सकते हैं तो कान से ही सुन लेने के कारण हम किसी के शत्रु भी बन सकते हैं। यदि हम किसी को अपनी प्रशंसा करते हुए सुनते हैं तो हमारे हृदय में अपने प्रशंसक के लिए प्रेम का संचार स्वभावतः हो जाता है। इसके विपरीत यदि हम किसी के मुँह से अपनी निन्दा सुनते हैं तो हम अपने उस निन्दक का कट्टर शत्रु बन जाते हैं। अतः यदि 'विश्वामित्र' का अर्थ कान है तो 'विश्वशत्रु' का अर्थ क्या है? उसका भी अर्थ कान ही होना चाहिए। पर दो विपरीत शब्दों का एक ही अर्थ नहीं हो सकता। शतपथ ब्राह्मण की दलील कैसी थोथी है, इसे पाठकगण स्वयं देख लें। कोई बात केवल इसीलिए प्रमाण-कोटि में नहीं रखी जा सकती कि वह अमुक ग्रन्थ में लिखी है। उसको तर्क और युक्ति से पुष्ट और प्रकृति के अनुकूल भी होना चाहिए। आश्चर्य है कि स्वामी दयानन्द और उनके चेलों ने जो व्यासकृत पुराणों को गपोड़े मानते हैं, शतपथ ब्राह्मण की गपोड़ा-पूर्ण उक्त व्याख्या को प्रामाणिक और सन्तोषजनक कैसे मान लिया? प्रत्येक विषय पर स्वतंत्र रूप से विचार करना ही यथार्थ विद्वानों का काम है। जो लोग वेदों वा तत्सम्बन्धी किसी भी ग्रन्थ को निर्भ्रान्त मानते हैं वे स्वयं भ्रान्त हैं।

स्वामी दयानन्द के मत का खंडन

वैदिक इतिहासों के सम्बन्ध में स्वामी दयानन्द के और भी विचार सुनिए। उनका कहना है कि जो इतिहास हम वेदों से सिद्ध किया चाहते हैं वह इतिहास से सर्वथा सर्वाङ्ग में ठीक-ठीक नहीं बैठता। केवल खींचातानी करके हम अन्य ऐतिहासिक घटनाओं का उसके साथ समन्वय करने का यत्न करते हैं। वेदों में न तो पूर्ण गाथाएँ ही मिलती हैं, न ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख ही। जहाँ-तहाँ कुछ ऐतिहासिक शब्द मिल गए। उनकी व्याख्या करने के लिए लोगों ने गाथाएँ गढ़ लीं; जैसे—ऋग्वेद की शुनःशेप की गाथा अथवा उर्वशी और पुरुरवा की गाथा। पहले गाथा की कल्पना कर लेना, फिर उसके सहारे वेदों की संगति लगाना, यह सब अर्थ करना नहीं, बल्कि अनर्थ करना है। सनातन धर्म्मी विद्वान् वेदों से अवतार आदि सिद्ध किया चाहते हैं। यह उनकी भूल है;

आदि नामों की भी व्याख्या की गई है। पर हमें यहाँ यह कहना है कि 'वसिष्ठ' आदि शब्दों के अर्थ प्राण आदि करने में जो युक्तियाँ पेश की गई हैं वे किसी पागल के प्रलाप-सी मालूम होती हैं। कारण कि यदि केवल फैले हुए बसने के कारण 'वसिष्ठ' का अर्थ प्राण है तो उसका अर्थ आकाश, वायुमंडल, तड़ित्, अग्नि आदि क्यों नहीं? क्योंकि ये भी तो सर्वत्र फैले हुए हैं। 'भरद्वाज' का अर्थ मन करना तो और भी विचित्र है; क्योंकि अन्न और मन के बीच क्या सम्बन्ध? यदि 'भरद्वाज' का अर्थ किसान वा वणिक् किया जाता तो वह पूर्णतः युक्ति-युक्त और तर्क-संगत होता; क्योंकि किसान खेती द्वारा और बनिया व्यापार के द्वारा देश के कोने-कोने को अन्न से भर देता है। और यदि केवल कान से सुन लेने के कारण हम किसी के मित्र हो सकते हैं तो कान से ही सुन लेने के कारण हम किसी के शत्रु भी बन सकते हैं। यदि हम किसी को अपनी प्रशंसा करते हुए सुनते हैं तो हमारे हृदय में अपने प्रशंसक के लिए प्रेम का संचार स्वभावतः हो जाता है। इसके विपरीत यदि हम किसी के मुँह से अपनी निन्दा सुनते हैं तो हम अपने उस निन्दक का कट्टर शत्रु बन जाते हैं। अतः यदि 'विश्वामित्र' का अर्थ कान है तो 'विश्वशत्रु' का अर्थ क्या है? उसका भी अर्थ कान ही होना चाहिए। पर दो विपरीत शब्दों का एक ही अर्थ नहीं हो सकता। शतपथ ब्राह्मण की दलील कैसी थोथी है, इसे पाठकगण स्वयं देख लें। कोई बात केवल इसीलिए प्रमाण-कोटि में नहीं रखी जा सकती कि वह अमुक ग्रन्थ में लिखी है। उसको तर्क और युक्ति से पुष्ट और प्रकृति के अनुकूल भी होना चाहिए। आश्चर्य है कि स्वामी दयानन्द और उनके चेलों ने जो व्यासकृत पुराणों को गपोड़े मानते हैं, शतपथ ब्राह्मण की गपोड़ा-पूर्ण उक्त व्याख्या को प्रामाणिक और सन्तोषजनक कैसे मान लिया? प्रत्येक विषय पर स्वतंत्र रूप से विचार करना ही यथार्थ विद्वानों का काम है। जो लोग वेदों वा तत्सम्बन्धी किसी भी ग्रन्थ को निर्भ्रान्त मानते हैं वे स्वयं भ्रान्त हैं।

स्वामी दयानन्द के मत का खंडन

वैदिक इतिहासों के सम्बन्ध में स्वामी दयानन्द के और भी विचार सुनिए। उनका कहना है कि जो इतिहास हम वेदों से सिद्ध किया चाहते हैं वह इतिहास से सर्वथा सर्वाङ्ग में ठीक-ठीक नहीं बैठता। केवल खींचातानी करके हम अन्य ऐतिहासिक घटनाओं का उसके साथ समन्वय करने का यत्न करते हैं। वेदों में न तो पूर्ण गाथाएँ ही मिलती हैं, न ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख ही। जहाँ-तहाँ कुछ ऐतिहासिक शब्द मिल गए। उनकी व्याख्या करने के लिए लोगों ने गाथाएँ गढ़ लीं; जैसे—ऋग्वेद की शुनःशेप की गाथा अथवा उर्वशी और पुरुरवा की गाथा। पहले गाथा की कल्पना कर लेना, फिर उसके सहारे वेदों की संगति लगाना, यह सब अर्थ करना नहीं, बल्कि अनर्थ करना है। सनातन धर्मी विद्वान् वेदों से अवतार आदि सिद्ध किया चाहते हैं। यह उनकी भूल है;

कारण कि वेदों का आविर्भाव सृष्टि के आदि में हुआ जिस समय रामादिक अवतारों का पता नहीं था, इत्यादि ।

ये विचार उन स्वामी दयानन्द के हैं जिन्होंने अपने दोषों के प्रति अपनी आँखें मूँद कर ठीक वैसा ही दोष दूसरे के मत्थे मढ़ने का प्रयत्न किया है ; कारण कि वेद मंत्रों के अर्थ करने में जितनी खींचातानी आपने की है उतनी खींचातानी किन्हीं अन्य वेद व्याख्याताओं ने शायद ही की होगी । आप अब इस संसार में नहीं रहे; अतः आपके अभाव में क्या हम आपके चेलों से पूछ सकते हैं कि यदि वेदों में इतिहास नहीं है तो उनमें उक्त स्वामी जी ने तार-विद्या कहाँ से पा ली ? क्या आपने "युवां पेदवे पुरुवार-मश्विना" इत्यादि इस ऋग्वेदीय मंत्र की व्याख्या करने में मनमानी खींचातानी नहीं की है ? इस मंत्र में आपको तार-विद्या की महक कहाँ से लग गई ? आश्चर्य तो यह है कि जो दया आपने तार-विद्या पर, उसकी वैदिक उत्पत्ति बतलाकर की उस दया से सिनेमा, ग्रामोफोन, रेडियो, टेलिवीज़न आदि विद्याएँ क्यों वंचित रह गईं ? यदि आपकी समझ-मुबारक में वेद ही निःशेष विद्याओं की जड़ है, तो इन विद्याओं की ओर भी अपनी कृपा-कटाक्ष फेरना चाहता था ! असल बात तो यह है कि आपकी उक्त धारणा केवल एक अन्धविश्वास थी जो आपको पाण्डु रोग की तरह सब पदार्थों को पीले ही पीले दिखला रही थी और केवल वे ही पदार्थ इस पीले रंग से बच गए जो आपकी दृष्टि-पथ में नहीं आए । आपने पहले से ही कल्पना कर ली थी कि वेदों में सभी विद्याएँ सूत्र-रूप से विद्यमान हैं ; अतः जब आपने अपने सामने भारत में अंगरेज़ों द्वारा स्थापित तार-विभाग (Telegraph Department) को कुछ सेकेन्डों में ही हजारों मील तक तड़ित् द्वारा खबर पहुँचाते देखा तो चट आपने उक्त मंत्र में आए हुए 'तरुतारं' आदि शब्दों के सादृश्य के बल पर उसका मनमाना अर्थ कर, उसमें से तार विद्या घसीट निकाली । पर चूँकि आपके समय तक सिनेमा आदि विद्याओं का आविष्कार नहीं हुआ था ; अतः आपने इन विद्याओं के विषय में चुप्पी लगा ली । अन्यथा इन्हें भी वेदों के एक कोने में कहीं स्थान देकर आप कितने वेद मंत्रों की मिट्टी पलीद कर दिए होते ।

इसका प्रतिवाद, एक स्वामी जी का चेला, यों कहकर करता है—'अजी, स्वामी जी के भाष्य पर मखौल क्या उड़ाते हो ! यह तो तुम भी मानते होगे कि प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में विमान आदि विविध सवारियों तथा यंत्रों का वर्णन है जिससे प्राचीन भारत में इनका प्रचार होना सिद्ध होता है । पर यह तो दस्तूर की बात है कि जब किसी वस्तु का प्रचार बन्द हो जाता है तब तत्सम्बन्धी शब्दों का ठीक अर्थ समझ में नहीं आता । पुनः जब वह या वैसी ही वस्तु सामने आ जाती है तो उन शब्दों का वास्तविक अभिप्राय मालूम होने लगता है । पुराणों में ब्रह्मा की सवारी हंस, विष्णु की सवारी गरुड़, महादेव की

कारण कि वेदों का आविर्भाव सृष्टि के आदि में हुआ जिस समय रामादिक अवतारों का पता नहीं था, इत्यादि ।

ये विचार उन स्वामी दयानन्द के हैं जिन्होंने अपने दोषों के प्रति अपनी आँखें मूँद कर ठीक वैसा ही दोष दूसरे के मत्थे मढ़ने का प्रयत्न किया है ; कारण कि वेद मंत्रों के अर्थ करने में जितनी खींचातानी आपने की है उतनी खींचातानी किन्हीं अन्य वेद व्याख्याताओं ने शायद ही की होगी। आप अब इस संसार में नहीं रहे; अतः आपके अभाव में क्या हम आपके चेलों से पूछ सकते हैं कि यदि वेदों में इतिहास नहीं है तो उनमें उक्त स्वामी जी ने तार-विद्या कहाँ से पा ली ? क्या आपने "युवां पेदवे पुरुवारमश्विना" इत्यादि इस ऋग्वेदीय मंत्र की व्याख्या करने में मनमानी खींचातानी नहीं की है ? इस मंत्र में आपको तार-विद्या की महक कहाँ से लग गई ? आश्चर्य तो यह है कि जो दया आपने तार-विद्या पर, उसकी वैदिक उत्पत्ति बतलाकर की उस दया से सिनेमा, ग्रामोफोन, रेडियो, टेलिवीज़न आदि विद्याएँ क्यों वंचित रह गईं ? यदि आपकी समझ-मुबारक में वेद ही निःशेष विद्याओं की जड़ है, तो इन विद्याओं की ओर भी अपनी कृपा-कटाक्ष फेरना चाहता था ! असल बात तो यह है कि आपकी उक्त धारणा केवल एक अन्धविश्वास थी जो आपको पाण्डु रोग की तरह सब पदार्थों को पीले ही पीले दिखला रही थी और केवल वे ही पदार्थ इस पीले रंग से बच गए जो आपकी दृष्टि-पथ में नहीं आए। आपने पहले से ही कल्पना कर ली थी कि वेदों में सभी विद्याएँ सूत्र-रूप से विद्यमान हैं ; अतः जब आपने अपने सामने भारत में अंगरेज़ों द्वारा स्थापित तार-विभाग (Telegraph Department) को कुछ सेकेन्डों में ही हजारों मील तक तड़ित् द्वारा खबर पहुँचाते देखा तो चट आपने उक्त मंत्र में आए हुए 'तरुतारं' आदि शब्दों के सादृश्य के बल पर उसका मनमाना अर्थ कर, उसमें से तार विद्या घसीट निकाली। पर चूँकि आपके समय तक सिनेमा आदि विद्याओं का आविष्कार नहीं हुआ था ; अतः आपने इन विद्याओं के विषय में चुप्पी लगा ली। अन्यथा इन्हें भी वेदों के एक कोने में कहीं स्थान देकर आप कितने वेद मंत्रों की मिट्टी पलीद कर दिए होते।

इसका प्रतिवाद, एक स्वामी जी का चेला, यों कहकर करता है—'अजी, स्वामी जी के भाष्य पर मखौल क्या उड़ाते हो ! यह तो तुम भी मानते होगे कि प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में विमान आदि विविध सवारियों तथा यंत्रों का वर्णन है जिससे प्राचीन भारत में इनका प्रचार होना सिद्ध होता है। पर यह तो दस्तूर की बात है कि जब किसी वस्तु का प्रचार बन्द हो जाता है तब तत्सम्बन्धी शब्दों का ठीक अर्थ समझ में नहीं आता। पुनः जब वह या वैसी ही वस्तु सामने आ जाती है तो उन शब्दों का वास्तविक अभिप्राय मालूम होने लगता है। पुराणों में ब्रह्मा की सवारी हंस, विष्णु की सवारी गरुड़, महादेव की

सवारी बैल, गणेश की सवारी चूहा, दुर्गा की सवारी सिंह और भैरव की सवारी कुत्ता लिखा है। परन्तु आज यदि इन पशु-पक्षियों के आकार के वायुयान या कोई अन्य सवारी बनने लगें तो क्या यह कहना अनुचित होगा कि ये बैल, गरुड़ आदि की शक्ल की सवारियाँ वास्तव में प्राचीन भारत में प्रचलित विविध यानों के आकार को दिखलाती हैं? वास्तव में वस्तु का ज्ञान हुए बिना तत्सम्बन्धी शब्दों का अर्थ ठीक तरह से स्फुरित नहीं होता।

स्वामी जी के चेले ने कहा तो ठीक, पर कुछ कसर रह गया। यदि पदार्थ को देखे बिना तद्बोधक शब्दों का ठीक अर्थ स्फुरित नहीं होता तो स्वामी जी का किया हुआ केवल उन्हीं वेदमंत्रों का भाष्य ठीक है जिनमें आपके देखे हुए यंत्रों के सदृश यंत्रों का वर्णन है; पर आपका किया हुआ अन्य वेद मंत्रों का भाष्य जिनमें टेलीफोन, ग्रामोफोन, सिनेमा, रेडियो, एटम् बम आदि यंत्रों का वर्णन, आपके मत से वेदों के निःशेष विद्याओं की जड़ होने के कारण, अवश्य ही किया गया होगा, संदिग्ध है क्योंकि आपने इन्हें देखा नहीं था और चूँकि इन मंत्रों को छाँट कर अन्य मंत्रो से अलग करना असम्भव है, अतः इस अनिश्चयता के रहते आपका सारा वेद भाष्य संदिग्ध एवं अमान्य सिद्ध हो जाता है। इसके अतिरिक्त मैं यह कभी भी मानने को तैयार नहीं कि प्राचीन भारत-वासी पशु-पक्षियों के आकार की वायुयान आदि सवारियाँ बनाना तथा उन्हें काम में लाना जानते थे। प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में इनका वर्णन या तो कवियों की कोरी कल्पनाएँ हैं, या नहीं तो उनके बनाने वाले अभारतीय थे जिन्हें देवता और असुर कहा गया है।

अब रह गई वेदों में इतिहास के होने की बात। वेदनिःशेष विद्याओं की जड़ हों वा न हों, उनमें इतिहास का अस्तित्व मानना तो तर्क-संगत जान पड़ता है। कोई भी विद्वान् किसी भी वेद-संहिता को उठाकर निष्पक्ष भाव से देखे, उन्हें ऐतिहासिक बातें प्रचुर मात्रा में मिलेंगी। ब्राह्मण-ग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद् सब में इतिहास भरा पड़ा है। वेदों को परमात्मा के निःश्वास मानने वाले सायण, भट्ट भास्कर, स्कन्द स्वामी आदि उनमें इतिहास का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। यास्क ने भी अपने निरुक्त में इतिहासों का कई बार उल्लेख किया है। शंकर, रामानुज, वल्लभ आदि सभी आचार्य वेदों में इतिहास मानते हैं और यही विज्ञान-सम्मत प्राचीन परम्परा भी है। जैसे दूसरे धर्म्मावलम्बी अपने-अपने धर्म ग्रन्थों को नित्य तथा ईश्वर कृत मानते हैं, वैसे ही वेदों को नित्य मानने से कोई लाभ नहीं। वेदों को पौरुषेय और अनित्य मानने से भी उन पर हिन्दू जाति की श्रद्धा अक्षुण्ण रह सकती है। जब भगवत्गीता, रामायण और महाभारत को पौरुषेय और अनित्य जान कर भी उन पर हिन्दुओं की अटल श्रद्धा है, तब वेद तो पूर्वोक्त कई दृष्टियों से उनके और भी श्रद्धेय और पूजनीय हो सकते हैं।

सवारी बैल, गणेश की सवारी चूहा, दुर्गा की सवारी सिंह और भैरव की सवारी कुत्ता लिखा है। परन्तु आज यदि इन पशु-पक्षियों के आकार के वायुयान या कोई अन्य सवारी बनने लगें तो क्या यह कहना अनुचित होगा कि ये बैल, गरुड़ आदि की शक्ल की सवारियाँ वास्तव में प्राचीन भारत में प्रचलित विविध यानों के आकार को दिखलाती हैं? वास्तव में वस्तु का ज्ञान हुए बिना तत्सम्बन्धी शब्दों का अर्थ ठीक तरह से स्फुरित नहीं होता।

स्वामी जी के चेले ने कहा तो ठीक, पर कुछ कसर रह गया। यदि पदार्थ को देखे बिना तद्बोधक शब्दों का ठीक अर्थ स्फुरित नहीं होता तो स्वामी जी का किया हुआ केवल उन्हीं वेदमंत्रों का भाष्य ठीक है जिनमें आपके देखे हुए यंत्रों के सदृश यंत्रों का वर्णन है; पर आपका किया हुआ अन्य वेद मंत्रों का भाष्य जिनमें टेलीफोन, ग्रामोफोन, सिनेमा, रेडियो, एटम् बम आदि यंत्रों का वर्णन, आपके मत से वेदों के निःशेष विद्याओं की जड़ होने के कारण, अवश्य ही किया गया होगा, संदिग्ध है क्योंकि आपने इन्हें देखा नहीं था और चूँकि इन मंत्रों को छाँट कर अन्य मंत्रो से अलग करना असम्भव है, अतः इस अनिश्चयता के रहते आपका सारा वेद भाष्य संदिग्ध एवं अमान्य सिद्ध हो जाता है। इसके अतिरिक्त मैं यह कभी भी मानने को तैयार नहीं कि प्राचीन भारत-वासी पशु-पक्षियों के आकार की वायुयान आदि सवारियाँ बनाना तथा उन्हें काम में लाना जानते थे। प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में इनका वर्णन या तो कवियों की कोरी कल्पनाएँ हैं, या नहीं तो उनके बनाने वाले अभारतीय थे जिन्हें देवता और असुर कहा गया है।

अब रह गई वेदों में इतिहास के होने की बात। वेदनिःशेष विद्याओं की जड़ हों वा न हों, उनमें इतिहास का अस्तित्व मानना तो तर्क-संगत जान पड़ता है। कोई भी विद्वान् किसी भी वेद-संहिता को उठाकर निष्पक्ष भाव से देखे, उन्हें ऐतिहासिक बातें प्रचुर मात्रा में मिलेंगी। ब्राह्मण-ग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद् सब में इतिहास भरा पड़ा है। वेदों को परमात्मा के निःश्वास मानने वाले सायण, भट्ट भास्कर, स्कन्द स्वामी आदि उनमें इतिहास का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। यास्क ने भी अपने निरुक्त में इतिहासों का कई बार उल्लेख किया है। शंकर, रामानुज, वल्लभ आदि सभी आचार्य वेदों में इतिहास मानते हैं और यही विज्ञान-सम्मत प्राचीन परम्परा भी है। जैसे दूसरे धर्म्मावलम्बी अपने-अपने धर्म ग्रन्थों को नित्य तथा ईश्वर कृत मानते हैं, वैसे ही वेदों को नित्य मानने से कोई लाभ नहीं। वेदों को पौरुषेय और अनित्य मानने से भी उन पर हिन्दू जाति की श्रद्धा अक्षुण्ण रह सकती है। जब भगवत्गीता, रामायण और महाभारत को पौरुषेय और अनित्य जान कर भी उन पर हिन्दुओं की अटल श्रद्धा है, तब वेद तो पूर्वोक्त कई दृष्टियों से उनके और भी श्रद्धेय और पूजनीय हो सकते हैं।

पहले कह आए हैं कि स्वामी दयानन्द के से विचार वाले सज्जन वेदों में आए हुए वसिष्ठ, भरद्वाज, विश्वामित्र आदि शब्दों को यौगिक मानते हैं। उनका कथन है कि इन यौगिक शब्दों को लोगों ने भ्रमवश बाद में व्यक्ति-विशेषों के नाम समझ कर उन्हीं के आधार पर वेदों में भी इतिहास होने की कल्पना कर डाली। अच्छा, नामों की तो यह बात है; परन्तु वसिष्ठ, विश्वामित्र, पुरुरवा, उर्वशी आदि की कथाओं की क्या गति होगी? उत्तर दिया जाता है कि वे कथाएँ रूपक हैं। यह ठीक नहीं। यदि वैदिक इतिहास रूपक है तो वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि की पौराणिक, रामायणीय अथवा महाभारतीय कथाएँ रूपक क्यों नहीं? यों तो कितने रामायण और महाभारत को भी रूपक मानते हैं। परन्तु इस तरह किसी भी जाति के सारे इतिहास को रूपक मान लेना अन्याय है। वेद जैसे प्राचीन ग्रंथ में निबद्ध हिन्दू जाति की समूची संस्कृति, इतिहास, आचार आदि रूपक और काल्पनिक हैं—यह कहना अनुचित है। अतः यही मत समीचीन जान पड़ता है कि वेद अनित्य और पौरुषेय हैं और उनमें इतिहास अवश्य है।

पहले कह आए हैं कि स्वामी दयानन्द के से विचार वाले सज्जन वेदों में आए हुए वसिष्ठ, भरद्वाज, विश्वामित्र आदि शब्दों को यौगिक मानते हैं। उनका कथन है कि इन यौगिक शब्दों को लोगों ने भ्रमवश बाद में व्यक्ति-विशेषों के नाम समझ कर उन्हीं के आधार पर वेदों में भी इतिहास होने की कल्पना कर डाली। अच्छा, नामों की तो यह बात है; परन्तु वसिष्ठ, विश्वामित्र, पुरुरवा, उर्वशी आदि की कथाओं की क्या गति होगी ? उत्तर दिया जाता है कि वे कथाएँ रूपक हैं। यह ठीक नहीं। यदि वैदिक इतिहास रूपक है तो वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि की पौराणिक, रामायणीय अथवा महाभारतीय कथाएँ रूपक क्यों नहीं ? यों तो कितने रामायण और महाभारत को भी रूपक मानते हैं। परन्तु इस तरह किसी भी जाति के सारे इतिहास को रूपक मान लेना अन्याय है। वेद जैसे प्राचीन ग्रंथ में निबद्ध हिन्दू जाति की समूची संस्कृति, इतिहास, आचार आदि रूपक और काल्पनिक हैं—यह कहना अनुचित है। अतः यही मत समीचीन जान पड़ता है कि वेद अनित्य और पौरुषेय हैं और उनमें इतिहास अवश्य है।

अथ द्वितीय परिच्छेद

वैदिक साहित्य का रचना-काल

वैदिक साहित्य के विभाग

वैदिक साहित्य के तीन विभाग हैं—(१) मंत्र भाग जिसे साहित्य भाग भी कहते हैं, (२) ब्राह्मण भाग जिसके अन्तर्गत आरण्यक और उपनिषद् हैं और (३) सूत्र-भाग। उदाहरणतः ऋग्वेदादि त्रयी मंत्र भाग; शतपथ, गोपथ आदि ब्राह्मण भाग, जिसके अन्तर्गत ऐतरेय, तैत्तिरीय, कौषीतकी आदि आरण्यक और ईश, केन, कठ आदि उपनिषदें हैं और श्रोत सूत्र, धर्मसूत्र तथा गृहसूत्र, जो कुल मिलकर कल्पसूत्र कहे जाते हैं, सूत्र भाग हैं। मंत्रभाग (संहिता भाग) का परिचय तो प्रथम परिच्छेद में दे चुके हैं; ब्राह्मण भाग और सूत्र भाग का परिचय आगे चलकर देंगे।

काल क्रमानुसार मंत्र भाग सबसे प्राचीन है। तत्पश्चात् ब्राह्मण ग्रन्थों का और सब के पीछे सूत्र ग्रन्थों का रचना-काल आता है। इसके अतिरिक्त यह कोई निश्चय नहीं है कि किसी भी विभाग के सभी अंश, रचना-काल की दृष्टि से, समकालीन (एक ही काल में लिखे गए) हैं। किसी भी विभाग का अध्ययन यदि आप सूक्ष्मतापूर्वक करें तो आप देखेंगे कि उसके भिन्न-भिन्न अंश भिन्न-भिन्न काल में रचे गए हैं। इस पर यह भी तुर्रा है कि उनका रचना-काल सूक्ष्मतः जानने के लिए हमारे पास कोई भी साधन नहीं है।

भारत के प्राचीन प्रणाली के विद्वान् वेदों को नित्य और अपौरुषेय मानते हैं। यदि वेद सचमुच ऐसे ही हैं तो उनका आयु-निर्धारण असम्भव और अतर्क्य है। पर जो लोग वेदों के विषय में ऐतिहासिक दृष्टि-कोण रखते हैं उनका यह दावा है कि यदि हम वेदों का रचना-काल टीक-टीक नहीं बता सकते, तो इतना तो अवश्य बता सकते हैं कि वेद या तत्सम्बन्धी कोई भी ग्रन्थ काल-जन्य किन दो सीमाओं के भीतर रचे गए।

संहिताएँ अनेक काल की रचनाएँ हैं

वैदिक साहित्य पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करनेवाले विद्वानों की राय में वैदिक संहिताएँ अनेक काल की रचनाएँ हैं। मंडलों, सूक्तों और अनुवादों आदि से यह बात स्पष्टतः मालूम हो जाती है। वे एक से एक सम्बद्ध नहीं हैं; न कि एक ही सूक्त के सभी मंत्र परस्पर सम्बद्ध हैं। किसी-किसी मंत्र में तो एक ही व्यक्ति के लिए एक वचन और

अथ द्वितीय परिच्छेद

वैदिक साहित्य का रचना-काल

वैदिक साहित्य के विभाग

वैदिक साहित्य के तीन विभाग हैं—(१) मंत्र भाग जिसे साहित्य भाग भी कहते हैं, (२) ब्राह्मण भाग जिसके अन्तर्गत आरण्यक और उपनिषद् हैं और (३) सूत्र-भाग। उदाहरणतः ऋग्वेदादि त्रयी मंत्र भाग; शतपथ, गोपथ आदि ब्राह्मण भाग, जिसके अन्तर्गत ऐतरेय, तैत्तिरीय, कौषीतकी आदि आरण्यक और ईश, केन, कठ आदि उपनिषदें हैं और श्रोत सूत्र, धर्मसूत्र तथा गृहसूत्र, जो कुल मिलकर कल्पसूत्र कहे जाते हैं, सूत्र भाग हैं। मंत्रभाग (संहिता भाग) का परिचय तो प्रथम परिच्छेद में दे चुके हैं; ब्राह्मण भाग और सूत्र भाग का परिचय आगे चलकर देंगे।

काल क्रमानुसार मंत्र भाग सबसे प्राचीन है। तत्पश्चात् ब्राह्मण ग्रन्थों का और सब के पीछे सूत्र ग्रन्थों का रचना-काल आता है। इसके अतिरिक्त यह कोई निश्चय नहीं है कि किसी भी विभाग के सभी अंश, रचना-काल की दृष्टि से, समकालीन (एक ही काल में लिखे गए) हैं। किसी भी विभाग का अध्ययन यदि आप सूक्ष्मतापूर्वक करें तो आप देखेंगे कि उसके भिन्न-भिन्न अंश भिन्न-भिन्न काल में रचे गए हैं। इस पर यह भी बुरा है कि उनका रचना-काल सूक्ष्मतः जानने के लिए हमारे पास कोई भी साधन नहीं है।

भारत के प्राचीन प्रणाली के विद्वान् वेदों को नित्य और अपौरुषेय मानते हैं। यदि वेद सचमुच ऐसे ही हैं तो उनका आयु-निर्धारण असम्भव और अतर्क्य है। पर जो लोग वेदों के विषय में ऐतिहासिक दृष्टि-कोण रखते हैं उनका यह दावा है कि यदि हम वेदों का रचना-काल ठीक-ठीक नहीं बता सकते, तो इतना तो अवश्य बता सकते हैं कि वेद या तत्सम्बन्धी कोई भी ग्रन्थ काल-जन्य किन दो सीमाओं के भीतर रचे गए।

संहिताएँ अनेक काल की रचनाएँ हैं

वैदिक साहित्य पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करनेवाले विद्वानों की राय में वैदिक संहिताएँ अनेक काल की रचनाएँ हैं। मंडलों, सूक्तों और अनुवादों आदि से यह बात स्पष्टतः मालूम हो जाती है। वे एक से एक सम्बद्ध नहीं हैं; न कि एक ही सूक्त के सभी मंत्र परस्पर सम्बद्ध हैं। किसी-किसी मंत्र में तो एक ही व्यक्ति के लिए एक वचन और

बहुवचन दोनों का प्रयोग हुआ है। एक ही सूक्त में कई देवों की प्रार्थनाएँ हैं। किसी सूक्त की भाषा अति ही प्राचीन तथा किसी की लौकिक संस्कृत की तरह मालूम होती है। ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद, इन तीनों की भाषाओं में बहुत भेद दिखाई देता है। किसी-किसी मंत्र में, यदि हम उसका अर्थ ठीक-ठीक लगाते हैं, ऐसी भौगोलिक परिस्थिति का वर्णन है जो कम से कम पचीस सहस्र वर्षों की है और किसी-किसी में गंगा, यमुना, कीटक आदि का भी वर्णन है। कहीं उच्चतम सामाजिक परिस्थिति का वर्णन है, तो कहीं निम्नतम का भी। कहीं जादू-टोने का उल्लेख है तो कहीं अनिर्वचनीय ब्रह्म का। इस प्रकार नई और पुरानी बातों को देखने से साफ मालूम हो जाता है कि वेद मंत्र विविध समयों में रचे गए और सबको संहिता रूप में वेद व्यास ने ग्रथित किया। इन सब अड़चनों के कारण वैदिक ग्रन्थों के रचना-काल का सूक्ष्मतापूर्वक पता लगाना मानव प्रयास के लिए सर्वथा दुष्कर हो गया है। पर इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि इस दिशा में कोई प्रयास ही नहीं हुआ है।

काल-ज्ञान के दो साधन

विद्वानों ने वेदों तथा तत्सम्बन्धी ग्रन्थों के रचना-काल का पता मोटे तौर पर लगाने के लिए प्रायः दो साधनों का आश्रय लिया है जिनमें पहला तो ज्योतिष-सम्बन्धी और दूसरा सूर्यवंशीय तथा चन्द्रवंशीय राजाओं की वंशावली सम्बन्धी है जिनका विचार आगे किया जाता है।

ज्योतिष-सम्बन्धी शाधन

(१) ज्योतिष-सम्बन्धी साधन। इस साधन को भली भाँति समझने के लिए पाठकों को कुछ ज्योतिष संज्ञाएँ जान लेना जरूरी है।

क्रान्ति वृत्ति

(क) पृथ्वी की वार्षिक गति के कारण सूर्य जिस प्रतीयमान (Apparent) वृत्ताकार पथ से नक्षत्रगणों के बीच धीरे-धीरे पश्चिम से पूर्व की ओर हटता हुआ पृथ्वी की वार्षिक परिक्रमा करता-सा जान पड़ता है उसे क्रान्ति-वृत्त Ecliptic कहते हैं।

नाड़ी वृत्त

(ख) उस कल्पित पूर्वापर वृत्त को जो खगोल (नभोमंडल) को उत्तर और दक्षिण दो गोलार्द्धों में विभक्त करता हुआ उसके दोनों ध्रुवों (Poles) के बीच में उसके चारों ओर खींचा जाता है नाड़ी वृत्त वा नाड़ी मंडल (Celestial Equator) कहते हैं। यही आकाशीय विषुवत् रेखा है।

सम्पात-बिन्दु

(ग) क्रान्तिवृत्त और नाड़ी वृत्त दोनों एक तल (plane) में न होकर वे एक दूसरे

बहुवचन दोनों का प्रयोग हुआ है। एक ही सूक्त में कई देवों की प्रार्थनाएँ हैं। किसी सूक्त की भाषा अति ही प्राचीन तथा किसी की लौकिक संस्कृत की तरह मालूम होती है। ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद, इन तीनों की भाषाओं में बहुत भेद दिखाई देता है। किसी-किसी मंत्र में, यदि हम उसका अर्थ ठीक-ठीक लगाते हैं, ऐसी भौगोलिक परिस्थिति का वर्णन है जो कम से कम पच्चीस सहस्र वर्षों की है और किसी-किसी में गंगा, यमुना, कीटक आदि का भी वर्णन है। कहीं उच्चतम सामाजिक परिस्थिति का वर्णन है, तो कहीं निम्नतम का भी। कहीं जादू-टोने का उल्लेख है तो कहीं अनिर्वचनीय ब्रह्म का। इस प्रकार नई और पुरानी बातों को देखने से साफ मालूम हो जाता है कि वेद मंत्र विविध समयों में रचे गए और सबको संहिता रूप में वेद व्यास ने ग्रथित किया। इन सब अड़चनों के कारण वैदिक ग्रन्थों के रचना-काल का सूक्ष्मतापूर्वक पता लगाना मानव प्रयास के लिए सर्वथा दुष्कर हो गया है। पर इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि इस दिशा में कोई प्रयास ही नहीं हुआ है।

काल-ज्ञान के दो साधन

विद्वानों ने वेदों तथा तत्सम्बन्धी ग्रन्थों के रचना-काल का पता मोटे तौर पर लगाने के लिए प्रायः दो साधनों का आश्रय लिया है जिनमें पहला तो ज्योतिष-सम्बन्धी और दूसरा सूर्यवंशीय तथा चन्द्रवंशीय राजाओं की वंशावली सम्बन्धी है जिनका विचार आगे किया जाता है।

ज्योतिष-सम्बन्धी शाधन

(१) ज्योतिष-सम्बन्धी साधन। इस साधन को भली भाँति समझने के लिए पाठकों को कुछ ज्योतिष संज्ञाएँ जान लेना जरूरी है।

क्रान्ति वृत्ति

(क) पृथ्वी की वार्षिक गति के कारण सूर्य जिस प्रतीयमान (Apparent) वृत्ताकार पथ से नक्षत्रगणों के बीच धीरे-धीरे पश्चिम से पूर्व की ओर हटता हुआ पृथ्वी की वार्षिक परिक्रमा करता-सा जान पड़ता है उसे क्रान्ति-वृत्त Ecliptic कहते हैं।

नाड़ी वृत्त

(ख) उस कल्पित पूर्वापर वृत्त को जो खगोल (नभोमंडल) को उत्तर और दक्षिण दो गोलार्द्धों में विभक्त करता हुआ उसके दोनों ध्रुवों (Poles) के बीच में उसके चारों ओर खींचा जाता है नाड़ी वृत्त वा नाड़ी मंडल (Celestial Equator) कहते हैं। यही आकाशीय विषुवत् रेखा है।

सम्पात-बिन्दु

(ग) क्रान्तिवृत्त और नाड़ी वृत्त दोनों एक तल (plane) में न होकर वे एक दूसरे

को, प्राचीनों के मत से, २४ अंशों (Degrees) के, पर आधुनिकों के मत से २३ अंश २८ कलाओं के कोण पर स्पर्श करते हैं, जिससे दो सम्पात विन्दु उत्पन्न होते हैं। इनमें से एक को वासन्त क्रान्तिपात (Vernal Equinox) जिसके द्वारा सूर्य दक्षिण गोलार्द्ध से उत्तर गोलार्द्ध में, तथा दूसरे को शारद क्रान्तिपात (Autumnal Equinox) जिसके द्वारा वह उत्तर गोलार्द्ध में प्रवेश करता है, कहते हैं। वैदिक काल में वासन्त क्रान्तिपात से सौर वर्ष का प्रारम्भ माना जाता था।

अयन गति

(ब) पूर्वोक्त सम्पात विन्दु स्थिर नहीं है, वे दोनों ही धीरे-धीरे क्रान्ति वृत्त पर पूर्व से पश्चिम की ओर नाड़ी वृत्त के हटते जाने के कारण खिसक रहे हैं। उनकी इस गति को अयन-गति (Equinoctial precession) कहते हैं। ग्रहलाघव के मत से १ कला मकरन्द के मत से ५४ विकला; पर आधुनिक पाश्चात्य ज्योतिर्विदों के सूक्ष्म वेध से केवल ५० विकला ही वार्षिक अयन-गति होती है। अतः सूक्ष्म गणनानुसार सम्पात विन्दुओं को १ अंश चलने में $\frac{\text{१ अंश} = \text{६० कला} = \text{३६०० विकला}}{\text{५० विकला}}$ = ७२ वर्ष लगते हैं। अर्थात् १ अंश में ३६०० विकलाएँ होती हैं जिनमें ५० विकलाओं का भाग देने से ७२ वर्ष आते हैं।

अयनांश

(ङ) क्रान्ति वृत्त स्थिर है। पर नाड़ी वृत्त क्रान्ति वृत्त में सटा हुआ धीरे-धीरे पूर्व से पश्चिम की ओर हट रहा है जिससे पूर्वोक्त सम्पात विन्दुओं में गति उत्पन्न होती है। किसी इष्ट काल तक वासन्त क्रान्तिपात मेषारंभ जितना दूर पश्चिम की ओर हटा रहता है उतनी दूरी का अंशादिमान अयनांश कहलाता है। वर्त्तमान ईसवी सन् १६४७ के अन्त तक सूक्ष्म वेधानुसार अयनांश का मान अंशादि २२।५६।६ है जिसे गणित की सरलता के लिए हम २३ अंश मान सकते हैं। इस हिसाब से वासन्त क्रान्तिपात का मेषारंभ से अलग हुए आज २३ × ७२ = १६५६ वर्ष बीत गए।

शायन भोग

(च) वासन्त क्रान्तिपात से किसी ग्रह या नक्षत्र की क्रान्तिवृत्त गत पूर्व की ओर की दूरी, जिसका मान राश्यादि या अंशादि में दिया रहता है, उसका सायन भोग (Celestial Longitude) कहलाता है। ग्रह चल, पर नक्षत्र अचल हैं; अतः ग्रहों का सायन भोग उनकी अपनी गति तथा अयन गति के कारण घटता-बढ़ता रहता है; पर नक्षत्रों का सायन भोग केवल अयन गति के कारण धीरे-धीरे बढ़ता ही जायगा जब तक उक्त क्रान्तिपात राशि चक्र का पूरा परिभ्रमण समाप्त न कर लेगा और वह समाप्ति ३६० × ७२ = २५६२०

को, प्राचीनों के मत से, २४ अंशों (Degrees) के, पर आधुनिकों के मत से २३ अंश २८ कलाओं के कोण पर स्पर्श करते हैं, जिससे दो सम्पात विन्दु उत्पन्न होते हैं। इनमें से एक को वासन्त क्रान्तिपात (Vernal Equinox) जिसके द्वारा सूर्य दक्षिण गोलार्द्ध से उत्तर गोलार्द्ध में, तथा दूसरे को शारद क्रान्तिपात (Autumnal Equinox) जिसके द्वारा वह उत्तर गोलार्द्ध में प्रवेश करता है, कहते हैं। वैदिक काल में वासन्त क्रान्तिपात से सौर वर्ष का प्रारम्भ माना जाता था।

अयन गति

(ब) पूर्वोक्त सम्पात विन्दु स्थिर नहीं है, वे दोनों ही धीरे-धीरे क्रान्ति वृत्त पर पूर्व से पश्चिम की ओर नाड़ी वृत्त के हटते जाने के कारण खिसक रहे हैं। उनकी इस गति को अयन-गति (Equinoctial precession) कहते हैं। ग्रहलाघव के मत से १ कला मकरन्द के मत से ५४ विकला; पर आधुनिक पाश्चात्य ज्योतिर्विदों के सूक्ष्म वेध से केवल ५० विकला ही वार्षिक अयन-गति होती है। अतः सूक्ष्म गणनानुसार सम्पात विन्दुओं को १ अंश चलने में $\frac{\text{१ अंश} = \text{६० कला} = \text{३६०० विकला}}{\text{५० विकला}} = \text{७२ वर्ष}$ लगते हैं। अर्थात् १ अंश में ३६०० विकलाएँ होती हैं जिनमें ५० विकलाओं का भाग देने से ७२ वर्ष आते हैं।

अयनांश

(ङ) क्रान्ति वृत्त स्थिर है। पर नाड़ी वृत्त क्रान्ति वृत्त में सटा हुआ धीरे-धीरे पूर्व से पश्चिम की ओर हट रहा है जिससे पूर्वोक्त सम्पात विन्दुओं में गति उत्पन्न होती है। किसी इष्ट काल तक वासन्त क्रान्तिपात मेषारंभ जितना दूर पश्चिम की ओर हटा रहता है उतनी दूरी का अंशादिमान अयनांश कहलाता है। वर्त्तमान ईसवी सन् १९४७ के अन्त तक सूक्ष्म वेधानुसार अयनांश का मान अंशादि २२।५६।९ है जिसे गणित की सरलता के लिए हम २३ अंश मान सकते हैं। इस हिसाब से वासन्त क्रान्तिपात का मेषारंभ से अलग हुए आज २३ × ७२ = १६५६ वर्ष बीत गए।

शायन भोग

(च) वासन्त क्रान्तिपात से किसी ग्रह या नक्षत्र की क्रान्तिवृत्त गत पूर्व की ओर की दूरी, जिसका मान राश्यादि या अंशादि में दिया रहता है, उसका सायन भोग (Celestial Longitude) कहलाता है। ग्रह चल, पर नक्षत्र अचल हैं; अतः ग्रहों का सायन भोग उनकी अपनी गति तथा अयन गति के कारण घटता-बढ़ता रहता है; पर नक्षत्रों का सायन भोग केवल अयन गति के कारण धीरे-धीरे बढ़ता ही जायगा जब तक उक्त क्रान्तिपात राशि चक्र का पूरा परिभ्रमण समाप्त न कर लेगा और वह समाप्ति ३६० × ७२ = २५९२०

अर्थात् लगभग २६००० वर्षों में होगी। नीचे लिखे चक्र में अश्विन्यादि पाँच नक्षत्रों के ईसवी सन् १९४७ के सायन भोग गणित की सरलता के लिए केवल अंशों में ही दिए गए हैं—

अश्विनी	=	३२ अंश
भरणी	=	४७ अंश
कृत्तिका	=	५९ अंश
रोहिणी	=	६९ अंश
मृगशिरा	=	८३ अंश

शर

(छ) क्रान्तिवृत्त के ध्रुव को कदम्ब कहते हैं। कदम्ब प्रोत वृत्त पर ग्रहों का नक्षत्रों की क्रान्तिवृत्त से दक्षिणोत्तर दूरी का नाम शर (Celestial Latitude) है। इसका मान अंशादि होता है। यदि ग्रह स्वकक्षा और क्रान्तिवृत्त के सम्पात-विन्दु (node) पर रहे तो उसका शर शून्य रहता है। पर जैसे-जैसे यह उत्तर वा दक्षिण की ओर खिसकता है वैसे-वैसे उसका शर भी क्रमशः उत्तर वा दक्षिण हुआ करता है। नक्षत्रों का शर उनकी स्थिरता के कारण सदा एक सा रहता है।

संहिताओं का रचना-काल जानना

अब हमें यहाँ पर यह दिखलाना है कि किसी वैदिक ग्रन्थ के रचना-काल का पता उसमें उल्लिखित किसी ज्योतिषिक घटना के आधार पर कैसे लगाया जा सकता है। पहले हमें ऋग्वेदादि के संहिताओं के रचना-काल का पता लगाना चाहिए। उनके अध्ययन से पता चलता है कि संहिताओं के समय में नक्षत्रों की गणना मृगशिरा नक्षत्र से होती थी और वही सबसे पहला नक्षत्र गिना जाता था तथा रातदिन का बराबर होना भी इसी नक्षत्र के सूर्य में देखा जाता था। पर प्रत्येक नक्षत्र का मान ३६०÷२७=अंशादि १३।२० है और पता नहीं कि मृगशिरा के कितने अंशों पर वासन्त क्रान्तिपात स्थित था जहाँ सूर्य के आने पर दिन-रात तुल्य होते थे। अतः मृगशिरा का समूचा मान लेकर मेषारंभ में स्थित अश्विनी के आदि से मृगशिरा के अन्त तक गिनने पर नक्षत्रों की संख्या ५ होती है। इन अश्विन्यादि पाँचों नक्षत्रों का मान (अंशादि १३।२०)×५=अंशादि ६६।४०= सुखार्थ ६७ अंश हुआ। पर वासन्त-क्रान्तिपात के सम से भी पीछे हटकर मीन राशि में वर्त्तमान अयनांश-परिमित २३ अंश चला गया है; अतः ६७+२३=९० अंश-परिमित अयन-गति वैदिक काल से वर्त्तमान काल तक हुई है। अब ९० को ७२ से गुणा किया तो ६४८० वर्ष संहिताओं की आयु निकली। इसमें से वर्त्तमान ईसवी सन् १९४७ घटाया तो ईसा से ४५३३ वर्ष पूर्व संहिताओं का रचना-काल आया। स्व० श्रीबाल गंगाधर तिलक

अर्थात् लगभग २६००० वर्षों में होगी। नीचे लिखे चक्र में अश्विन्यादि पाँच नक्षत्रों के ईसवी सन् १९४७ के सायन भोग गणित की सरलता के लिए केवल अंशों में ही दिए गए हैं—

अश्विनी = ३२ अंश
भरणी = ४७ अंश
कृत्तिका = ५६ अंश
रोहिणी = ६६ अंश
मृगशिरा = ८३ अंश

शर

(छ) क्रान्तिवृत्त के ध्रुव को कदम्ब कहते हैं। कदम्ब प्रोत वृत्त पर ग्रहों का नक्षत्रों की क्रान्तिवृत्त से दक्षिणोत्तर दूरी का नाम शर (Celestial Latitude) है। इसका मान अंशादि होता है। यदि ग्रह स्वकक्षा और क्रान्तिवृत्त के सम्पात-विन्दु (node) पर रहे तो उसका शर शून्य रहता है। पर जैसे-जैसे यह उत्तर वा दक्षिण की ओर खिसकता है वैसे-वैसे उसका शर भी क्रमशः उत्तर वा दक्षिण हुआ करता है। नक्षत्रों का शर उनकी स्थिरता के कारण सदा एक सा रहता है।

संहिताओं का रचना-काल जानना

अब हमें यहाँ पर यह दिखलाना है कि किसी वैदिक ग्रन्थ के रचना-काल का पता उसमें उल्लिखित किसी ज्योतिषिक घटना के आधार पर कैसे लगाया जा सकता है। पहले हमें ऋग्वेदादि के संहिताओं के रचना-काल का पता लगाना चाहिए। उनके अध्ययन से पता चलता है कि संहिताओं के समय में नक्षत्रों की गणना मृगशिरा नक्षत्र से होती थी और वही सबसे पहला नक्षत्र गिना जाता था तथा रातदिन का बराबर होना भी इसी नक्षत्र के सूर्य में देखा जाता था। पर प्रत्येक नक्षत्र का मान ३६०÷२७=अंशादि १३।२० है और पता नहीं कि मृगशिरा के कितने अंशों पर वासन्त क्रान्तिपात स्थित था जहाँ सूर्य के आने पर दिन-रात तुल्य होते थे। अतः मृगशिरा का समूचा मान लेकर मेषारंभ में स्थित अश्विनी के आदि से मृगशिरा के अन्त तक गिनने पर नक्षत्रों की संख्या ५ होती है। इन अश्विन्यादि पाँचों नक्षत्रों का मान (अंशादि १३।२०)×५=अंशादि ६६।४०= सुखार्थ ६७ अंश हुआ। पर वासन्त-क्रान्तिपात के सम से भी पीछे हटकर मीन राशि में वर्त्तमान अयनांश-परिमित २३ अंश चला गया है; अतः ६७+२३=९० अंश-परिमित अयन-गति वैदिक काल से वर्त्तमान काल तक हुई है। अब ९० को ७२ से गुणा किया, तो ६४८० वर्ष संहिताओं की आयु निकली। इसमें से वर्त्तमान ईसवी सन् १९४७ घटाया तो ईसा से ४५३३ वर्ष पूर्व संहिताओं का रचना-काल आया। स्व० श्रीबाल गंगाधर तिलक

महोदय के मत से संहिताओं का रचना-काल ४५०० ईसा पूर्व है जो हमारी गणना के प्रायः तुल्य है। संहिताएँ इससे अधिक पुरानी नहीं हो सकतीं; क्योंकि हमने मृगशिरा का समूचा मान लेकर ही गणित किया है। पर यह मत नितान्त स्थूल है। सभी वेद मंत्र एक साथ नहीं रचे गए। केवल कुछ ही मंत्रों के लिए यह समय ठीक हो सकता है। सबके लिए नहीं। इस मत का खंडन आगे चलकर करेंगे।

ब्राह्मण-ग्रन्थों का रचना काल जानना

अब ब्राह्मण-ग्रन्थों के रचना-काल का पता लगाया जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में सबसे प्रधान शतपथ ब्राह्मण है जिसमें लिखा है—

"कृत्तिका स्वादधीत। एनाह वै प्राच्यै दिशोनच्यवन्ते; सर्वाणिह वा अन्यानि नक्षत्राणि प्राच्यै दिशश्च्यवन्ते।"

अर्थ—कृत्तिका नक्षत्र में अग्नि का आधान करे। यह पूर्व दिशा से कभी च्युत (चलित) नहीं होता। अन्य सभी नक्षत्र पूर्व दिशा से च्युत होते हैं।

कृत्तिका नक्षत्र के द्वारा

शतपथ ब्राह्मण के उक्त वचन से यह ध्वनि निकलती है कि उसके रचना काल में कृत्तिका नक्षत्र (pleiades) नाड़ी वृत्त पर था; क्योंकि तभी तो वह सदा पूर्व दिशा में उदित हुआ करता था तथा वह कभी भी उक्त दिशा से उत्तर किम्वा दक्षिण की ओर चलित नहीं होता था। नक्षत्रों की गणना कृत्तिका से ही हुआ करती थी और उसी नक्षत्र के सूर्य में दिन-रात बराबर भी होते थे।

अब शतपथ ब्राह्मण का रचना-काल निकालते हैं। कृत्तिका वर्त्तमानकाल का तीसरा नक्षत्र है अतः तीन नक्षत्रों का मान (१३°२०′) × ३ = ४० अंश हुआ। इसमें अयनांश २३ मिलाए तो शतपथ ब्राह्मण की रचना-काल से लेकर आज तक की अयन-गति ६३ अंश हुई। इसे ७२ से गुणा किया तो ४५३६ आया। इसमें से वर्त्तमान सन् १९४७ ई० हटाया तो उक्त ब्राह्मण-ग्रन्थ का रचना-काल २५८९ या स्थूलतः २६०० ई० पू० मिला। अन्य विद्वानों के भी मत से शतपथ का यही रचना-काल होता है। यहाँ भी मृगशिरा की तरह कृत्तिका का पूरा मान ले लिया गया है; क्योंकि यह मालूम नहीं है कि पात-विन्दु कृत्तिका के कितने अंशों पर स्थित था।

गोलीय त्रिकोण के द्वारा काल-निर्द्धारण

यहाँ हम अपने पाठकों की सेवा में यह निवेदन कर देना चाहते हैं कि उक्त ज्योतिषिक गणनाएँ स्थूल हैं। पर यदि हमें यह मालूम हो जाय कि अमुक नक्षत्र किसी निर्दिष्ट काल में ठीक पूर्व दिशा में उदित हुआ करता था तो हम तत्कालीन पातविन्दु का स्थान सूक्ष्मतापूर्वक निकाल सकते हैं। पूर्व में कह आए हैं कि शतपथ ब्राह्मण के रचना-काल

में कृत्तिका नक्षत्र ठीक पूर्व दिशा में उदित हुआ करता था। इससे स्पष्ट है कि उक्त नक्षत्र उक्त काल में नाड़ी वृत्त पर स्थित था। अब निम्नांकित चित्र पर दृष्टिपात कीजिए—
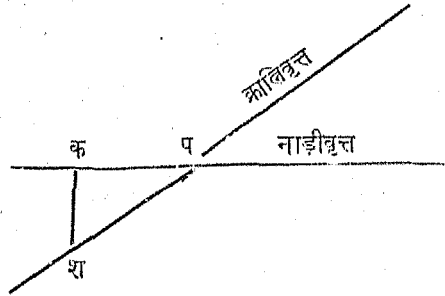
इस चित्र में 'प' वासन्त क्रान्तिपात, 'क' कृत्तिका और 'क श' उसका उत्तर शर है, जिसका मान आधुनिक पाश्चात्य मत से अंशादि ४।२ है। 'श' विन्दु शर-मूल है, जहाँ तक कृत्तिका का सायन भोग ५९ अंश मालूम है, यदि हमें 'श प' का मान मालूम हो जाय तो प का क्रान्तिवृत्तीय स्थान आसानी से मालूम हो जाय। अब 'क श' एक चापीय त्रिभुज है; अतः नेपियर साहब के नियमानुसार

ज्या 'श प' = स्प० रे० 'क श' × स्प० रे० परम क्रान्ति कोटि
= स्प० रे० ४°।२' × स्प० रे० (९०° – २३°।२८')
= स्प० रे० ४°।२' × स्प० रे० ६६°।३२'
= ·०७० × २·३०१ = ·१६१०७० = १६१ सुत्रार्थ
∴ 'श प' = अंशादि ९।०; अतः 'प' का सायन भोग अंशादि ६८।० हुआ। अब ७२ × ६८ = ४८९६; ४८९६ – १९४७ = २९४९ ई० पू० शतपथ ब्राह्मण का सूक्ष्म रचना-काल आया। पर इस नियम के अनुसार हम वैदिक संहिताओं का रचना-काल नहीं निकाल सकते, क्योंकि हमें यह मान लेने का कोई भी आधार नहीं है कि वैदिककाल में मृगशिरा नक्षत्र ठीक पूर्व में उदित हुआ करता था।

अयनान्त विन्दुओं के द्वारा रचना-काल जानना

जिस तरह क्रान्तिपातों के द्वारा किसी ग्रन्थ का रचना-काल निकाला जाता है ठीक उसी तरह अयनान्त विन्दुओं के द्वारा भी किसी ग्रन्थ का रचना-काल निकाल सकते हैं; कारण कि अयनगति का प्रभाव इन विन्दुओं पर भी वैसा ही पड़ता है जैसा पात-विन्दुओं

पर और ये भी अपने-अपने स्थान से धीरे-धीरे पूर्व से पश्चिम की ओर हट रहे हैं। अयनान्त विन्दु दो हैं—(१) ग्रीष्मायनान्त (Summer Solstice) विन्दु, जहाँ पर सूर्य का उत्तरायण समाप्त हो जाता है और वह दक्षिण की ओर मुड़ता है और (२) शीतायनान्त (Winter Solstice) विन्दु, जहाँ पर सूर्य अपना दक्षिणायन समाप्त कर उत्तर की ओर मुड़ता है। ग्रीष्मायनान्त पर सूर्य की परमोत्तर क्रान्ति और दक्षिणायनान्त पर उसकी परम दक्षिणाक्रान्ति होती है। क्रान्तिवृत्तस्थ चार मुख्य विन्दु हैं जिनके नामादि निम्नांकित चक्र से मालूम होते हैं—

विन्दु-नाम	राश्यादि निरयण भोग	नक्षत्र और चरण
वासन्त क्रान्तिपात	११।७।०।०	उ० भा० पद २ चरण
ग्रीष्मायनान्त	२।७।०।०	आर्द्रा १ चरण
शरद क्रान्तिपात	५।७।०।०	उ० फा० ४ चरण
शीतायनान्त	८।७।०।०	मूल ३ चरण

नोट—यह चक्र सन् १६४७ ई० के लिए अयनांश २३ मानकर तैयार किया गया है। अब देखना यह है कि किसी ग्रन्थ का रचना-काल जानने के लिए उक्त चक्र को किस प्रकार काम में लाया जायगा। इसे एक उदाहरण द्वारा समझाते हैं। आचार्य बाराह-मिहिर ने अपने ग्रन्थ पञ्चसिद्धान्ति में लिखा है—

आश्लेषार्द्धाद्दक्षिणमुत्तरायणं रवेर्धनिष्ठाद्यात्।
नूनं कदाचिदासीद्येनोक्तं पूर्व्व शास्त्रेषु॥

अर्थ—अवश्य ही किसी काल में सूर्य का दक्षिणायन आश्लेषा के आधे से और उत्तरायण धनिष्ठा के आदि से प्रारंभ होता था; क्योंकि पहले के शास्त्रों में ऐसा कहा गया है।

वाराह मिहिर के टीकाकार भट्टोत्पल ने, जो शकाब्द ८८६ में हुआ था, "पूर्व- शास्त्रेषु" का अर्थ पराशर-संहिता लिया है। कोई-कोई इसका अर्थ लगध-कृत वेदांग ज्योतिष भी करते हैं। अब उस काल का पता लगाते हैं जब दक्षिणायन आश्लेषा के आधे से होता था। वर्त्तमान काल में दक्षिणायन का शुरू आर्द्रा के प्रथम चरण से होता है। अब आर्द्रा का प्रथम चरण $=५\frac{१}{४}$ नक्षत्र और आश्लेषा का आधा $=८\frac{१}{२}$ नक्षत्र हुआ; अतः $८\frac{१}{२}-५\frac{१}{४}=३\frac{१}{४}=\frac{१३}{४}$ नक्षत्र $=\frac{१३}{४}\times\frac{४०}{३}=\frac{१३०}{३}$ अंश। पुनः $\frac{१३०}{३}\times ७२=१३०\times २४=३१२०$ वर्ष। पुनः ३१२०—१६४७ = ११७३ ई० पू० = स्थूलतः १२०० ई० पू०

पराशर-संहिता का रचना-काल आया। पराशर-संहिता को ही पराशर-तंत्र या पराशर सिद्धान्त कहते हैं।

यह गणित दक्षिणायण से हुआ। अब इसे उत्तरायण से कीजिए। पूर्वोक्त श्लोक में 'धनिष्ठाद्यात्' का अर्थ धनिष्ठा का आदि (प्रारंभ) लेना चाहिए और साथ-साथ यह भी जान लेना चाहिए कि जो धनिष्ठा का आदि है वही श्रवण का अन्त भी है। इस दशा में श्रवण का अन्त होने पर धनिष्ठा के प्रारंभ के साथ ही उत्तरायण का भी प्रारंभ हो जाता था। वर्त्तमान काल में उत्तरायण का प्रारंभ मूल नक्षत्र के ३ चरण में होता है जो १८$\frac{३}{४}$ नक्षत्र है और पराशर संहिता के रचनाकाल में धनिष्ठा के प्रारंभ से होता था जो २२ नक्षत्र है; क्योंकि २३वें नक्षत्र धनिष्ठा का भोग अभी शून्य है। अतः २२—१८$\frac{३}{४}$=३$\frac{१}{४}$ नक्षत्र। शेष क्रिया पूर्ववत् की जिससे विचाराधीन ग्रन्थ का रचना-काल वही अर्थात् ११७३ ई० पू० = स्थूलतः १२०० ई० पू० आया।

शिशिरर्त्तु के द्वारा काल-ज्ञान

एक तीसरी तरह से भी हम पराशर-सिद्धान्त का रचना-काल निकाल सकते हैं। उसके टीकाकार भट्टोत्पल ने अपनी टीका में उक्त सिद्धान्त ग्रन्थ के कुछ श्लोकों को उद्धृत किया है जिससे पता चलता है कि उसके रचनाकाल में शिशिरर्त्तु धनिष्ठा के आदि से अर्थात् क्रान्तिवृत्त के अंशादि २९३।२० पर प्रारंभ होता था; पर वाराह मिहिर के समय में सब ऋतु राशि के आदि में, जैसे वही शिशिर क्रान्तिवृत्त के अंशादि २७०।० पर (मकर राशि के आदि में) प्रारंभ होने लगा। कहने का अभिप्राय यह कि वाराह मिहिर के समय तक शिशिर का प्रारंभ-स्थान अयनगति के कारण अंशादि २९३।२० = अंशादि २७०।० = अंशादि २३।२० पश्चिम की ओर हट गया था जिससे सभी ऋतु लगभग २३ दिन पहले ही प्रारंभ होने लगी थीं। अब हिसाब किया। एक अंश परिमित अयनगति के लिए ७२ वर्ष लेते हैं; अतः अंशादि २३।२० के लिए २३$\frac{१}{३}$ × ७२ = १६८० वर्ष लिये। इसका मतलब यह हुआ कि पराशर-संहिता वाराह मिहिर के समय से १६८० वर्ष पहले रचा गया। अब यह निकालना है कि वर्त्तमान शकाब्द सन् १८६९ से १९४७ ई० से कितने वर्ष पहले वाराह मिहिर हुए थे। उनके पञ्चसिद्धान्तिका में उनका जन्म शकाब्द ४२७ में होना लिखा है; अतः १८६९—४२७ = १४४२ वर्ष वाराह मिहिर के जन्म के बाद उक्त ईसवी सन् तक बीत गए हैं और उसके पहले पराशर-संहिता के रचनाकाल तक १६८० वर्ष बीत चुके थे। अतः १६८० + १४४२ = ३१२२ वर्ष उक्त संहिता को रचे हुए हो गए। अब स्पष्ट है कि ३१२२—१९४७ = ११७५ ई० पू० में पराशर-संहिता लिखी गई। पहली दो क्रियाओं से ११७३ ई० पू० आया था। केवल दो वर्षों का अन्तर अगण्य है।

एक चौथे प्रकार से भी हम पराशर-संहिता का रचनाकाल मालूम कर सकते हैं। हमें मालूम है कि उक्त संहिता के रचनाकाल से लेकर वाराह मिहिर के समय तक अयनगति अंशादि २३।२० थी। अब हमें यह जानना चाहिए कि वाराह मिहिर के समय से लेकर वर्त्तमान शकाब्द १८६६ (सन् १९४७ ई०) तक अयनगति कितनी हुई है। अतः १८६९—४२७=१४४२। प्रति वर्ष अयनगति ५०" लेने से १४४२ वर्षों में वह १४४२×५०"=अंशादि २०।१।४० हुई। दोनों अयनगतियों को जोड़ा तो योगफल अंशादि ४३।२१।४०=सुखार्थ ४३⅓ अंश हुआ। इसे ७२ से गुणत किया तो ४३⅓× ७२=३१२० वर्ष हुए। इनमें से १९४७ वर्ष निकाल दिए तो पराशर-संहिता का रचना काल ११७३ ई० पू० आया। पूर्वोक्त समस्त गणित क्रियाओं के द्वारा हम प्राचीन ग्रन्थों का रचनाकाल-विषयक निम्नलिखित परिणाम पर पहुँचते हैं—

(१) संहिताओं का रचनाकाल स्थूलतः ४५३३ वर्ष ईसापूर्व।

(२) शतपथ ब्राह्मण का रचनाकाल २५८६ वर्ष ईसापूर्व; पर सूक्ष्म गोलीय त्रिकोण-मिति के द्वारा २९४९ वर्ष ईसापूर्व।

(३) पराशर-संहिता का रचनाकाल ११७३ वर्ष ईसा-पूर्व।

नोट—उक्त वर्ष-संख्याओं की जगह उनसे सम्बन्धित शताब्दियों की पूर्ण संख्याएँ मान लेने में कोई हानि नहीं, जैसे, ४५३३ की जगह ४६०० इत्यादि।

राजवंशावली-सम्बन्धी-साधन

(२) राजवंशावली सम्बन्धी साधन। यहाँ तक तो हमने वैदिक ग्रन्थों का रचनाकाल मालूम करने के लिए ज्योतिषिक साधनों का आश्रय लिया है। अब यहाँ से हम अपने इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए पुराणोक्त सूर्यवंशीय तथा चन्द्रवंशीय राजवंशावलियों का आश्रय लेंगे। यह तो सभी निष्पक्ष विद्वान्, जिनमें दूषित साम्प्रदायिकता तथा दुराग्रह नहीं है, मानते हैं कि वेद मंत्रों के रचनाकाल भिन्न-भिन्न हैं तथा उनके रचयिता भी भिन्न-भिन्न यानी एक न होकर अनेक हैं। इसका यह परिणाम हुआ कि निःशेष वेद मंत्रों के रचे जाने में कई सहस्राब्दियाँ लग गईं। इसी प्रकार ब्राह्मण तथा सूत्र ग्रन्थों के भी रचयिता तथा रचनाकाल भिन्न-भिन्न हैं। अतः उक्त वंशावलियों के आधार पर यदि हमें रचनाकाल निकालना होगा तो हमें किसी मंत्र वा सूक्त विशेष का ही, अथवा किसी खास ब्राह्मण वा सूत्र ग्रन्थ का ही रचनाकाल निकालना होगा, सभी वेदमंत्रों वा वैदिक ग्रन्थों का एक साथ ही नहीं। इस कार्य के लिए हमें निम्नलिखित तर्क-सरणी का अनुसरण करना होगा—

(क) सर्वप्रथम हमें यह देखना होगा कि विचाराधीन वेदमंत्र का द्रष्टा ऋषि किस सूर्यवंशीय अथवा चन्द्रवंशीय राजा का समकालीन था।

(ख) तत्पश्चात् हमें यह देखना होगा कि उक्त राजा का महाभारतकालीन वंशधर कौन था।

(ग) तत्पश्चात् हमें यह देखना होगा कि उक्त राजा और उसके महाभारत कालीन वंशधर के बीच कितनी पीढ़ियों का अन्तर है।

(घ) अन्त में उक्त पीढ़ी-संख्या को २५ से गुणा कर गुणन-फल में स्वकालीन कलियुगाब्द को जोड़ देने से विचाराधीन मंत्र का रचना-काल निकल आवेगा। इस वर्ष-संख्या में से स्वकालीन ईसवी सन् निकाल देने से ई० पू० की वर्ष-संख्या चली आएगी।

एक ही नाम के अनेक ऋषि हो गए हैं

नोट—यदि मन्त्र द्रष्टा ऋषि कोई राजा हो जैसे पुरुरवा, अथवा राजवंश का कोई अन्य व्यक्ति हो जैसे विश्वामित्र, मधुच्छन्दा आदि, तो पीढ़ी-संख्या के द्वारा निकाला हुआ उसी राजा या व्यक्ति का समय सम्बन्धित वेद मंत्र का रचना-काल होगा। इसके अतिरिक्त हमें एक और बात पर भी ध्यान देना होगा। एक ही नाम के ऋषि, समय की दृष्टि से, परस्पर सुदूर-वर्त्ती भिन्न-भिन्न राजाओं के समकालीन देख पड़ते हैं। इस दशा में हमें प्राचीन-तम राजा के समकालीन ऋषि को ही, वेदों के प्राचीन-तम ग्रन्थ होने की धारणा की पुष्टि में, ग्रहण करना चाहिए। उदाहरण के लिए ऋषि विश्वामित्र वा ऋषि वशिष्ठ को लीजिए। एक वह वशिष्ठ थे जो राजा निमि के पुरोहित थे और एक वह वशिष्ठ थे जो रामचन्द्र के पुरोहित, तथा निमि के सुदूर वंशधर और रामचन्द्र के श्वसुर तथा जानकी के पिता राजा सीरध्वज के समकालीन थे। विकुक्षी और निमि दोनों ही इक्ष्वाकु के पुत्र थे। और इक्ष्वाकु ने ही वशिष्ठ के पौरोहित्य में अष्टका श्राद्ध किया था जिसमें विकुक्षी का नाम, चोरी से श्राद्धार्थ मारे हुए एक खरगोश को खा जाने के कारण, शशाद पड़ा था। पुनः एक वशिष्ठ श्राद्धदेव के भी पुरोहित थे जो प्राचीनतम हैं। विश्वामित्र की भी यही दशा है। एक वह विश्वामित्र थे जिन्होंने सूर्यवंशीय नरेश हरिश्चन्द्र की धर्म-निष्ठा की जाँच की थी और एक वह विश्वामित्र थे जो उक्त राजा हरिश्चन्द्र के सुदूर वंशधर राम और लक्ष्मण को अपने साथ मिथिलेश जनक का धनुर्यज्ञ दिखाने ले गए थे। इस हालत में पहले विश्वामित्र को ही ग्रहण करना चाहिए। यहाँ पर हमें इस विवाद में पड़ना नहीं है कि ये अनेक वशिष्ठ वा अनेक विश्वामित्र वस्तुतः एकही वशिष्ठ वा एक ही विश्वामित्र थे या दूसरे-दूसरे; यद्यपि एक ही वशिष्ठ वा एक ही विश्वामित्र का कोई शताब्दियों तक जीवित रहना, जबकि सम्बन्धित राजवंश की कई पीढ़ियाँ बीत गईं, विश्वास-योग्य नहीं मालूम पड़ता।

मधुच्छन्दा का समय

अब उदाहरण-स्वरूप हम ऋग्वेद के "अग्निमीले पुरोहितं" इत्यादि ऋग्वेद प्रथम मंडल, प्रथम सूक्त का रचना-काल निकालते हैं। इसके द्रष्टा विश्वामित्र के पुत्र मधुच्छन्दा हैं। पूर्वोक्त तर्क-सरणी के अनुसार हमें सूर्य वंशीय राजा हरिश्चन्द्र के समकालीन विश्वामित्र का ही समय मालूम करना चाहिए; क्योंकि पिता विश्वामित्र का समय मालूम हो जाने पर पुत्र मधुच्छन्दा का समय आप से आप मालूम हो जायगा। महाभारत के अध्ययन से हमें मालूम है कि सूर्यवंशीय राजा बृहद्बल कुरुक्षेत्र के युद्ध में लड़ने आया था और कुरुक्षेत्र की लड़ाई द्वापर के अन्त तथा कलि के आदि, अथवा यों कहिए दोनों युगों के सन्धि-काल में हुई थी अब हरिश्चन्द्र से लेकर बृहद्बल तक की पीढ़ी-संख्या भागवतादि पुराणों के अनुसार यह है—

(१) हरिश्चन्द्र, (२) रोहित, (३) हरित, (४) चम्प, (५) सुदेव, (६) विजय, (७) भीरुक, (८) वृक, (९) बाहुक, (१०) सगर (११) असमंजस, (१२) अंशुमान, (१३) दिलीप (प्रथम), (१४) भगीरथ, (१५) श्रुत (१६) नाभ, (१७) सिन्धुद्वीप, (१८) अयुतायु, (१९) ऋतुपर्ण (जिनके यहाँ राजा नल छद्म-वेश में बाहुक नाम का सारथि बने थे), (२०) सर्वकाम, (२१) सुदास, (२२) सौदास (इन्हीं को कल्माषपाद तथा मित्रसह भी कहते हैं), (२३) अश्मक, (२४) मूलक (नारी कवच), (२५) दशरथ (प्रथम), (२६) ऐडविड, (२७) विश्वसह, (२८) खट्वांग, (२९) दीर्घबाहु (दिलीप द्वितीय, जिन्होंने वशिष्ठ की आज्ञानुसार पुत्र प्राप्ति के लिए नन्दिनी गौ की सेवा की थी), (३०) रघु, (३१) अज, (३२) दशरथ द्वितीय, (३३) रामचन्द्र, (३४) कुश, (३५) अतिथि, (३६) निषध, (३७) नभ, (३८) पुंडरीक, (३९) क्षेमधन्वा, (४०) देवानीक, (४१) अनीह, (४२) पारियात्र, (४३) बलस्थल, (४४) वज्रनाभ, (४५) खगण, (४६) विधृति, (४७) हिरण्य-नाभ, (४८) पुष्य, (४९) ध्रुवसन्धि, (५०) सुदर्शन, (५१) अग्निवर्ण, (५२) शीघ्र, (५३) मरु, (५४) प्रसुश्रुत, (५५) सन्धि, (५६) अमर्षण, (५७) महस्वान्, (५८) विश्वबाहु, (५९) प्रसेनजित्, (६०) तक्षक (६१) बृहद्बल; ये ६१ पीढ़ियाँ हुईं। अब गणित किया—

६१ × २५ = १५२५

१५२५ + ५०४८ (कलि) = ६५७३

६५७३ − १९४७ = ४६२६ वा स्थूलतः ४७०० वर्ष ई० पू०

इस हिसाब से ऋग्वेद के प्रथम मंडल के प्रथम सूक्त का रचना-काल ४७०० वर्ष ई० पू० मिला। यहाँ पाठक गण स्वयं देख लें कि इस प्रकार लाया हुआ उक्त सूक्त का

रचना-काल और मृगशिरा नक्षत्र का समूचा मान लेकर लाया हुआ संहिताओं का रचना-काल (४६०० वर्ष ई० पू०) प्रायः एक ही हैं। और इस दशा में पिता विश्वामित्र और पुत्र मधुच्छन्दा द्वारा रचे हुए मंत्रों का रचना-काल ४७०० ई० पू० और ४६०० ई० पू० के भीतर मानना सर्वथा उचित है। पर, जैसा कि पूर्व में कह आए हैं, मृगशिरा द्वारा लाया हुआ समय केवल कुछ ही मन्त्रों के लिए ठीक हो सकता है, सबों के लिए नहीं है।

दो एक नामों की भिन्नता अगण्य है

यद्यपि पुराणोक्त राजवंशावलियों में पुराण-भेद से दो-एक राजाओं के नाम तथा क्रम में परस्पर कुछ मत-भेद दीख पड़ते हैं, तो भी यह मत-भेद इतना प्रबल नहीं है कि हमारा निशाना ठीक लक्ष्य पर जाकर नहीं लगे। इस मत-भेद में कुछ भी सार नहीं है। किसी-किसी राजा के कई नाम होने से वह भिन्न-भिन्न पुराणों में भिन्न-भिन्न नामों से अभिहित किया गया है। इसी प्रकार दो-एक स्थलों पर नामों के क्रम में भी कुछ भिन्नता दीख पड़ती है; अर्थात् एक पुराण में जो नाम पिता की जगह लिखा गया है, दूसरे पुराण में वही नाम भाई की जगह पाया जाता है। पर यह भिन्नता होते हुए भी किसी मूलपुरुष से चलकर किसी इष्ट राजा तक पीढ़ियों की संख्या सभी पुराणों में प्रायः एक ही है। इस प्रकार वंशावलियों को एक बार शुद्ध कर लेने पर हमें इस बात का बहुत कुछ पता ठीक-ठीक लग सकता है कि उसमें उल्लिखित किसी भी दो निर्दिष्ट राजाओं के बीच कितने वर्षों का अन्तर सामान्यतः हो सकता है।

राज्यकाल और पीढ़ी में भेद

इस प्रसंग में हम अपने पाठकों का ध्यान राज्य-काल (Period of reign) और पीढ़ी (Generation), इन दोनों में क्या भेद है, इस विषय की ओर ले जाना चाहते हैं, ताकि वे इन दोनों को एक ही चीज समझ लेने की भूल, जैसा कि लोग प्रायः किया करते हैं, न करें। राजा के प्रजा-शासन-काल को राज्य-काल कहते हैं; और किसी भी व्यक्ति की सन्तान-परम्परा (Line of Descendants) में चेन की कड़ी की तरह प्रत्येक सन्तान, वा जहाँ एक से अधिक समकक्ष सन्तान हों, वहाँ वैसी सन्तानों का प्रत्येक समुदाय, एक-एक पीढ़ी है। उदाहरणतः जहाँ किसी एक व्यक्ति की केवल एक मात्र सन्तान हो, वहाँ केवल वही एक सन्तान; पर जहाँ एक से अधिक सन्तानें हों, जो परस्पर भाई होने से समकक्ष हैं, वहाँ सबों को मिलाकर एक ही पीढ़ी कही जायगी। मेरा इससे कुछ भी मतलब नहीं है किसी राजवंशावली में किस राजा ने कितने वर्षों तक राज्य किया वा सगर-पुत्र असमंजस की तरह राज-पद से वंचित कर घर से निकाल दिया गया। पर मेरी तर्क पद्धति के अनुसार पीढ़ियों की संख्या निर्धारित करने के लिए असमंजस

जैसे व्यक्ति को भी ग्रहण करना होगा जैसा कि हमने पूर्वोक्त पीढ़ी-संख्या ६१ निकालने में उसे ११वें नम्बर पर रख दिया है। हमारा तो अभिप्राय केवल यही दिखाने का है कि यदि किसी भी वंशावली में पीढ़ी-परिवर्त्तन-काल अथवा स्पष्ट भाषा में यों कहिए कि प्रथम सन्तानोत्पादन-काल की औसत (Average) न कि वास्तविक (Actual) आयु कम से कम २५ वर्ष ही मान ली जाय तो उक्त वंशावली में किसी भी दो निर्दिष्ट राजाओं के बीच कितने वर्षों का अन्तर हो सकता है। एक उदाहरण लीजिए—विजयी विलियम (William the Conqueror) और उसके वर्त्तमान वंशधर बादशाह छठे जार्ज (King George VI) की जन्म-तिथियों के वर्षात्मक अन्तर में उक्त दोनों बादशाहों के बीच बीती हुई पीढ़ियों की संख्या का भाग देने से प्रत्येक पीढ़ी की औसत आयु निकलेगी। और औसत राज्य-काल का मान दूसरी वस्तु है। वह किसी राज-वंश के सभी राजाओं के राज्य-कालों के योग-फल में उन राजाओं की संख्या का भाग देने से उन राजाओं के राज्य-काल का औसत मान निकलेगा; जैसे मुगल बादशाहों के राज्य-कालों के योग-फल में उन बादशाहों की संख्या का भाग देने से उनके राज्य-काल का औसत मान निकलेगा। राज्यकाल का औसत मान निकालने में उन राजवंशीय व्यक्तियों को छोड़ देना पड़ता है जो राज-सिंहासन पर नहीं बैठे। लोग पीढ़ी और राज्य-काल इन दोनों को एक ही वस्तु समझ लेने की भूल क्यों करते हैं, इसे हम बताते हैं। वंशावलियों में पहले ज्येष्ठ पुत्र का ही नाम दिया जाता है जो कुल-परम्परानुसार राज्य का अधिकारी होता है। तत्पश्चात् उसके वानप्रस्थी होने पर वा उसके मृत्यु के बाद उसका भी ज्येष्ठ पुत्र ही जो अपने पिता के जीवन काल में युवराज बन चुका था, राज-पद को धारण करता है। बस, इसी प्रकार पुश्त दर-पुश्त राज-परिवर्त्तन होता चला जाता है, जिसे लोग पीढ़ी-परिवर्त्तन ही, बिना सूक्ष्म विचार किए, समझ लेते हैं। वे यह नहीं विचार करते कि किसी भी युवराज के राजा होने के पूर्व भी उसे पुत्र ह सकता है और इस प्रकार पीढ़ी भी बदल सकती है तथा कभी-कभी ऐसी भी अवस्था उत्पन्न हो सकती है जहाँ पुत्र तो राजा हुआ नहीं, पर पौत्र राजा हो गया जैसे असमंजस को घर से निकाल देने पर उसका लड़का अंशुमान् ही अपने पितामह राजा सगर का उत्तराधिकारी हुआ।

वंशावलियों की उपयोगिता

पुराणोक्त राज-वंशावलियों की उपयोगिता के विषय में कुछ और भी विचार करना शेष रह गया है जिसे बताए देते हैं। प्राचीन तथा अर्वाचीन, एवं प्राच्च किंवा पाश्चात्य, सभी विद्वानों ने हिन्दू सभ्यता की आयु, वैदिक ग्रन्थों का रचना-काल तथा भारतीय राजवंशों की प्राचीनता का पता लगाने के लिए, प्रागैतिहास कालीन भारत में किसी भी सन्-संवत् के अभाव के कारण पौराणिक राजवंशावलियों का ही सहारा लिया है; यहाँ तक

कि पुराणों को समूलोत्पाटनार्थ कटि-बद्ध स्वामी दयानन्द भी अपने आर्यराजाओं के वंश-वर्णन में हारदाँव कर पुराणों के ही पैरों पर जा गिरे हैं। पुराण-ग्रन्थों में वर्णित अतिमानुषिक (Super human) तथा अतिप्राकृतिक (Super natural) बातों को छोड़ कर यदि कुछ भी विश्वास-योग्य बातें हैं तो केवल राजवंशावलियाँ ही हैं।

अब आगे चलिए। जिस प्रकार विश्वामित्र और मधुच्छन्दा राजा हरिश्चन्द्र के समकालीन थे उसी प्रकार अजीगर्त्त-पुत्र शुनःशेप भी उनका समकालीन था; क्योंकि वह उन्हीं के नरमेध यज्ञ में उनके पुत्र रोहित के बदले वरुणदेव को बलि देने के लिए यज्ञ-यूप में बाँधा गया था; पर उस बेचारे ने स्वरचित "कस्यनूनं कतमस्या मृतानां" इत्यादि सूक्तों द्वारा वरुणादि देवताओं की प्रार्थना कर अपनी जान बचाई। अतः स्पष्ट है कि शुनः शेप-रचित सभी सूक्तों का रचना काल भी ४७०० ई० पू० और ४६०० ई० पू० के भीतर ही है। अभिप्राय यह कि राजा हरिश्चन्द्र के समकालीन जितने मंत्र-कर्त्ता ऋषि हो गये हैं उनके सूक्तों का रचना-काल उक्त सीमाओं के अन्तर्गत ही समझना चाहिए।

पुरुरवा का समय

अब एक उदाहरण चन्द्रवंश का लीजिए। चन्द्रवंश में पुरुरवा एक प्रसिद्ध राजा हो गए हैं। वे और उनकी उपपत्नी उर्वशी अप्सरा दोनों ही मंत्र-द्रष्टा ऋषि हो गए हैं। उर्वशी का एक मंत्र पूर्व में उद्धृत कर आए हैं। ऋग्वेद के दसवें मंडल के ६५ वें सूक्त के वे दोनों रचयिता हैं। उनका समय जान लेना ही उनके सूक्त का रचना-काल जान लेना है। निम्नलिखित वंशावली पर दृष्टिपात करने से आप को यह मालूम होगा कि राजा पुरुरवा कुरुक्षेत्र की लड़ाई में भाग लेने वाले अर्जुन-पुत्र अभिमन्यु से कितनी पीढ़ियाँ, एवं उक्त लड़ाई से कितने वर्ष, पहले हो गए हैं—

(१) पुरुरवा, (२) आयु, (३) नहुष, (४) ययाति, (५) पुरु, (६) जनमेजय, (७) प्रचिन्वान्, (८) प्रवीर, (९) मनस्यु, (१०) चारुपद (जयद) (११) सुद्यु (धुन्धु) (१२) बहुगवी, (१३) संयाति, (१४) अहंयाति, (१५) रौद्राश्व, (१६) ऋतेयु, (१७) रन्तिभार, (१८) सुमति, (१९) रैभ्य, (२०) दुष्यन्त, (अभिज्ञान-शकुन्तला का चरित-नायक), (२१) भरत, (२२) भरद्वाज (वितथ) (२३) मन्यु, (२४) बृहत्क्षत्र, (२५) सुहोत्र, (२६) हस्ती, (२७) अजमीढ़, (२८) ऋक्ष, (२९) संवरण, (३०) कुरु (जो कौरवों और पाण्डवों के पूर्वज थे और जिनके नाम पर कुरुक्षेत्र का नाम पड़ा,) (३१) जह्नु, (३२) सुरथ, (३३) विदूरथ, (३४) सार्वभौम, (३५) जयसेन, (३६) राधिक, (३७) महासत्य, (३८) अयुतायु, (३९) अक्रोधन, (४०) देवातिथि, (४१) ऋष्य, (४२) भीमसेन (पाण्डव नहीं), (४३) दिलीप, (४४) प्रतीप, (४५) शन्तनु, (४६) विचित्र-

वीर्य, (४७) पाण्डु, (४८) अर्जुन और (४९) अभिमन्यु, ये ४९ पीढ़ियाँ हुईं। अब हिसाब किया—

४९ × २५ = १२२५ वर्ष

१२२५ + ५०४८ (कलि) = ६२७३ वर्ष

६२७३ − १९४७ (ई० पू०) = ४३२६ वा स्थूलतः ४४०० वर्ष ई० पू०

हमने उर्वशी को राजा पुरुरवा की उपपत्नी कहा है; कारण कि वह उक्त राजा की विवाहिता स्त्री न थी। वह तो देवलोक की एक वेश्या थी जिसे अप्सरा कहते हैं। अपनी जैसी स्त्रियों का स्वभाव वर्णन करती हुई उसने स्व-विरह-कातर राजा पुरूरवा से जो स्वयं कहा है वह मनन करने योग्य है। श्रीमद्भागवत, नवम स्कन्ध, अध्याय १४ देखिए—

वेश्या-स्वभाव वर्णन

मा मृथाः पुरुषोऽसित्वं, मास्म त्वाद्यु वृ का इमे।
क्वापि सख्यं नवस्त्रीणां, वृकाणां हृदये यथा ॥३६॥
स्त्रियो ह्यकरुणाः क्रूराः दुर्मर्षाः प्रियसाहसाः।
घ्नत्यल्पार्थेऽपि विश्रब्धं पतिं भ्रातरमप्युत ॥३७॥
विधायालीक विश्रभ्यमज्ञेषु त्यक्तसौहृदाः।
नवं नव मभीप्स्यन्त्यः पुंश्चल्यः स्वैर वृत्तयः ॥३८॥

अर्थ—उर्वशी पुरुरवा से कहती है—हे राजन्! मरो नहीं; तुम पुरुष हो। देखो, कहीं ये भेड़िए तुम्हें खा न जायँ। स्त्रियाँ किसी के साथ मित्रता नहीं करतीं। उनका हृदय भेड़ियों का सा होता है। स्त्रियों में करुणा नहीं होती। वे क्रूर होती हैं। उनमें क्षमा गुण का अभाव होता है और वे स्वार्थ-सिद्धि के लिए बुरे कर्म्म भी करने का साहस करती हैं। वे थोड़ी सी भी बात के लिए अपने विश्वस्त पति या भाई की भी हत्या कर डालती हैं। वे मूर्खों के प्रति बनावटी प्रेम दिखलाती हैं। उन्होंने मित्रता करना छोड़ दिया है। नित्य नये-नये पुरुषों को वे चाहती हैं। वे पुंश्चली होती हैं और मनमाना आचरण करती हैं।

ऋग्वेद के किस मंडल का रचयिता कौन है?

सभी वेदों में ऋग्वेद ही प्राचीनतम वेद माना जाता है; अतः उसका ही रचना-काल जानना परमावश्यक है। अन्य वेदों का आयु-निर्णय तो एक गौण विषय है। इस प्रसंग में हम अपने पाठकों को सर्वप्रथम यह बतला देना चाहते हैं कि ऋग्वेद के किस मंडल के रचयिता कौन सा ऋषि वा ऋषिगण हैं। उसके प्रथम और दशम मंडलों के रचयिता अनेक ऋषि हैं; पर शेष मंडलों के रचयिता एक-एक ऋषि तथा उनके वंशधर हैं, जैसे द्वितीय मंडल के रचयिता गृत्समद, तृतीय के विश्वामित्र, चतुर्थ के वामदेव, पंचम

के अत्रि, षष्टम के भरद्वाज, सप्तम के वशिष्ठ, अष्टम के कण्व और नवम के अंगिरा तथा इनके वंशधर हैं।

प्रथम मंडल

प्रथम मंडल के मंत्र-कार ऋषियों में मुख्यतम मधुच्छन्दा, शुनः-शेप, पराशर, कश्यप, अगस्त्य और उनकी पत्नी लोपामुद्रा हैं। इनमें सबसे प्राचीन कश्यप (विवस्वान् वा सूर्य के पिता) और सबसे अर्वाचीन पराशर (कृष्ण द्वैपायन व्यास के पिता) हैं; अतः इस प्रसंग में केवल इन दो ही ऋषियों का समय निकालना पर्याप्त है ; क्योंकि इन दो ऋषियों के समय के अन्तर्गत ही प्रथम मंडल का रचना-काल है।

कश्यप का समय

अब कश्यप का समय यों निकालिए। पूर्व में वृहद्बल से लेकर हरिश्चन्द्र तक ६१ पीढ़ियाँ निकाल चुके हैं और हरिश्चन्द्र से कश्यप तक ३० पीढ़ियाँ हैं ; यथा उल्टे क्रम से (नीचे से ऊपर की ओर—(१) सत्यव्रत (त्रिशंकु), (२) निबन्धन, (३) अरुण, (४) हर्यश्व, (५) पृषदश्व, (६) अनरण्य, (७) त्रसदस्यु, (८) पुरुकुत्स, (९) मान्धाता, (१०) युवनाश्व, (११) सेनजित् , (१२) कृशाश्व, (१३) वर्णाश्व, (१४) निकुंभ, (१५) हर्यश्व, (१६) दृढ़ाश्व, (१७) कुवलयाश्व, (१८) वृहदश्व, (१९) श्रावस्त, (२०), युवनाश्व (२१) चन्द्र, (२२) विश्वगन्धि' (२३) पृथु, (२४) अनेना, (२५) पुरंजय जिन्हें इन्द्रवाह वा ककुत्स्थ भी कहते हैं), (२६) विकुक्षी, (२७) इक्ष्वाकु, (२८) श्राद्धदेव (वैवस्वत मनु), (२९) विवस्वान् (सूर्य) और (३०) कश्यप ; ये ३० पीढ़ियाँ हुईं। अब हिसाब किया—

६१ + ३० = ९१ पीढ़ियाँ
९१ × २५ = २२७५ वर्ष (कुरुक्षेत्र की लड़ाई से पहले)
२२७५ + ५०४८ (कलि) = ७३२३ वर्ष
७३२३ – १९४७ (ई० सन्) = ५३७६ वर्ष (ई० पू०) यह कश्यप का समय हुआ। इसे स्थूलतः ५४०० ई० पू० मान सकते हैं।

पराशर का समय

अब पराशर का समय निकालते हैं। पराशर व्यास जी के पिता हैं। जिस धीवर-कन्या सत्यवती में पराशर ने व्यास को उत्पन्न किया था उसी सत्यवती में राजा शन्तनु ने पाण्डु के पिता विचित्रवीर्य को उत्पन्न किया था। अतः पराशर और शन्तनु समकालीन हुए और जो समय शन्तनु का होगा वही समय पराशर का भी होना चाहिए। शन्तनु की चौथी पीढ़ी में अर्जुन का जन्म हुआ था; यथा—(१) शन्तनु, (२) विचित्रवीर्य, (३) पाण्डु और (४) अर्जुन। अब हिसाब किया—

५०४८ (कलि) — १६४७ (ई० स०) = ३१०१ ई० पू०

४ × २५ = १०० वर्ष (कुरुक्षेत्र की लड़ाई से पहले)

३१०१ + १०० = ३२०१ वा स्थूलतः ३२०० वर्ष ई० पू० पराशर का समय निकला।

द्वितीय मंडल

द्वितीय मंडल के रचना-काल का पता लगाने के लिए हमें उसके रचयिता गृत्समद के समय का पता लगाना चाहिए। चन्द्रवंशीय राजाओं की वंशावली देखने से पता चलता है कि गृत्समद पुरुरवा की पाँचवीं पीढ़ी में हुए हैं; यथा—(१) पुरुरवा, (२) आयु (३) क्षत्र वृद्ध, (४) सुहोत्र और (५) गृत्समद। अब हिसाब किया—

२५ × ५ = १२५ वर्ष (पुरुरवा से कम)

गृत्समद का समय

४३२६ ई० पू० (पुरुरवा का समय) — १२५ = ४२०१ वा ४२०० ई० पू० गृत्समद का समय मालूम हुआ। इनके वंशधरों का समय इनसे कम होगा।

तृतीय मंडल

तृतीय मंडल के रचयिता विश्वमित्र तथा उनके वंशधर हैं। हमने राजा हरिश्चन्द्र के समकालीन विश्वामित्र को ही प्राचीनतम माना है और इनका समय पूर्व में ही ४६२६ (स्थूलतः ४७००) ई० पू० निकाल चुके हैं। राजा हरिश्चन्द्र और महर्षि विश्वामित्र के बीच कई तरह के सम्बन्ध रहे हैं। विश्वामित्र ने ही हरिश्चन्द्र की धर्म्म-निष्ठा की जाँच की थी। फिर उन्हीं ने उक्त राजा के पुरुषमेध यज्ञ में होता का पद ग्रहण किया था। श्रीमद्भागवत, नवम स्कन्ध, सप्तम अध्याय पढ़िए—

शुनःशेपं पशुं पित्रे, प्रदाय समवन्दत।
ततः पुरुषमेधेन हरिश्चन्द्रोमहायशः ॥२१॥
मुक्तोदरोऽयजद्देवान् वरुणादीन् महत्कथः।
विश्वामित्रोऽभवत्तस्मिन् होता चाध्वर्युरात्मवान् ॥२२॥
जमदग्निरभूद् ब्रह्मा वशिष्ठोऽयास्यसामगः।

अर्थ—हरिश्चन्द्र के पुत्र रोहित ने अपने बदले में अजीगर्त-पुत्र शुनःशेप को ही यज्ञ-पशु बना कर पिता को दिया और उनकी वन्दना की। तब महायशस्वी हरिश्चन्द्र ने पुरुषमेध नामक यज्ञ किया। वरुणादिक देवता उन पर प्रसन्न हुए और उनका जलन्धर रोग जाता रहा। उस यज्ञ में महाकीर्त्ति विश्वामित्र जी 'होता' हुए; आत्मज्ञानी

जमदग्नि 'अध्वर्यु' बने ; वशिष्ठ जी ने ब्रह्मा का पद ग्रहण किया और अयास्य मुनि ने उद्गाता का कार्य किया ।

सहनाम ऋषियों में आदि ऋषि को क्यों लिया ?

यहाँ पर यह आक्षेप हो सकता है कि वेद-मंत्रों का रचना-काल निर्णय करने के लिए जहाँ एक नाम के अनेक ऋषि हैं उनमें तन्नामधारी आदि ऋषि को ही क्यों लिया जाय ? अन्त्य वा किसी मध्यवर्त्ती ऋषि को क्यों नहीं ? इसका उत्तर यह है कि सर्व-साधारण की यह धारणा है कि वेद संसार के प्राचीन ग्रंथ हैं, अतः आदि ऋषि को लेने का केवल यही अभिप्राय है जिसमें उक्त धारणा वाले लोगों के तरफ से यह शिकायत न होने पावे कि वेदों का समय निर्णय करने में कोई त्रुटि रह गई ।

चतुर्थ मंडल

चतुर्थ मंडल के रचयिता बामदेव ऋषि वा उनके वंशधर हैं । वामदेव का पता हमें रामचन्द्र तक मिलता है ; उनसे पहले का नहीं । वे रामचन्द्र का अभिषेक होने पर उनसे मिलने के लिए महर्षि अगस्त्य के साथ आए थे । अध्यात्म रामायण, उत्तरकांड, प्रथम सर्ग पढ़िए—

विश्वामित्रोऽसितः कण्वो दुर्वासा भृगु रंगिराः ।
कश्यपो वामदेवोऽत्रिस्तथा सप्तर्षयोऽमलाः ॥६॥
अगस्त्यः सहशिष्यैश्च मुनिभिः सहितोऽभ्यगात् ।
द्वार मासाद्य रामस्य द्वारपाल मथाब्रवीत् ॥७॥

अर्थ—रावणादि राक्षसों के वध के पश्चात् रामचन्द्र के राज्यारूढ़ होने पर उनकी बन्दना करने के लिए विश्वामित्र, असित, कण्व, दुर्वासा, भृगु, अंगिरा, कश्यप, वामदेव अत्रि, निर्मल-चरित सप्तर्षि और अगस्त्य अपने-अपने शिष्यों तथा अन्य मुनियों के साथ रामचन्द्र के द्वार पर आए और द्वारपाल से बोले ।

रामचन्द्र और वामदेव का समय

अतः रामचन्द्र का जो समय है वही वामदेव का समय होगा । राजा हरिश्चन्द्र की बंशावली देखने पर, जो पहले कह आए हैं, मालूम पड़ता है कि रामचन्द्र उनकी ३३वीं पीढ़ी में हुए हैं ; अर्थात् उनसे पहले ३२ पीढ़ियाँ बीत चुकी थीं । अब हिसाब किया—

३२ × २५ = ८०० वर्ष हरिश्चन्द्र से कम ।

४६२६ ई० पू० (हरिश्चन्द्र का समय) – ८०० = ३८२६ वा स्थूलतः
३६०० ई० पू० रामचन्द्र और वामदेव दोनों का समय हुआ

पुरुकुत्स का समय

चतुर्थ मंडल के विषय में एक और भी बात ध्यान देने योग्य है । उसके ४२ वें सूक्त

के रचयिता पुरुकुत्स के पुत्र त्रसदस्यु (त्रसद्दस्यु) हैं। ये दोनों पिता-पुत्र सूर्यवंशीय राजा हैं जो राजा हरिश्चन्द्र से ८ पीढ़ियाँ पहले हो गए हैं, यथा—(१) पुरुकुत्स, (२) त्रसद्दस्यु, (३) अनरण्य, (४) हर्यश्व, (५) अरुण, (६) त्रिवन्धन (७) सत्यव्रत (त्रिशंकु) और (८) हरिश्चन्द्र से ७ पीढ़ियाँ अधिक हैं। अब हिसाब किया—

७ × २५ = १७५ वर्ष हरिश्चन्द्र से अधिक

४६२६ ई० पू० (हरिश्चन्द्र का समय) + १७५ = ४८०१ वा स्थूलतः

४८०० ई० पू० पुरुकुत्स का समय हुआ।

चतुर्थ मंडल के ४२ वें सूक्त का नवाँ मंत्र देखिए—

पुरुकुत्सानी हि वामदाशद्धव्येभिरिन्द्रावरुणा नमोभिः।

अथराजानं त्रयदस्यु मस्यावत्रहणं ददथुरर्द्धदेवम् ॥६॥

अर्थ—हे इन्द्र और वरुण! पुरुकुत्स की पत्नी ने तुम दोनों को हव्य और स्तुति द्वारा प्रसन्न किया। अनन्तर तुम दोनों ने उसे शत्रुनाशक अर्द्धदेव राजा त्रसदस्यु को दान किया था।

पुरुमीढ़ का समय

इस मंत्र में पुरुकुत्स और त्रसद्दस्यु, क्रमशः पिता-पुत्र, दोनों के ही नाम आ गए हैं। इसी प्रकार ४३वें और ४४वें सूक्तों के रचयिता सुहोत्र-पुत्र पुरुमीह्ल (पुरुमीढ़) और अजमीह्ल (अजमीढ़) हैं जो दोनों चन्द्रवंशीय राजा हैं। ये दोनों राजा पुरुरवा की २६वीं पीढ़ी में अर्थात् २५ पीढ़ियाँ बाद हुए हैं। अब हिसाब किया—

२५ × २५ = ६२५ वर्ष पुरुरवा से कम

४३२६ ई० पू० (पुरुरवा का समय) – ६२५ = ३७०१ वा स्थूलतः

३७०० ई० पू० पुरुमीढ़ और अजमीढ़ का समय हुआ।

चतुर्थ मंडल के ४४ वें सूक्त का छठा मंत्र देखिए जिसके द्वारा उक्त ऋषि द्वय ने अश्विद्वय से पुत्र और धन की याचना की है—

नूनोरयिं पुरुवीरं बृहन्नं दस्राभिमाथा मुभयेस्वस्मे।

नरोयद्वामश्विना स्तोममाव-न्त्सधस्तुतिमाजमी ह्लासो अग्मन् ॥६॥

अर्थ—हे अश्विद्वय! तुम लोग हम दोनों (पुरुमीढ़ और अजमीढ़) को शीघ्र बहुपुत्र युक्त प्रभूत धन दान करो। हे अश्विद्वय! पुरुमीढ़ के ऋत्विकों ने तुम दोनों को स्तोत्र द्वारा प्राप्त किया था। एवं अजमीढ़ के ऋत्विकों की स्तुति भी उसी के साथ संगत हुई थी।

नोट—उक्त मंत्र में दस्रा शब्द आया है जिसका अर्थ अश्विद्वय होता है। व्युत्पत्ति इस प्रकार है—दस्यति पांसून इति दस् + रक्।

पंचम मंडल

ऋग्वेद के पंचम मंडल के रचयिता अत्रि तथा उनके वंशधर हैं। अत्रि पुरुरवा से ३ पुश्त पहले हो गए हैं ; जैसे (१) बुध, (२) सोम वा चन्द्र और (३) अत्रि। अब अत्रि का समय मालूम करने के लिए हिसाब किया—

अत्रि का समय

३ × २५ = ७५ वर्ष पुरुरवा से अधिक
४३२६ ई० पू० (पुरुरवा का समय) + ७५ = ४४०१ वा स्थूलतः
४४०० ई० पू० अत्रि का समय हुआ।

षष्टम मंडल

ऋग्वेद के षष्टम मंडल के रचयिता भरद्वाज (वितथ) हैं। ये भरद्वाज उन महर्षि भरद्वाज से भिन्न हैं जिनसे वनवास होने पर रामचन्द्र ने प्रयाग में भेंट की थी। भरद्वाज (वितथ) देवगुरु बृहस्पति तथा उनकी भावज ममता की अवैध (Illegitimate) सन्तान थे। इनका जन्म वृत्तान्त श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ६, अध्याय २० में इस प्रकार लिखा है कि एक बार बृहस्पति जी अपने बड़े भाई उतथ्य की स्त्री ममता के साथ जबर्दस्ती कुकर्म (Rape) कर बैठे जिसके फल-स्वरूप भरद्वाज का जन्म हुआ। उन्हें इनकी जननी ममता, उत्पादक बृहस्पति, वा ममता के पति उतथ्य, किसी ने भी पुत्रवत् स्वीकार नहीं किया। तब मरुत् देवों ने इन्हें ले जाकर शकुन्तला और दुष्यन्त के पुत्र राजा भरत को, जो पुत्रहीन होने के कारण पुत्रलाभार्थ मरुत्-सोम यज्ञ कर रहे थे, पुत्रवत् प्रदान कर दिया—

> तस्यैवं वितथेवंशे तदर्थं यजतः सुतम्।
> मरुत्सोमेन मरुतो भरद्वाज मुपाददुः ॥२५॥

अर्थ—अपने वंश के इस प्रकार नष्ट हो जाने पर राजा भरत ने मरुत् सोम नामक यज्ञ का अनुष्ठान किया। उस यज्ञ में मरुत् देवों ने उन्हें भरद्वाज को पुत्रवत् प्रदान कर दिया।

अतः यह सिद्ध हुआ कि भरद्वाज (वितथ) दौष्यन्ति भरत के दत्तक पुत्र थे और चन्द्रवंशीय क्षत्रिय राजवंश में मिला लिए गए। इन भरद्वाज का दूसरा नाम 'वितथ' भी है। इनके इस नाम के पड़ने का कारण श्रीमद्भागवत में इनके जन्म के प्रसंग में ही पूर्वोक्त पते पर बता दिया गया है। इनके क्षेत्री पिता उतथ्य ने इन्हें 'वितथ' अर्थात् व्यर्थ जान कर ही इनका परित्याग कर दिया, क्योंकि व्यभिचार-जात पुत्र का पिंड-दान क्षेत्री पिता के लिए व्यर्थ है। ऐसे पिण्ड-दान से उसकी गति नहीं होती। चन्द्रवंशीय

राजाओं की वंशावली का अध्ययन करने से पता चलता है कि ये भरद्वाज पुरुरवा से २१ पीढ़ियाँ बाद हुए थे; जैसे—

भरद्वाज का समय

(१) पुरुरवा-पुत्र आयु, (२) नहुष, (३) ययाति, (४) पुरु, (५) जनमेजय, (६) प्रचिन्वान् (अविद्ध), (७) प्रवीर, (८) मनस्यु, (९) चारुपद (जयद), (१०) सुद्यु (धुन्धु), (११) बहुगवी, (१२) संयाति, (१३) अहंयाति, (१४) रौद्राश्व, (१५) ऋतेयु, (१६) रन्तिभार, (१७) सुमति, (१८) रैभ्य, (१९) दुष्यन्त, (२०) भरत और (२१) भरद्वाज (वितथ)। अब हिसाब किया—

२१×२५=५२५ वर्ष पुरुरवा से कम

४३२६ ई० पू० (पुरुरवा का समय)—५२५=३८०१ वा स्थूलतः

३८०० ई० पू० भरद्वाज का समय हुआ।

षष्ठम मंडल का रचनाकाल इससे अधिक नहीं हो सकता; और भरद्वाजों अर्थात् भरद्वाज के वंशधरों का तो समय ३८०० ई० पू० से कम ही होगा। भारद्वाजों में सुहोत्र ३१वें, नर ३५वें और ३६वें तथा गर्ग ४७वें सूक्त के रचयिता हैं।

सप्तम मण्डल

सप्तम मण्डल के रचयिता महर्षि वशिष्ठ हैं। प्राचीनतम वशिष्ठ श्राद्धदेव (वैवस्वत) मनु के पुरोहित थे। पहले श्राद्धदेव को कोई पुत्र न था, अतः वशिष्ठ ने उनसे मित्रावरुण देव का यज्ञ पुत्रलाभार्थ कराया जिसमें उनकी रानी श्रद्धा की प्रेरणा से उन्हें पुत्र के बदले इला नाम की एक कन्या हुई थी। प्राचीनतम वशिष्ठ का समय जानने के लिए वैवस्वत मनु का ही समय निकालना चाहिये। सूर्यवंशीय राजाओं की वंशावली देखने से पता चलता है कि वैवस्वत मनु कश्यप से २ पीढ़ियाँ बाद हुए हैं; जैसे—(१) कश्यप-पुत्र विवस्वान् और (२) वैवस्वत मनु और कश्यप का समय ५३७६ ई० पु० निकाल चुके हैं। इसमें से २×२५=५० वर्ष निकाल लिए तो ५३७६-५०=५३२६ वा स्थूलतः ५४०० ई० पू० वशिष्ठ का समय, और यही सप्तम मण्डल का रचना-काल हुआ।

ऋषियों की तथाकथित अति मृत्युता किम्वा दीर्घ जीविता

कितने लोगों की यह मिथ्या धारणा है कि प्राचीन काल के ऋषि लोगों ने अपने तपोबल के द्वारा मृत्यु को भी जीत लिया था वा कम से कम वे दीर्घायु तो अवश्य होते थे। ऐसे हतबुद्धि लोगों को समझाने के लिए हम केवल इतना ही कह देना चाहते हैं कि स्वयं तपस्वि-पुंगव वशिष्ठ ही मृत्यु के चंगुल से नहीं बच सके तो अन्य ऋषिगण किस खेत की मूली थे जो अजर और अमर कहे जा सकते हैं। वशिष्ठ और निमि ये दोनों परस्पर पुरोहित और यजमान थे। दैव-दुर्विपाक से एक ऐसा अवसर आ गया कि दोनों

ने ही क्रोध के आवेश में शापद्वारा एक दूसरे की हत्या कर डाली। निमि ने तो फिर जन्म नहीं लिया; पर वशिष्ठ मित्रावरुण के वीर्य से उर्वशी में पुनः उत्पन्न हुए। चूँकि अपसराएँ देवलोक की वेश्याएँ हैं; अतः वशिष्ठ को वेश्या पुत्र कहा जाता है। इसी उर्वशी का विवरण हम पूर्व में राजा पुरुरवा के प्रसंग-वश लिख आए हैं; देख लीजिए। राजा निमि और वशिष्ठ के झगड़े का कारण यह था कि राजा ने वशिष्ठ के मना करने पर भी उनकी अनुपस्थिति में गौतम ऋषि को अपना पुरोहित बनाकर यज्ञ किया। निमि द्वारा अपनी आज्ञा की इस धृष्ठतापूर्ण अवहेलना पर वशिष्ठ मारे क्रोध के आग बबूला हो गए और अपने यजमान से झगड़ पड़े। कलह यहाँ तक बढ़ा कि दोनों ने ही शाप द्वारा एक दूसरे का काम तमाम कर दिया। श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ९, अध्याय १३ पढ़िए—

शिष्य व्यतिक्रमं वीक्ष्य निर्वर्त्य गुरुरागतः।
अशपत् पतता देहो निमेः पण्डित मानिनः ॥४॥
निमिः प्रतिददौ शापं गुरवेऽधर्मवर्त्तिने।
तवापिपतताद्देहो लोभाद्धर्म्म मजानतः ॥५॥

अर्थ—वशिष्ठ ने इन्द्र के यहाँ से लौट कर राजा के अनुचित आचरण को देखा और यह शाप दिया कि पंडिताभिमानी निमि का शरीर छूट जाये। कुलगुरु का यह अधर्माचरण देखकर निमि ने भी उनको शाप दिया कि आपने लोभ के वश में होकर धर्म की अवहेलना की; अतः आप का भी शरीर छूट जाय॥

निदान दोनों का शरीर छूट गया। अभिप्राय यह कि केवल निमि ही नहीं; महर्षि वशिष्ठ भी, जो अपनी उग्र तपस्या के बल पर ही महर्षि-पुँगव बन गए थे, मृत्यु की चपेट से न बच सके और सो भी अपने एक यजमान के शाप से। और ऋषियों को दीर्घायु मानना भी केवल एक अन्धविश्वास है जिसका खंडन वेदों में बार-बार आई हुई 'जीवेन शरदः शतम्' (हम लोग १०० वर्ष जीएँ), 'पश्येत शरदः शतम्' (हम लोग १०० वर्ष देखें) आदि जैसी ऋषियों की ही प्रार्थनाएँ स्वयं कर देती हैं। यह कब मानने की बात है कि इधर यजमान के वंश में वैवस्वत मनु से लेकर रामचन्द्र तक गिनने पर लगभग ६० पीढ़ियाँ बीत जायँ और उधर पुरोहित के वंश में तब तक एक ही पीढ़ी बनी रहे। कितने लोग इस गोरख-धन्धे को इस व्याख्या के द्वारा सुलझाया करते हैं कि वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि नाम शुरू-शुरू में वंश-प्रवर्त्तकों के वैयक्तिक नाम भले ही हों, किन्तु आगे चलकर ये आभिजन नाम (Family name or Surname) हो गए; जैसे—'रघूणामन्वयं वक्ष्ये' में 'रघु' यह किसी एक ही राजा का नाम न होकर सभी रघुवंशियों का आभिजन-नाम है। उसी प्रकार वशिष्ठ आदि नामों को भी समझना

चाहिए। पर रघुवंशियों का तो दिलीप, दशरथ, रामचन्द्र आदि अपना-अपना वैयक्तिक (Personal) नाम भी है, उसी प्रकार वशिष्ठादिवंशियों का भी वैयक्तिक नाम होना चाहिए, जो नहीं है। अतः हमारी तो यह सम्मति है कि वशिष्ठादि आभिजन-नाम होकर वैयक्तिक नाम हैं। एक ही वंश में एक नाम के अनेक व्यक्तियों का होना कोई आश्चर्य नहीं है। हमें इसके कई उदाहरण पूर्वोक्त राजवंशावलियों में ही खुद मिले हैं।

अष्टम मंडल

ऋग्वेद के अष्टम मंडल के रचयिता महर्षि कण्व हैं। ये वे ही कण्व मालूम पड़ते हैं जिन्होंने दुष्यन्त की प्रेमिका शकुन्तला का लालन-पालन किया था। राजा पुरुरवा की पूर्वोक्त वंशावली को देखने से पता चलता है कि कण्व पुरुरवा से १८ पीढ़ियों बाद हुए थे। कण्व के पितामह रत्रिभार पुरुरवा से १७ − १ = १६ पीढ़ियों बाद; अतः स्वयं कण्व १६ + २ = १८ पीढ़ियाँ बाद हुए। अब हिसाब किया—

कण्व का समय

१८ × २५ = ४५० वर्ष पुरुरवा से कम

४३२६ ई० पू० (पुरुरवा का समय) − ४५० = ३८७६ वा स्थूलतः

३९०० ई० पू० कण्व का समय और अष्टम मंडल का रचनाकाल हुआ। कण्व और दुष्यन्त में १ पीढ़ी का अन्तर होना स्वाभाविक है। दुष्यन्त कण्व के चचेरे भाई रैभ्य के पुत्र थे।

नवम मंडल

नवम मंडल के रचयिता अंगिरा और उनके वंशधर कहे जाते हैं; पर स्वयं अंगिरा का रचा हुआ कोई भी सूक्त हमें उक्त मंडल में न मिला। हाँ, उनके कई एक वंशधरों के रचे हुए सूक्त हमें अलबत्ते मिले हैं। अंगिरा के सूक्तकार वंशधरों में नृमेध, प्रियमेध, विन्दु, प्रभूवसु, बृहन्मति (वृहस्पति), उतथ्य, अमहीयु, भरद्वाज (ममता और वृहस्पति के पुत्र), पवित्र, हिरण्यस्तूप, हरिमन्त, कण्व, कुत्स, ऋजिश्वा और शिशु, ये १५ ऋषि हो गए हैं।

अंगिरा एक सुप्रसिद्ध ऋषि हो गए हैं। इन्होंने ही अथर्ववेद का संकलन किया था। ये सप्तर्षियों में से एक तथा ब्रह्मा के मानस पुत्रों में से भी एक हैं। ब्रह्मा के दसों मानस पुत्रों के नाम ये हैं—अत्रि, मरीचि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, प्रचेता, वसिष्ठ, भृगु और नारद। संस्कृत में 'मानस' शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ इस प्रकार होते हैं—मनसा कृतः इति मानसः मनस् + अण् ; अर्थात् जो मन द्वारा कर लिया जाय (मान लिया जाय) वह मानस है। ब्रह्मा ने इनकी योग्यता देख इन्हें अपना पुत्र मान लिया था। ये कुछ ब्रह्मा के औरस पुत्र नहीं थे। और यह भी जरूरी नहीं है कि ये दसों ऋषिगण

समकालीन हों। भरद्वाज (वितथ) का समय ३८०० ई० पू० निकाल चुके हैं। ये बृहस्पति द्वारा अंगिरा के पौत्र थे अतः अंगिरा का समय यदि ३६०० ई० पू० मान लिया जाय तो कोई हानि नहीं। नवममंडल के मंत्रकार ऋषियों में कुछ भृगुवंशी भी हैं; जैसे—कवि, जमदग्नि, वेन और उशना (शुक्राचार्य)। जमदग्नि विश्वामित्र के भागिनेय थे और उशना राजा ययाति के श्वसुर थे। अतः इन्हीं नाते जमदग्नि और उशना का समय निकाला तो जमदग्नि का ४६०० ई० पू० और उशना का ४३०० ई० पू० आया। अन्य फुटकल ऋषियों में मधुच्छन्दा, शुनःशेप आदि हैं जिनमें बहुतों का समय निकाल चुके हैं।

दशम मंडल

जैसा कि पूर्व में ही कह आए हैं, दशम मंडल के रचयिता अनेक ऋषि हैं। इन ऋषियों में यम, यमी, विवस्वान्, यम-पुत्र शंख, कवष (ऐलूष), शर्यात, भलन्दन-पुत्र वत्सप्री (वत्स-प्रीति), मनु-पुत्र नाभा-नेदिष्ट, पुरुरवा-उर्वशी, देवापि, युवनाश्व-पुत्र मान्धाता आदि मुख्य हैं। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

यम-यमी

यम और यमी विवस्वान् (सूर्य) के क्रमशः पुत्र और पुत्री, अतः परस्पर भाई-बहन हैं। ये दशवें सूक्त के रचयिता हैं। इस सूक्त के अध्ययन से पता चलता है कि संसार में कभी ऐसी भी प्रथा थी जिसके अनुसार परस्पर सहोदर भाई-बहनों में भी विवाह-सम्बन्ध स्थापित हुआ करता था अन्यथा यमी यम के साथ दाम्पत्य सम्बन्ध स्थापित करने का प्रस्ताव क्यों करती? यमी कहती है—

> किं भ्राता सद्यदाथं भवति किमु स्वसायन्निर्ऋतिर्निगच्छत्।
> काम भूता बह्वे तद्रपामि तन्वा मंतन्वं संपिपृग्धि ॥११॥

अर्थ—वह कैसा भाई है जिसके रहते भगिनी (बहन) अनाथा हो जाय; और वह भगिनी ही क्या है जिसके रहते भ्राता का दुःख दूर न हो? मैं काम-मूर्च्छिता होकर नाना प्रकार से बोल रही हूँ; यह विचार करके मुझे भली-भाँति भोगो। इस पर यम कहता है—

> नवाउ ते तन्वा तन्वं संप पृच्याँ पाप माहुर्यः स्वसारं निगच्छात्।
> अन्येन मत् प्रमुदः कल्पयस्व न ते भ्राता सुभगे वष्टयेतत् ॥१२॥

अर्थ—हे यमी, मैं तुम्हारे शरीर के साथ अपना शरीर नहीं मिलाना चाहता। जो भ्राता भागिनी का संभोग करता है उसे लोग पापी कहते हैं। हे सुन्दरी! मुझे छोड़कर किसी अन्य पुरुष के साथ आमोद-प्रमोद करो। तुम्हारा भ्राता तुम्हारे साथ मैथुन नहीं करना चाहता।

मिस्र की रानी क्लियोपेट्रा

इतिहास के विद्वानों को यह भली भाँति मालूम है कि मिस्र (Egypt) की अन्तिम रानी क्लियोपेट्रा (Cleopetra) का विवाह उसके सहोदर भाई के साथ हुआ था। मुसलमान और इसाइयों में ऐसा विवाह कुछ परिवर्तित रूप में अब तक विद्यमान है। फर्क केवल इतना ही है कि वे लोग अपनी सहोदर बहन को छोड़कर चचेरी, ममेरी, फुफेरी आदि बहनों से विवाह कर लेते हैं।

यम यमी का समय

यम-यमी विवस्वान के बच्चे हैं। यमी का ही दूसरा नाम यमुना है। ये दोनों ही श्राद्धदेव मनु के भाई-बहन हैं। अतः इनका भी समय श्राद्धदेव के तुल्य अर्थात् ५४०० ई० पू० समझना चाहिए। और यम के पिता विवस्वान, उनके पुत्र शंक तथा श्राद्धदेव मनु के पुत्र नाभा-नेदिष्ट का भी समय ५४०० ई० पू० के ही आसन्न समझना चाहिए।

वत्सप्री का समय

भलन्दन-पुत्र वत्सप्री वा वत्सप्रीति नाभा-नेदिष्ट के पौत्र हैं; अतः इनका समय श्राद्धदेव के समय से ३ पीढ़ियाँ कम होने के कारण ५३०० ई० पू० मान लेने में कोई हानि नहीं है।

मान्धाता का समय

युवनाश्व-पुत्र मान्धाता श्राद्धदेव से १६ पीढ़ियाँ बाद हुए हैं, अतः इनका समय ५३२६ ई० पू० (श्राद्धदेव का समय)—१६ × ५ = ५२३१ वा स्थूलतः ५३०० ई० पू० हुआ।

पुरुरवा और उर्वशी

पुरुरवा और उर्वशी का समय पहले निकाल चुके हैं। वह ४४०० वर्ष ई० पू० है। ये दोनों १५वें सूक्त के सम्मिलित रचयिता हैं जिसमें इन लोगों का सम्वाद दिया है। इस संवाद में विरह-व्याकुल पुरुरवा अति ही दीन भाव से गिड़गिड़ाता हुआ उर्वशी से अपने यहाँ ठहरने के लिए बार-बार प्रार्थना कर रहा है और वह निष्ठुर होकर उसे बार-बार फटकार सुना रही है।

दशम मंडल के सूक्तकार ऋषियों में जो देवापि हैं वे समय की दृष्टि से अर्वाचीनतम हैं; अर्थात् वे ही अन्तिम मंत्र-कार ऋषि हैं। उनके बाद किसी ने कोई भी मंत्र नहीं रचा। इतना ही नहीं; बल्कि ऋग्वेद मात्र के मंत्रकर्त्ता ऋषियों में कश्यप से पहले और देवापि के बाद कोई भी मंत्रकार ऋषि दृष्टिगोचर नहीं होता। अतः केवल इन दो ही ऋषियों का समय मालूम करना मानो समूचे ऋग्वेद का रचना काल मालूम कर लेना है।

देवापि का समय

कश्यप का समय ५४०० ई० पू० निकाल चुके हैं। अब देवापि का समय निकालते

हैं। देवापि कुरुवंशीय राजा शन्तनु के बड़े भाई थे। ज्येष्ठ पुत्र की हैसियत से राज्य का उत्तराधिकारी होते हुए भी वे उसका त्याग कर तपास्यार्थ वन को चले गए। शन्तनु के भाई होने के कारण वे उनके समकालीन थे और शन्तनु की चौथी पीढ़ी में युधिष्ठिर आदि पाँचों पाण्डव हुए थे जो कुरुक्षेत्र की लड़ाई में लड़े थे। कुरुक्षेत्र की लड़ाई ५०४८ (कलि)—१६४७ (ई० सन्) = ३१०१ ई० पू० में हुई थी। इसमें ४ × २५ = १०० वर्ष मिलाये तो देवापि का समय ३२०१ वा स्थूलतः ३२०० ई० पू० हुआ। पराशर का भी यही समय है।

राजा शन्तनु

देवापि दसवें मंडल में ६६वें सूक्त के रचयिता हैं। निम्नलिखित मंत्रों में उन्होंने शन्तनु के कल्याण के लिए देवताओं से प्रार्थना की है—

> बृहस्पते प्रतिमे देवतामिहि मित्रोवायद्वरुणो वासिपूषा ॥
> आदित्यैर्वा यद्वसुभि मरुत्वान्सपर्जन्यं शन्तनवे वृषाय ॥१॥

अर्थ—हे बृहस्पति! तुम मेरे लिए प्रत्येक देवता के पास जाओ। तुम मित्र, वरुण, पूषा अथवा आदित्यों और वसुओं के साथ मरुत्वान् (इन्द्र) ही हो। तुम शन्तनु (याज्ञिक) राजा के लिए मेघ से जल बरसाओ।

> अस्मे धेहि द्युमतीवाच मासन् बृहस्पते अनमीवा मिषिराम्।
> यया वृष्टिं शन्तनवे बनाव दिवो द्रप्सो मधुमाँ विवेश ॥३॥

अर्थ—हे बृहस्पति! हमारे मुँह में एक ऐसा शुभ्रस्तोत्र डाल दो जिसमें अस्पष्टता न हो; पर भली भाँति स्फूर्ति हो, जिसमें द्वारा हम शन्तनु के लिए वृष्टि उपस्थित कर सकें और मधुयुक्त रस आकाश से आ सकें।

> यद्देवापिः शन्तनवे पुरोहितो होत्रायवृतः कृपयन्न दीधते।
> देवश्रुतं वृष्टिवनिं रराणो बृहस्पतिर्वाच मस्मा अयच्छत् ॥७॥

अर्थ—जिस समय शन्तनु के पुरोहित देवापि (कौरव) ने होम करने के लिए उद्यत होकर जलोत्पादक देव-स्तोत्र को निरूपित किया, उस समय संतुष्ट होकर बृहस्पति ने उनके मन में स्तोत्र का उदय कर दिया।

किसी-किसी का मत है कि मंत्र-कर्त्ता देवापि तथा कुरुवंशीय देवापि, ये दोनों दो भिन्न व्यक्ति हैं; कारण कि मंत्र-कर्त्ता देवापि को उक्त सूक्त में 'आर्ष्टिषेण' अर्थात् ऋष्टिषेण का पुत्र कहा गया है और पुरुवंशीय देवापि के पिता का नाम प्रतीप था जैसा कि पुराणोक्त वंशावलियों से मालूम पड़ता है। पर दोनों देवापि दो हों वा एक; उनके समय में कुछ भी फर्क नहीं पड़ता; क्योंकि शन्तनु के ही समकालीन हैं; मंत्रकर्त्ता देवापि का समकालीन, इनके रचयिता उक्त सूक्त में शन्तनु का उल्लेख होने से, और कुरुवंशीय देवापि का समकालीन

उनके भाई होने से। सायण ने कुरुवंशीय देवापि को ही मंत्रकर्त्ता ऋषि माना है। सम्भव हो सकता है कि 'ऋष्टिषेण' ऋषि का शिष्य होने के कारण देवापि को ही 'आर्ष्टिषेण' कहा गया हो।

कवष (ऐलूष)

कवष (ऐलूष) अर्थात् ईलूष-पुत्र कवष एक दासी-पुत्र थे। ऐतरेय ब्राह्मण २।१६, में लिखा है कि ऋषियों ने इन्हें दासी-पुत्र कह कर यज्ञ से निकाल दिया। तत्पश्चात् इन्होंने संपूर्ण ऋग्वेद का अध्ययन कर उसके नए-नए विषयों को हृदयंगम किया। तब ऋषियों ने उन्हें सादर बुलाकर अपना आचार्य बनाया और यज्ञ किया।

पूर्व में कह आए हैं कि ऋग्वेद के मंत्रकार ऋषियों में सबसे प्राचीन कश्यप हैं, जिनका समय ५४०० ई० पू० है और सबसे अर्वाचीन देवापि हैं जिनका समय ३२०० ई० पू० है; अतः स्पष्ट है कि ऋग्वेद की रचना ५४०० ई० पू० से प्रारम्भ और ३२०० ई० पू० में समाप्त हुई; अर्थात् ऋग्वेद के रचे जाने में ५४००—३२००=२२०० वर्ष लगे। और ऋग्वेद ही सभी वेदों में प्राचीनतम है; अतः यह मान लेने में कोई हानि नहीं है कि यजुः आदि शेष तीन वेदों की भी रचना, चाहे जब हुई हो, उक्त २२०० वर्षों के भीतर ही हुई होगी।

अन्य विद्वानों का मत

अब यहाँ पर वेदों तथा तत्सम्बन्धी कुछ अन्य ग्रन्थों के रचना-काल विषयक अन्य विद्वानों के मत की एक संक्षिप्त समालोचना कर इस विषय का उपसंहार करते हैं। श्लेगेल (Sehelegle), वेबर (Weber), मैक्स मूलर (Max Muller) आदि यूरोपीय विद्वानों ने वेदों का रचना-काल मालूम करने के लिए बहुत सरखप्पी की; किन्तु अन्त में वे यही कहकर अपनी हार मान बैठे कि वेदों के आदि या प्रारम्भ काल का पता लगाना साध्य नहीं है। भारतीय विद्वानों में स्वर्गीय श्री बालगंगाधर तिलक महोदय ने भी इस दिशा में कुछ प्रयत्न किया है। उन्होंने ज्योतिषिक गणना के आधार पर निःशेष ब्राह्मण ग्रंथों का रचना-काल २५०० ई० पू० तथा ऋग्वेदादि संहिताओं का रचना-काल ६५०० ई० पू० और ४५०० ई० पू० के अन्तर्गत माना है। जैकोबी (Jacoby) साहब का भी प्रायः यही मत है। पर इन महानुभावों के मत का खंडन करने के लिए ज्योतिषिक गणनानुसार हमारा निकाला हुआ शतपथ ब्राह्मण का रचना काल २९४६ ई० पू० और कुरुक्षेत्र की लड़ाई से १०० वर्ष पूर्व लाया हुआ ऋषि देवापि का समय ३२०० ई० पू० ही पर्याप्त है। क्योंकि संहिताओं की रचना काल का अन्त्य सीमा यदि ४५०० ई० पू० माना जाय तो कुरुवंशीय शन्तनु के समकालीन देवापि का होना ४५०० ई० पू० के पूर्व में ही मानना पड़ेगा जो ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वथा गलत है। इसी प्रकार यदि निःशेष ब्राह्मण ग्रंथों का

रचना काल २५०० ई० पू० माना जाय तो शतपथ ब्राह्मण का भी रचना काल वही २५०० ई० पू० मानना पड़ेगा जो उसमें वर्णित ज्योतिषिक दृश्य (Astronomical phenomenon) कृत्तिका के पूर्व में होने के साथ मेल नहीं खा सकता। भारतीय विद्वानों में कुछ ऐसे भी लोग हैं जो वेदकालीन भूगर्भ-स्थिति ज्ञान विषयक कुछ अटकलें लगाकर भूगर्भ विद्या के अनुसार वेदों का रचना काल २५००० ई० पू० और १६००० ई० पू० के अन्तर्गत मानते हैं। पर इन सभी विद्वानों की युक्ति और तर्क शैली मिथ्या आत्मश्लाघा के अतिरिक्त किसी ऐसी दृढ़ भूमि पर अवलम्बित नहीं है कि उनका मत मान लिया जाय! हमारी तो यह सम्मति है कि जब किसी ज्योतिषिक दृश्य की स्थिति सूक्ष्मता मालूम हो तभी ज्योतिः शास्त्र के अनुसार समय का निर्द्धारण करना चाहिए जैसे हमने कृत्तिका के ठीक पूर्व में उदय होने के आधार पर शतपथ ब्राह्मण का रचना-काल निकाला है। अन्यथा तदर्थ पूर्वोक्त राजवंशावलियों की ही शरण लेनी चाहिए जिस प्रकार इस पुस्तक में उसे लेकर काल-निर्णय किया गया है और इसका सहारा न केवल वेदों का ही, बल्कि ब्राह्मण-ग्रंथों, आरण्यकों, उपनिशदों और सूत्र ग्रंथों का भी समय निरूपण के लिए लेना चाहिए, क्योंकि इन ग्रंथों में भी जहाँ-तहाँ राजाओं और ऋषियों का उल्लेख हुआ है।

सूत्र-ग्रन्थों का कपोल-कल्पित रचना-काल

अब जरा सूत्र-ग्रंथों के रचना-काल का पता लगाइए। गृह-सूत्र के विवाह प्रकरण में 'ध्रुव इव स्थिराभव' यह मंत्र पाया जाता है। इसके द्वारा वर वधू का ध्यान ध्रुवतारा की ओर आकृष्ट कर वह उसे उक्त तारा को देखने का आदेश देता है। कालिदास कृत 'कुमार-संभव' नामक महाकाव्य में भी शिव-पार्वती के विवाह-प्रकरण में 'ध्रुवेण भर्त्रा ध्रुव-दर्शनाय प्रयुज्य माना प्रिय दर्शनेन' आदि वचन आए हैं। इन वचनों के आधार पर पूर्वोक्त जैकोबी (Jacoby) आदि विद्वानों का कहना है कि पहले ध्रुवतारा अधिक चमकीला था और वे उस तारा की इस अवस्था की तिथि २७०० ई० पू० मानते हैं, जब वह उत्तर ध्रुव की ओर सरका। पर इन महानुभावों का यह मत केवल एक मनगढ़ंत कल्पना है; क्योंकि उक्त मंत्र में कोई भी ऐसा शब्द नहीं देख पड़ता जो हमारी इस कल्पना का समर्थन करे कि सूत्र-ग्रन्थों के रचना-काल में ध्रुवतारा वर्त्तमान काल की अपेक्षा अधिक चमकीला था।

पूर्व में कह आए हैं कि कतिपय विद्वान् किन्हीं-किन्हीं वेद मंत्रों में वेदकालीन भूगर्भ स्थिति का वर्णन समझ भूगर्भशास्त्र के आधार पर सम्बन्धित मंत्रों का रचना-काल २५००० ई० पू० और १६००० ई० पू० के अन्तर्गत मानते हैं। उसी प्रकार कितने ऐसे भी विद्वान् हैं जो कुछ वेद मंत्रों में वेदकालीन भारत की भौगोलिक अवस्था के वर्णन की बू पाकर उन मंत्रों का रचना-काल ७५०० ई० पू० मानते हैं। उदाहरण के लिए ऋग्वेद ७।९५।२ लीजिए—

सरस्वती नदी

एकाचेतत् सरस्वती नदीनां शुचिर्यती गिरिभ्य आसमुद्रात् ।
रायश्चेतन्ती भुवनस्य भूरेर्घृतंपयोदुदुहे नाहुषाय ।।

अर्थ—नदियों में पवित्र, पर्वत से लेकर समुद्र तक जानेवाली और अकेली सरस्वती ने नहुषराजा की प्रार्थना को जाना । उन्होंने भुवनस्थ प्रचुर धन प्रदान करके नहुष के लिए घी और दूध दुहा था अर्थात् नहुष को दिया था ।

यहाँ विचारना यह है कि इस मंत्र के रचयिता वशिष्ठ हैं और इसमें चन्द्रवंशीय राजा नहुष का उल्लेख है; अतः यह निर्विवाद है कि इस मंत्र का रचनाकाल वशिष्ट और नहुष के समय से अधिक नहीं हो सकता । पर प्राचीनतम वशिष्ठ का समय ५४०० ई० पू० निकाल चुके हैं और नहुष का समय, उनके पुरुरवा से दो पीढ़ियाँ कम होने के कारण ४३२६ ई० पू० (पुरुरवा का समय)—२×२५=४२७६ वा स्थूलतः केवल ४३०० ई० पू० ही है । अतः अवश्य ही इस मंत्र के रचयिता प्राचीनतम वशिष्ठ न होकर कोई अन्य वशिष्ठ हैं जो नहुष के ज्यादे से ज्यादे समकालीन रहे होंगे, क्योंकि ५४०० ई० पू० वाले वशिष्ठ अपने से ११०० वर्ष बाद होने वाले नहुष का उल्लेख भूतकालिक क्रिया में नहीं कर सकते । हमारा तो कभी भी यह हठ नहीं रहा है और न है कि वे सभी मंत्र जिनके ऋषि वशिष्ठ कहे गए हैं, केवल प्राचीनतम वशिष्ठ की ही रचनाएँ हैं, किसी अन्य वशिष्ठ के नहीं । उनमें अन्य वशिष्ठों की रचनाएँ भी हो सकती हैं । प्रारंभ में प्राचीनतम वशिष्ठ का उदाहरण तो केवल वेदों की अधिक से अधिक प्राचीनता दिखाने के ही उद्देश्य से दिया गया है; किसी अन्य उद्देश्य से नहीं । इसके अतिरिक्त हमारा इससे कोई भी मतलब नहीं है कि विचाराधीन मंत्र का ऋषि कौन है । हमारा तो मतलब केवल नहुष से है जिनके लिए सरस्वती ने घी और दूध दुहा था । अतः मंत्रार्थ से स्पष्ट है कि सरस्वती नदी नहुष के समय ४३०० ई० पू० में विद्यमान थी; चाहे जिस समुद्र में वह गिरती हो ।

राजपूताना-समुद्र

जो लोग भूगर्भ विद्या के आधार पर विचाराधीन मंत्र की रचना ७५०० ई० पू० में हुई सिद्ध करने के लिए राजपूताना-समुद्र का, अर्थात् उस समुद्र का जिसके गर्भ में वर्त्तमान राजपूताना कभी निमग्न था, स्वप्न देखते हैं, वे पूर्णतः भ्रान्त हैं; कारण कि ७५०० ई० पू० में नहुष का अस्तित्व ही नहीं था जिसके लिए उक्त मंत्र की रचना हुई । असल बात तो यह है कि भले ही किसी सुदूर पूर्वकाल में राजपूताना-समुद्र विद्यमान हो, पर उसके सूख जाने के बहुत काल बाद तक सरस्वती नदी बहती रही और राजपूताना समुद्र के बदले और आगे बढ़कर अरब सागर में गिरने लगी, ठीक वैसे ही जैसे गंगा नदी

समुद्र-निमग्न वंग देश के सूख जाने पर उसे पार करती हुई अब वंगोप सागर में गिरती है।

सरस्वती नाम की दो नादियाँ

प्राचीनकाल में सरस्वती नाम की दो नदियाँ थीं, एक पश्चिम वाहिनी और दूसरी पूर्व वाहिनी। उक्त मंत्र में जिस सरस्वती का जिक्र आया है वह पश्चिम वाहिनी थी और पूर्व वाहिनी सरस्वती प्रयागराज के त्रिवेणी संगम में गिरती थी। पर वर्त्तमानकाल में दोनों नदियाँ सूख गईं; राजपूताने की, और दूसरी मालवे की मरुभूमि में। इन दोनों सरस्वतियों का उल्लेख, श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ६, अध्याय ७८ में बलराम के तीर्थयात्रा-वर्णन में आया है—

बलराम की तीर्थयात्रा

श्रुत्वा युद्धोद्यमं रामः कुरूणां सहपाण्डवैः।
तीर्थाभिषेक व्याजेन मध्यस्थः प्रययौकिल ॥१७॥
स्नात्वा प्रभासे संतर्प्य देवर्षि पितृ मानवान्।
सरस्वतीं प्रतिश्रोतं ययौ ब्राह्मण-संवृतः ॥१८॥
पृथूदकं विन्दुसरस्त्रितकूपं सुदर्शनम्।
विशालं ब्रह्मतीर्थंच चक्रं प्राचीं सरस्वतीम् ॥१९॥
यमुना मनु या न्येव गंगा मनुच्च भारत।
जगाम नैमिषंयत्र ऋषयः सत्र मासते ॥२०॥

अर्थ—बलराम ने सुना कि कौरवों और पाण्डवों में युद्ध की तैयारी हो गई है। चूँकि दोनों ही दल उनके तुल्य सम्बन्धी थे, अतः उन्होंने किसी का भी पक्ष लेना उचित नहीं समझा और भावी युद्ध में तटस्थ रहने के अभिप्राय से तीर्थयात्रा का बहाना कर घर से चल पड़े। वे प्रभात क्षेत्र में स्नान कर तथा देवताओं, ऋषियों, पितरों एवं मनुष्यों को तृप्त कर ब्राह्मणों के सहित सरस्वती नदी के बहाव की उल्टी दिशा में, अर्थात् उसके मुख से उद्गम की ओर (प्रतिश्रोत) चले। वहाँ से क्रमशः पृथूदक, विन्दुसर, त्रितकुप, सुदर्शन नद, विशाला नदी, ब्रह्मतीर्थ, पूर्व वाहिनी सरस्वती एवं गंगा और यमुना के परवर्त्ती सभी तीर्थों में होते हुए वे नैमिषारण्य पहुँचे जहाँ ऋषिगण सुदीर्घ समय के लिए दीक्षा लेकर महायज्ञ में प्रवृत्त थे।

प्रभास क्षेत्र वर्त्तमान अरब सागर के किनारे कहीं पर द्वारका के आस-पास में था और उसके समीप ही पश्चिम वाहिनी सरस्वती उक्त सागर में गिरती थी; क्योंकि तभी तो बलराम ने प्रभास तीर्थ में स्नान कर उक्त सरस्वती नदी की उल्टी दिशा में प्रस्थान किया। श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ११, अध्याय ३० पढ़िए। यदुवंश का नाश समीप आया

जानकर और द्वारका में होते हुए विविध घोर उत्पातों को देखकर श्रीकृष्ण ने यादवों से कहा—

एते घोरा महोत्पाता द्वार्वत्यां यम केतवः ।
मुहूर्त्तमपि नास्थेयमत्र नो यदु पुंगवाः ।।५।।
स्त्रियोबालाश्च वृद्धाश्च शंखोद्धारं ब्रजन्त्वितः ।
वयं प्रभासं यास्यामो यत्र प्रत्यक् सरस्वती ।।६।।

अर्थ—हे यदुवंशियो ! देखो, द्वारका में यमकेतु अर्थात् मृत्यु-सूचक ये विविध घोर उत्पात हो रहे हैं । अब हम लोगों को यहाँ एक क्षण भी नहीं ठहरना चाहिए । स्त्री, बालक और बूढ़ों को शंखोद्धार क्षेत्र में भेजकर हमलोग प्रभास क्षेत्र चलें जहाँ पश्चिम वाहिनी सरस्वती नदी है ।

श्रीमद्‌भागवत के इन दोनों उद्धरणों से स्पष्ट है कि बलराम प्रभास क्षेत्र में स्नान कर वहीं पर समुद्र में गिरने वाली पश्चिम वाहिनी सरस्वती के बहाव की उल्टी दिशा में चले और पृथूदक आदि विविध तीर्थ स्थानों का भ्रमण करते हुए सब के अन्त में गंगा और यमुना से सम्बन्ध रखने वाली पूर्व वाहिनी सरस्वती तक पहुँचे । और जब पश्चिम वाहिनी सरस्वती का पता श्रीकृष्ण और बलराम के समय तक लग गया, जो कुरुक्षेत्र की लड़ाई के समय अर्थात् ३१०१ ई० पू० में विद्यमान थे, तो विचाराधीन मंत्र को ७५०० ई० पू० का रचा हुआ सिद्ध करने के विफल प्रयास में उत्तर नदी को उनके पूर्वज नहुष से भी लगभग तीन सहस्राब्दियाँ पहले ही सुखा देना केवल अपने प्रामाण्य धर्मग्रन्थों की घोर अनभिज्ञता प्रकट करनी है ।

पूर्वी और पश्चिमी समुद्र

इसी प्रकार के अन्धविश्वासियों को नाहक चक्कर में डालने वाला ऋग्वेद का १०। १३६।५ वाँ मंत्र भी है जिसके आधार पर वे सप्तसिन्धु के पूर्व और पश्चिम, अर्थात् दोनों ओर समुद्र के अस्तित्व की कल्पना करते हुए उक्त वेद की रचना को ईस्वी सन् से पूर्व २५०० और ७५०००० वर्षों के अन्तर्गत मानते हैं । विचाराधीन उक्त मंत्र यह है—

वातस्याश्वो वायोः सखाथो देवेषितो मुनिः ।
उभौसमुद्रावक्षेति यश्चपूर्व उतापरः ।।

अर्थ—मुनि लोग वायु मार्ग पर घूमने के लिए अश्व रूप हैं । वे वायु के सखा अर्थात् सहचर हैं । देवता उनको पाने की इच्छा करते हैं । वे पूर्व और पश्चिम दोनों समुद्रों में निवास करते हैं ।

मंत्र में केवल पूर्व और पश्चिम समुद्र का ही उल्लेख है; न कि सप्त सिन्धु का भी ।

अतः उसमें केवल पूर्व और पश्चिम समुद्रों का उल्लेख होने से ऋग्वेद की रचना को ईसा से पूर्व २५,००० और ७५,००० वर्षों के अन्तर्गत मानना वैसा ही हास्यजनक है जैसा केवल 'पूर्वापरौ तोयनिधी' के आधार पर 'कुमारसम्भव' की रचना को भी उतना ही प्राचीन मानना। और यदि पहली बात ठीक है तो दूसरी भी ठीक होनी चाहिए; क्योंकि दोनों की आधार भूमि एक ही है। शोक है कि मिथ्या आत्मश्लाघा तथा झूठे जातीय अभिमान ने हम हिन्दुओं की विवेक शक्ति को इतना कुंठित कर दिया है कि हम सत्यासत्य का निर्णय नहीं कर सकते।

क्या वेद संसार के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं ?

हिन्दुओं का यह दावा है कि वेद संसार के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं, अर्थात् वेदों से अधिक पुराना संसार का कोई भी ग्रन्थ नहीं है। उनके इस दावे पर कुछ लिखने के पूर्व ग्रन्थ अथवा पुस्तक क्या चीज है, इसे हमें अपने पाठकों को बतला देना परमावश्यक है। आप्टे महाशय ने अपने संस्कृत-अंग्रेजी कोष में 'ग्रन्थ' के अर्थ A work, treatise, composition और book और पुस्तक के अर्थ A book, manuscript आदि दिए हैं; अर्थात् इन दोनों शब्दों का अंग्रेजी प्रति शब्द (English equivalent) सामान्यतः Book है और अंग्रेजी भाषा के कोषानुसार Book शब्द का अर्थ है A collection of sheets of paper bound together, either printed, written on, or blank अर्थात् कागज के तख्तों का एक ढेर जो इकट्ठे बाँधे गए हों और जिनपर कुछ छापा वा लिखा गया हो अथवा जो सादे हों। Book शब्द के इस अर्थ से यह ध्वनि निकलती है कि जब तक किसी विषय का ज्ञान लेख-बद्ध नहीं किया जाता तब तक उसे ग्रन्थ या पुस्तक की संज्ञा नहीं प्राप्त होती। अब हमें यह देखना है कि वेदों को ग्रन्थ-रूप कब मिला। यह तो निर्विवाद है कि प्राचीन भारत को लेखन-कला का कुछ भी ज्ञान न था जिसके फलस्वरूप शिक्षकगण अपने छात्रों को मौखिक (Oral) शिक्षा दिया करते थे; यहाँ तक कि गुरुकुलों में ब्रह्मचारियों को उनसे वेदमंत्र बारबार रटवा कर कंठस्थ कराये जाते थे और जिसमें वेदमंत्र अपने शुद्ध रूप में याद रह सकें, वेद-पाठ के लिए निर्भुज-संहिता, प्रतृण-संहिता आदि कई प्रकार की प्रणालियाँ प्रचलित थीं जिन पर आगे चलकर प्रकाश डालेंगे। यही सिलसिला कई शताब्दियों तक अक्षुण्ण रूप में बराबर चलता रहा जब तक कि वैदिक साहित्य का कलेवर इतना बढ़ गया कि उसे कंठस्थ करना मानव-प्रयास के लिए सर्वथा असंभव हो गया। तब विद्वानों ने प्रत्येक अक्षर के लिए संकेत निकाल उसे लिपि-संज्ञा दी और सभी विषयों के ज्ञान को लेखबद्ध करना शुरू किया। यह ठीक-ठीक नहीं बताया जा सकता कि भारत में लेखन-कला का प्रचार पहले-पहल कब हुआ।

भारतीयों का लिपि-ज्ञान

विद्वानों का अनुमान है कि भारतीयों ने लेखन-कला पहले पहल सेमिटिक फिनीशियनों (Phoenicians) से सीखी थी, जो व्यापार करने के लिए ईसा से ८९० वर्ष से लेकर ७५० वर्ष पूर्व तक भरुकच्छ (भड़ोंच) और सूर्पारक में ईरान की खाड़ी (Persian Gulf) होकर आया करते थे। भारत की ब्राह्मी लिपि का जन्म इन्हीं फिनीशियनों की लिपि से हुआ माना जाता है।

ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपि

ऐसा मानने का एक कारण है। ब्राह्मी के कितने अक्षर फिनीशियनों के अक्षरों से मिलते हैं और मिलने पर दोनों के संकेत एक हो जाते हैं। ब्राह्मी लिपि के प्रचार के बाद भारत में एक दूसरी लिपि का भी प्रचार हुआ था जिसे खरोष्ठी लिपि कहते हैं। यह खरोष्ठी लिपि फिनीशियन लिपि की ही आर्मियन शाखा से उत्पन्न हुई थी जिसे भारतीयों ने ई० पूर्व पाँचवीं शताब्दी में अपने पड़ोसी पारसीक साम्राज्य से अपनायी थी, जिसमें भारत के पश्चिमोत्तर वर्त्ती सीमान्त-देश सम्मिलित हो गए थे। पुरातत्त्व विशारद पं० गौरी शंकर हीराचन्द ओझा खरोष्ठी को ब्राह्मी की ही सन्तान मानते हैं; पर बहुसंख्यक विद्वान् ओझा जी के इस मत से सहमत नहीं हैं। चाहे जो हो; इतना तो अवश्य है कि भारत में वर्तमान काल में जितनी लिपियाँ प्रचलित हैं; जैसे देव नागरी, बंगला, उड़िया, गुजराती, तेलगू, तामिल आदि वे सब की सब ब्राह्मी की ही सन्तान हैं।

वेदों को ग्रन्थ रूप कब मिला

अब वेदों को ग्रंथ-रूप कब मिला, इस पर विचार कीजिए। हम अभी पहले कह चुके हैं कि भारतीय लोग लेखन-कला के लिए फिनीशियन व्यापारियों के ऋणी हैं, जो ईसा से ८९० वर्ष से लेकर ७५० वर्ष पूर्व तक भारत में व्यापार करने आया करते थे। यदि ऐसी बात है तो वेदों को ग्रन्थरूप पाये सात-आठ सौ वर्ष ईसा पूर्व से अधिक नहीं हो सकता। इस दशा में वे संसार के प्राचीनतम ग्रन्थ नहीं कहे जा सकते। ईस्टर्न स्टार (Eastern Star) के तारीख ६-१२-१८९६ वाले अंक में लिखा है कि प्रोफेसर हिलप्रेष्ट (Prof. Hilprecht) ने कुछ ऐसे फलकों (पटियों) का पता लगाया था जिन पर के लेख खूँटाकार (Cunci form) अक्षरों द्वारा ७००० ई० पू० में लिखे गये थे। चीनियों ने लेखन-कला का आविष्कार ३००० ई० पू० किया था। इन सब प्रमाणों से तो यही सिद्ध होता है कि वेद उतने प्राचीन ग्रन्थ नहीं हैं जितने वे समझे जाते हैं। इसके अतिरिक्त एक और बात भी ध्यान देने योग्य है। भारत में लेखन-कला का प्रचार चाहे जब से हुआ हो, इतना तो अवश्य है कि व्यापार, राज्य-प्रबन्ध आदि सरीखे जीवन

के अन्य विभागों में उस कला के प्रचार होने के बहुत काल बाद तक वेदों का पठन-पाठन पुश्त-दर-पुश्त मौखिक ही चलता रहा। इसका एकमात्र कारण यह था कि पुजारी-समुदाय वेदों को इतना पवित्र समझता था कि वह उन्हें भौतिक रूप में परिणत कर अपनी मंडली के बाहर जाने देने के लिए सदा ही अनिच्छुक रहा करता था। इस दशा में वेद-ग्रन्थों की प्राचीनतमता में और बट्टा लग जाता है।

संस्कृत में 'लिख'.धातु का अस्तित्व

इस पर एक प्रतिवादी कहता है कि संस्कृत में 'लिख्' एक मूल धातु है जिसका अर्थ लिखना है और यह धातु संस्कृत में तब से विद्यमान है जब से संस्कृत भाषा इस धरातल पर अपना अस्तित्व रखती है अर्थात् जितनी संस्कृत भाषा प्राचीन है उतनी ही 'लिख्' धातु भी प्राचीन है और चूँकि यह भाषा इस देश में फिनीशियनों के भी आने के पहले से ही मौजूद थी; अतः यह कहना कि भारतीयों ने लेखन-कला फिनीशियनों से सीखा था लिपि-ज्ञान के लिए वे फिनीशियनों के ऋणी हैं, सर्वथा अनर्गल है, क्योंकि ऐसा मानने से 'लिख्' धातु का संस्कृत में रहना ही निष्प्रयोजन हो जाता है। मूल धातु वे हैं जिनसे अन्य शब्द उत्पन्न होते हैं; पर जो स्वयं किन्हीं दूसरे शब्दों से उत्पन्न नहीं हुए; जैसे—गच्छति, पठति, वदति आदि क्रियाओं में गम्, पठ्, वद् आदि मूल धातु हैं; पर रामति, कृष्णति, द्रुमायते आदि कियाओं में राम, कृष्ण, द्रुम आदि मूल धातु न होकर नाम धातु हैं, क्योंकि ये राम आदि नामों से उत्पन्न हुए हैं।

यही प्रतिवादी का आक्षेप है। अब इसका उत्तर सुनिए। यदि उसके इस कथन को मान भी लिया जाय कि भारतीयों को लेखन-कला फिनीशियनों के भारत में आने के पहले से ही मालूम थी तो इससे मुख्य प्रश्न पर कि वेद लेख-बद्ध कब हुए, कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता। संभव है कि जैसा अभी पूर्व में कह आए हैं, लेखन कला का उपयोग अन्य कार्यों के लिए होते रहने पर भी पुजारी-समुदाय अपनी पवित्र वस्तु वेद को लेख-बद्ध करने के लिए चिरकाल तक इस भय से अनिच्छुक रहा कि लेख-बद्ध हो जाने पर वेदोक्त ज्ञान उनकी ही मंडली के भीतर सीमित न रह सकेगा। इस दशा में वेदों के ग्रंथ रूप की प्राचीनतमता पर और भी सन्देह होने लगता है।

वेद और जेन्दा अवस्ता

वेद ग्रन्थ संसार के सभी ग्रन्थों में प्राचीनतम हैं कि नहीं, इस प्रश्न पर एक दूसरी तरह से भी प्रकाश डाला जा सकता है। यदि वेदों के अध्ययन से हमें उनमें किन्हीं ऐसे व्यक्तियों का उल्लेख मिले जो किसी अन्य ग्रन्थ से सम्बन्ध रखते हैं तो हमें मानना पड़ेगा कि वे व्यक्ति तथा उनसे सम्बन्ध रखने वाला ग्रन्थ वेदों से पहले के हैं; क्योंकि वेदों में उनका जिक्र है, अथवा वेद अधिक से अधिक उनके समकालीन ही हो सकते हैं, न कि

उनसे भी प्राचीन। इस दशा में वेद संसार के प्राचीनतम ग्रंथ नहीं माने जा सकते। अब इस विचार-पद्धति का अनुसरण करते हुए हमलोग देखें कि कौन-सा गुल खिलता है। यह तो निर्विवाद रूप से सभी को मालूम है कि जिस प्रकार भारतीय आर्यों का प्राचीनतम धर्मग्रन्थ ऋग्वेद है उसी प्रकार पारसी जाति का प्राचीनतम धर्मग्रन्थ जेन्दा अवस्ता है जिसमें उसके पैगम्बर जरथुश्त्र के उपदेश लेख-बद्ध कर दिए गए हैं। पारसी जाति अपने परमात्मा को आहुर मज्द कहती है। जिन दिव्य उपदेशों का प्रचार जरथुश्त्र ने किया था उनका स्फुरण आहुर मज्द की ही कृपा से उनके अन्तःकरण में हुआ था। पारसी जाति भी आर्य जाति की एक शाखा थी। ऋग्वेद और जेन्दा अवस्ता के तुलनात्मक अध्ययन से पता चलता है कि दोनों में एक दूसरे के देवताओं, ऋषियों, एवं आचार्यों का उल्लेख हुआ है। पर यह पारस्परिक उल्लेख आदरसूचक नहीं, बल्कि अनादरसूचक शब्दों में किया गया है; कारण कि भारतीय और पारसीक आर्यों में चिर काल तक युद्ध चलता रहा। इसका फल यह हुआ कि 'देव' और 'असुर' शब्द एक दूसरे के साहित्य में ठीक उल्टे अर्थ में प्रयुक्त होने लगे। जैसे पारसी साहित्य में 'देव' का अर्थ राक्षस और 'असुर' का अर्थ देवता हुआ तो वैदिक साहित्य में 'देव' का अर्थ देवता और 'असुर' का अर्थ राक्षस किया जाने लगा। पारसियों के उक्त पैगम्बर जरथुश्त्र को 'जरूथ' नाम देकर उसका उल्लेख ऋग्वेद में कई स्थानों पर किया गया है। पाठकगण ऋग्वेद के निम्नोद्धृत मंत्र पर दृष्टिपात करें —

ऋग्वेद में जरथुश्त्र का उल्लेख

(१) विश्वा अग्नेऽपद हारातीर्येभिस्तपोभिरद हो जरूथम्।
प्रनिस्वरं चातयस्वामीवाम् ॥ ऋ० ७।१।७

अर्थ—हे अग्नि! जिस तेज से तुम कठोर शब्दकर्त्ता जरूथ को जलाते हो, उसी तेज के बल से सारे शत्रुओं को जलाओ और उपताप दूर करके रोग को नष्ट करो।

(२) त्वामग्नेसमिधानो वसिष्ठो जरूथं हन्यक्षियेपुरन्धिम्।
पुरुणीथा जान वेदो जरस्व यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ऋ०।७।६।६॥

अर्थ—हे अग्नि! वशिष्ठ तुम्हें प्रज्वलित करते हैं। तुम कठोर-भाषी राक्षस जरूथ को मारो। हे जात वेद (अग्नि)! अनेक स्तोत्रों से देवों की स्तुति करो। तुम हमें सदा स्वस्ति द्वारा पालन करो।

(३) अग्निर्हत्यं जरतः कर्णभावाग्निरद्भ्यो निरद हज्जरूथमम्।
अग्नि रत्रिंधर्म उरुष्यदन्तरग्निर्नृमेधं प्रजयासृजत्सम् ॥ऋ० १०।८०।३॥

अर्थ—अग्नि ने प्रसिद्ध जरत्कर्ण नामक ऋषि की रक्षा की। अग्नि ने जल से

निकाल कर के जरूथ नामक शत्रु को जलाया। अग्नि ने प्रतप्त कुंड में पतित अत्रि का उद्धार किया। अग्नि ने नृमेध ऋषि को सन्तानवान् किया।

ऋग्वेद में इन तीन स्थलों पर जरूथ का नाम आया है। मालूम होता है कि जरूथ की मृत्यु आग में जलाकर अथवा पूर्वोक्त युद्ध में किसी आग्नेय अस्त्र के द्वारा हुई थी। पारसियों के दीन कर्द, वे हे राम यश्त, दाहेस्तान आदि ग्रन्थों में भी स्पष्टतः लिखा है कि जरथुश्त्र की मृत्यु अग्नि द्वारा हुई। अतः इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि ऋग्वेद का जरूथ पारसियों का पैगम्बर जरथुश्त्र ही है। इन सब प्रमाणों से तो यह सिद्ध होता है कि वेद ग्रन्थों के रूप में, जेन्दा अवस्ता के या तो समकालीन हैं या उसके पीछे के हैं; कारण कि उनमें पारसी धर्म के प्रवर्त्तक जरथुश्त्र का उल्लेख है।

क्या व्यास ने वेदों को लेख-बद्ध किया ?

अब यहाँ पर इस प्रश्न का भी उत्तर मिलना चाहिए कि वेदों को ग्रंथ-रूप कब मिला। हम प्रथम परिच्छेद में कह आए हैं कि वेदों के अन्तिम संस्करण तैयार करने वाले महर्षि वेद व्यास हैं और उसी रूप में हम आज वेदों को देख रहे हैं। अतः यदि हम यह कल्पना करें कि वेदों को सर्व प्रथम लेख-बद्ध करने वाले व्यास ही हैं तो इसमें कुछ भी अनौचित्य नहीं। इस कल्पना की पुष्टि हमें परम्परा की उस जनश्रुति से मिलती है जिसके आधार पर यह कहा जाता है कि जब महर्षि व्यास महाभारत की मौलिक रचना इतना तेज करने लगे कि उनके श्लोकों को उतनी ही तेजी के साथ लिपिबद्ध करने वाला कोई लेखक नहीं मिला तो उन्होंने इस कार्य के लिए गणेश जी को पकड़ा। तेजी में गणेश जी व्यास को भी टप गए। इधर महर्षि के श्रीमुख से कोई भी श्लोक पूरा निकलने भी नहीं पाता कि उधर गणेश जी ने चट उसे लेख-बद्ध कर दिया; मानो गणेश जी उस श्लोक को जानते थे और पहले से ही लिख रखे थे। अतः हमारा अनुमान है कि वेदों को लेख-बद्ध पहले पहल व्यास जी ने ही किया। अन्य विद्वानों को भी इस विषय में खोज करना चाहिए।

कल्यब्द की उत्पत्ति

इस परिच्छेद में एक बात और लिख कर इसका उपसंहार करते हैं। वेद-मंत्रादिक का रचना-काल निकालते समय हमने 'कल्यब्द' का बार-बार उपयोग किया है; अतः पाठकों के मन में एक स्वाभाविक उत्सुकता कल्यब्द की उत्पत्ति जानने की हुई होगी; अतः उनके संतोष के लिए कल्यब्द की उत्पत्ति पर कुछ कह देना आवश्यक हो गया। पूर्व में कह आए हैं कि कुरुक्षेत्र की लड़ाई द्वापर के अन्त और कलि के प्रारम्भ में हुई थी। अतः स्पष्ट है कि उक्त युद्ध और कलि का प्रारम्भ लगभग एक साथ हुआ; और यदि हमें उक्त युद्ध से सम्बन्ध रखने वाली किसी घटना का समय मालूम हो जाए तो हमें कल्यब्द की उत्पत्ति पर पर्याप्त प्रकाश मिल जाय। महाभारत के महारथी भीष्म की मृत्यु-काल से हमें इस विषय में पूरी

सहायता मिलती है। महाभारत के अध्ययन से पता चलता है कि भीष्म की मृत्यु माघ मास, शुक्लपक्ष, रोहिणी नक्षत्र में हुई। इस प्रसंग में मैं अपने पाठकों का ध्यान एक बात की ओर विशेष रूप से आकृष्ट करना चाहता हूँ। प्राचीन भारत में पञ्चांग का विकास आजकल की तरह सूक्ष्म रूप से नहीं हुआ था। वैदिक और न महाभारत काल के हिन्दू केवल १२ चान्द्रमास और १२चान्द्रमासों का १ चान्द्र वर्ष मानते थे। उन्हें सौ वर्ष का मान तो मालूम था; पर मेषादि संक्रांति-जन्य सौर मास तथा उनके मान अविदित थे। उन्हें यह भी मालूम था कि चान्द्र वर्ष सौर वर्ष की अपेक्षा ११ दिन कम होता है; अतः वे ५ वर्षों में २ अधिमास लेकर चान्द्र वर्ष को सौर वर्ष की समता में लाया करते थे। इन २ अधिमासों में पहला तो तीन वर्षों के भीतर, वर्ष के आदि में और दूसरा तीन वर्षों के ऊपर पर पाँच वर्षों के भीतर वर्ष के अन्त में, ले लिया करते थे। उनमें संवत् और तिथियों का प्रचार न था। संवत् का काम अपने राजा के राज्य-काल और तिथियों का काम दैनिक नक्षत्रों से लेते थे, जैसे—अमुक घटना अमुक तिथि को हुई, ऐसा न कह वे अमुक घटना अमुक नक्षत्र में हुई, ऐसा कहा करते थे। इसके अतिरिक्त उन लोगों ने प्रत्येक चान्द्रमास का नाम उसके पूर्णिमा वाले नक्षत्र के अनुसार रख लिया था जो अब तक जारी है; जैसे जिस चान्द्रमास की पूर्णिमा को चित्रा नक्षत्र पड़ता था उस मास को वे चैत्र कहा करते थे। इसी प्रकार विशाखा के आधार पर वैशाख, पुष्य के आधार पर पौष, मघा के आधार पर माघादि मास नाम पड़े थे। यह प्रथा अब तक जारी है।

भीष्म की मृत्यु-तिथि

अब भीष्म की मृत्यु की तिथि निकालिए। पौष की पूर्णिमा को पुष्य नक्षत्र भोग चुका था और पुष्य के बाद २३वाँ नक्षत्र रोहिणी है; अतः मालूम हुआ कि पौष की पूर्णिमा के बाद २३वीं तिथि माघ शुक्ल अष्टमी थी जो भीष्म की मृत्यु-तिथि थी। हमारे पंचांगों में भी उक्त तिथि को ही भीष्माष्टमी लिखा रहता है और उसी तिथि को भीष्म के लिए श्राद्ध-तर्पण आदि किये जाते हैं। अब भचक्र में चन्द्र की स्थिति निकालिए। चन्द्र रोहिणी अर्थात् चौथे नक्षत्र में है और प्रत्येक नक्षत्र में अंशादि १३।२० होते हैं; अतः ४ नक्षत्रों में अंशादि ५३।२० हुए। यही चन्द्र की स्थिति हुई। पुनः सूर्य की स्थिति निकालते हैं। प्रत्येक तिथि में सूर्य चन्द्र से १२ अंश पीछे रहता है; अतः ८ तिथियों में वह चन्द्र से ९६ अंश पीछे रहा। अब चन्द्र की स्थिति अंशादि ५३।२० में से ९६ अंश पीछे हटे तो सूर्य की स्थिति अंशादि ३१७।२० हुई। यह सूर्य की वह स्थिति है जब वह भीष्म की मृत्यु के समय दक्षिणायन से उत्तरायण हो रहा था; अर्थात् वह शीतायनान्त विन्दु (Winter Solstice) पर था। पर आजकल यह विन्दु जैसा कि पूर्व में चक्र द्वारा बतला आए हैं, रा० ८।७।०।० पर है, अर्थात् भचक्र में उसक

वर्त्तमान स्थिति अंशादि २४७ है। शीतायनान्त विन्दु की उक्त दोनों स्थितियों में अंशादि ७०।२० का अन्तर है जो अयन-गति (Equinoctial Precession) के कारण उत्पन्न हुआ है और यह गति ७२ वर्षों में १ अंश की होती है। अब त्रैराशिक किया—१ अंश के लिए ७२ वर्ष तो ७०⅓ अंशों के लिए कितना ? उत्तर आया ५०६४ वर्ष। पर वर्त्तमान (ई० सन् १९४७ में) कल्यब्द केवल ५०४८ है। देखने में तो १६ वर्षों की भूल मालूम होती है; पर वास्तव में यह भूल नहीं है। उत्तर में जो ५०६४ वर्ष आए हैं उनसे केवल यही ज्ञात होता है कि भीष्म को स्वर्ग पधारे आज तक ५०६४ वर्ष बीत गए, न कि यह वर्त्तमान कल्यब्द है। कल्यब्द तो युधिष्ठिर के महाप्रस्थान के दूसरे दिन से प्रारम्भ हुआ था। उन्होंने गुरुवार को महाप्रस्थान किया था और कलि उसके दूसरे दिन अर्थात् शुक्रवार से प्रारम्भ हुआ था, जैसा कि आर्यभट्ट के निम्नलिखित श्लोक से विदित होता है—

काहो मनवोढ मनुयुगश्ख गतास्तेन मनुयुग छनाच ।
कल्पादेर्युगपादा गच गुरु दिवसाच्च भारतात्पूर्वम ।।

आर्यभटीय, पाद १, श्लो० ३

अर्थ—ब्रह्मा के १ दिन अर्थात् १ कल्प में १४ मनु, और १ मन्वन्तर में ७२ चौयुगियाँ होती हैं। पूरे ६ मनु बीत गए, ७ वें मनु (वैवस्वत) की पूरी २७ चौयुगियाँ भी बीत गईं। वर्त्तमान २८वीं चौयुगी के ३ तीन चरण अर्थात् सत्, त्रेता और द्वापर भी बीत गए। इतना समय युधिष्ठिर के महाप्रस्थान तक, जो गुरुवार को हुआ था, बीत गया। कहने का अभिप्राय यह कि गुरुवार को द्वापर समाप्त हुआ और उसके दूसरे दिन अर्थात् शुक्रवार से कलियुग का प्रारम्भ हुआ।

युधिष्ठिर का महाप्रस्थान

पर युधिष्ठिर अभी राज्य करते थे। उन्होंने अभी तक महाप्रस्थान नहीं किया था। अतः गणितागत वर्ष संख्या ५०६४ भीष्म के मृत्यु से सम्बन्ध रखती है, न कि कल्यब्द के प्रारम्भ से। कल्यब्द का प्रारम्भ तो, जैसा कि उक्त गणित-क्रिया से मालूम होता है, १६ वर्षों के पश्चात् हुआ। उक्त गणित-क्रिया महाभारत के निम्नलिखित श्लोकों के आधार पर की गई है—

भीष्म मृत्यु विषयक महाभारत के कुछ श्लोक

माघोऽयंसमनुप्राप्तो मासः सौम्योयुधिष्ठिर।
त्रिभागशेषः पक्षोऽयं शुक्लो भवितुमर्हति ।।
अष्टपंचाशतं रात्र्यः शयानस्याद्य मे गताः ।।

अर्थ—बाणशय्या पर पड़े भीष्म युधिष्ठिर से कहते हैं—हे युधिष्ठिर ! यह माघ

का सुन्दर महीना आ गया। अब यह शुक्ल पक्ष है। इस पक्ष का तीसरा भाग अर्थात् ५ दिन शेष रह गया है। मुझे बाणशय्या पर पड़े आज तक ५८ रात्रियाँ बीत चुकीं।

अब यहाँ यह विचारना है कि यदि भीष्म की मृत्यु माघ सुदी ८ को हुई तो शुक्लपक्ष के शेष दिनों की संख्या ५ नहीं, बल्कि ७ हुई। पर भीष्म के पास कुछ आजकल की सी शुद्धतापूर्वक बनी कोई यंत्री (तिथि पत्र) न थी कि वे ठीक-ठीक बतला सकें कि उक्त शुक्ल-पक्ष के कितने दिन शेष रह गए थे। संभवतः उन्होंने अपनी अटकल से कुछ कह दिया। इसके अतिरिक्त यह भी जान लेना चाहिए कि उस सुदूर पूर्वकाल में अभिजित् लगा कर-कुल २८ नक्षत्र माने जाते थे और प्रतिपूर्णिमा को उससे सम्बद्ध नक्षत्र से नक्षत्रों की गणना प्रतिदिन एक-एक नक्षत्र के हिसाब से चलती थी; जैसे पौष की पूर्णिमा को पुष्य नक्षत्र हुआ तो माघ वदी १ को आश्लेषा, माघवदी २ मघा इत्यादि। यदि इस नक्षत्र गणना के भीतर अभिजित् पड़ा तो उसे भी सम्मिलित कर लिया जाता था। अतः यहाँ भी उसे जोड़ लेना चाहिए; कारण कि अभिजित् उत्तराषाढ़ के बाद ही आता है। इस प्रकार अभिजित को मिला लेने पर माघ सुदी ८ को कृत्तिका और माघ सुदी ९ को रोहिणी पड़ेगी। पर अष्टमी और नवमी में कोई भारी अन्तर नहीं है जिसे मानकर भीष्म की मृत्यु-तिथि ८ के बदले ९ निर्णित की जाय।

अब भीष्म की मृत्यु-तिथि माघ सुदी ८ को ही निश्चित कर देखना चाहिए कि इससे कौन सा परिणाम निकलता है। भीष्मबाण शैया पर ५८ रात्रियाँ पड़े रहे। उक्त तिथि से ५८ रात्रियाँ पीछे हटने पर अगहन सुदी १० आती है जिस दिन वे बाणशय्या पर लिटाये गये। उन्होंने १० दिनों तक युद्ध किया था और कौरवों के प्रथम सेनापति वे ही थे। अतः अगहन सुदी १० से १० दिन पीछे हटने पर अगहन की अमावस्या आती है जिस दिन युद्ध छिड़ा था।

जो लोग कुरुक्षेत्र के युद्ध के प्रारम्भ होने की तिथि कार्तिक की अमावस्या मानते हैं, वे भारी भ्रम में पड़े हैं; कारण कि श्रीकृष्ण तो सुलह की बार्ता लेकर कार्त्तिक सुदी में रेवती नक्षत्र के दिन इन्द्रप्रस्थ से कौरवों से मिलने के लिए प्रस्थान किया था। लिखा है—"कौमुदे मासि रेवत्यां शरदन्ते हिमागमे"। अर्थात् शरद् ऋतु के अन्त हो जाने और हिम ऋतु के आगमन पर कार्त्तिक मास और रेवती नक्षत्र में सुलह का पैगाम लेकर श्रीकृष्ण चले थे। अब देखना यह है कि कार्त्तिक महीने में किस तिथि को रेवती नक्षत्र आता है। आश्विन की पूर्णिमा के दिन अश्विनी थी। अश्विनी के बाद अभिजित् को मिलाकर रेवती तक गिनने से २७ नक्षत्र आते हैं; अतः रेवती नक्षत्र के दिन कार्त्तिक के २७ दिन बीत चुके थे और उस दिन कार्त्तिक सुदी (२७—१५)=१२ थी। अतः युद्धारम्भ इसके १२ दिन पहले ही मान लेना केवल अनर्गल है। एक बात और भी है।

युद्ध समाप्त हो जाने पर बाण-शय्या-गत भीष्म की आज्ञा से युधिष्ठिर हस्तिनापुर चले गए थे और वहाँ उन्होंने ५० रात्रियाँ बिताईं। जब सूर्य उत्तरायण हुए तो वे वहाँ से वापस आकर पुनः भीष्म से मिले! माघ सुदी ८ से ५० रात्रियाँ पीछे हटने पर पौष वदी ३ आती है। यही युद्ध की समाप्ति की तिथि है। इससे १८ दिन पीछे हटने पर अगहन की अमावस्या आती है जिस दिन युद्ध छिड़ा था। इस रीति से भी युद्धारम्भ की तिथि अगहन की अमावस्या ही आती है। बलराम के इस वचन में कि, "पुष्येण संप्रयातोऽस्मि श्रवणे पुनरागतः"; अर्थात् मैं पुष्य नक्षत्र में गया और श्रवण नक्षत्र में लौट आया, कुछ भी सार नहीं है; कारण कि, पुष्य से लेकर श्रवण तक, आभिजित् मिलाकर भी, केवल १६ ही नक्षत्र आते हैं तथा वे दोनों नक्षत्र अगहन की अमावस्या और पौष वदी ३ के नक्षत्रों से एकदम भिन्न हैं।

अथ तृतीय परिच्छेद

वेदों की पाठ-प्रणाली और उनका शाखा भेद

इस परिच्छेद में वेद-पाठ की विविध प्रणालियों तथा वेदों के शाखा भेदों पर विचार किया जायगा। ये दोनों ही विषय अति गहन हैं जो साधारण पाठकों की समझ में सरलता से नहीं आते। सर्वप्रथम पाठकों को यह जान लेना चाहिए कि वैदिक ऋषिगण वेदों को किस असीम श्रद्धा तथा अगाध भक्ति की दृष्टि से देखते थे।

वेदों के प्रति ऋषियों की असीम भक्ति

यह जान लेने पर उन्हें उक्त विषयों का ज्ञान सुगम हो जायगा तथा उनकी उत्पत्ति और प्रचलन का कारण भी मालूम हो जायगा। उक्त ऋषियों की भक्तिमयी दृष्टि में भगवती त्रयी परमात्मारूपी पर्वतराज हिमालय से निकली हुई पुण्य शब्द सलिला एवं तापत्रय निवारिणी भगवती जाह्नवी हैं; अथवा अपनी छन्द-ध्वनि-द्वारा कलकल निनादिनी एवं कलिकल्मषौघ विमर्दिनी कलिन्द-कन्या हैं; अथवा ब्रह्मानन्द निमग्न एवं समाधिगत ऋषि कुँजरों के उर्वर मस्तिष्क से प्रकटीभूत श्रुतिमाधुर्य सौरभ विशिष्ट अलौकिक दानधारा हैं; अथवा परब्रह्म-रूपी प्रियपूर्ण चन्द्र के साक्षात्कार से हर्षोन्मत्त ऋषि चक्रवाकों का आदि कलरव हैं; अथवा भवानल के दारुण सन्ताप से दग्ध-हृदय मानव प्राणियों के कल्याणार्थ पीयूष-वर्षी विधु-बिम्ब हैं; अथवा नैराश्य-महोदधि में डूबते-उतराते हुए असहाय जीवों के परित्राणार्थ सुदृढ़ जलपोत हैं; अथवा अविद्या-रूपिणी अन्धकार-रजनी में मार्ग-च्युत होकर इतस्ततः भटकते हुए प्राणियों की पथ-प्रदर्शिका एक सतत-प्रकाशा विद्युद्वर्तिका हैं; अथवा संसार के जटिल तथा दुश्छेद्य मोह-पाश में फँसे हुए मुमुक्षुओं के लिए तदुद्धरण-क्षम तीक्ष्ण-धार कृपाण हैं; अथवा ऋषि भक्तों के विमल हृदय-ह्रद में सतत विहरणशीला मनोहर राजहंसी हैं; अथवा कामादि सर्पों से संदष्ट अतः उनके घातक विष से मूर्च्छित जीवों में प्राणों का पुनः संचार कराने वाले भगवान् शङ्कर के सावर मंत्र हैं; अथवा म्लान-मनस्क पापियों के निःशेष पापों को श्रवण-मात्र से दूर भगा कर उनके हृदय में आनन्द के तरंग उत्पन्न करने वाली भगवती वाग्देवी की मधुर वीणा का प्रथम झंकार हैं। ऋषियों की दृष्टि में भगवती त्रयी क्या नहीं हैं? वे सब कुछ हैं। उनके विषय में उक्त सभी विकल्प उचित और सार्थक हैं।।

वेद मंत्रों की रक्षा में ऋषियों का विलक्षण प्रयास

जब वैदिक ऋषियों की वेदों के प्रति इतनी प्रगाढ़ श्रद्धा थी तो वे उनके प्रत्येक मंत्र

को, नहीं-नहीं, उन मंत्रों के प्रत्येक अक्षर तथा स्वर को कराल काल के प्रबल प्रहारों से अक्षुण्ण-रूप में सुरक्षित रखने तथा उनमें क्षेपकों का प्रवेश सदा के लिए असंभव कर देने के लिए चाहे जो उपाय न सोच-निकालें सो सब थोड़ा ही है। उनका अटल विश्वास था कि वेद मंत्रों के उच्चारण में जहाँ स्वरों की कुछ भी विकृति हुई वा अक्षरों की कुछ भी कमी-बेशी हुई तो वे इष्ट फल के बदले अनिष्ट फल देने लगेंगे। इसका उदाहरण है—'यथेन्द्र शत्रुः स्वरतोऽपराधात्'; अर्थात् स्वर के कसूर के कारण इन्द्र का मारने वाला पैदा न होकर एक ऐसा व्यक्ति (वृत्रसुर) पैदा हुआ जिसका ही मारने वाला इन्द्र हुआ।

वेदों की मौखिक शिक्षा के दो कारण

द्वितीय परिच्छेद में कह आए हैं कि गुरुकुलों में वेदों का पठन-पाठन केवल मौखिक ही हुआ करता था और यही प्रणाली कई सहस्राब्दियों तक चालू रही। इसके दो कारण थे—(१) ऋषियों को भय था कि लेख-बद्ध हो जाने पर वेदों का रहस्य उनकी मंडली की चारदीवारी के भीतर सीमित न रह सकेगा; बल्कि वह उक्त चारदिवारी को नाँघ कर अनाड़ियों के हाथ पड़ जायगा जो उसका असदुपयोग करने लगेंगे और (२) स्वरों का उच्चारण जिस स्पष्टता के साथ मौखिक पठन-पाठन में किया जा सकेगा उस स्पष्टता के साथ उन्हें संकेतों द्वारा लेख-बद्ध कर देने पर नहीं, और उन्हें लेख-बद्ध कर देने पर भी, उन्हें सीखने के लिए गुरु द्वारा मौखिक शिक्षा की जरूरत रह ही जायगी; अतः लेख-बद्ध करने से विशेष लाभ नहीं। इन्हीं सब उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिए वैदिक ऋषियों ने संहिताओं को पढ़ने के लिए जो तरीके वा प्रणालियाँ निकाली थीं उनके दो भेद थे—(१) निर्भुज-संहिता और (२) प्रतृण-संहिता जिनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है—

वेद-पाठ की विविध प्रणालियाँ

(१) जहाँ मूल का अविकल पाठ होता है वह निर्भुज-संहिता है; जैसे, 'अग्निमीले पुरोहितम्', इस मंत्र का ज्यों का त्यों पढ़ना अर्थात् 'अग्निमीलेपुरोहितं' पढ़ना निर्भुज-संहिता है। इसके पाठ में किसी प्रकार का विकार नहीं होता; परन्तु

(२) जहाँ मूल विकृत-रूप से पढ़ा जाता है, वह प्रतृण-संहिता है। इसके पद-संहिता क्रम-संहिता आदि कई भेद हैं—

(क) जहाँ सन्धि और विराम आदि का विचार किया जाता है, वहाँ पद-संहिता, होती है; जैसे उक्त मंत्र को इस तरह पढ़ना पद-संहिता है—अग्निम्, ईले, पुरः, हितम्, यज्ञस्य, देवम्, ऋत्विजम्; परन्तु

(ख) क्रम-संहिता का पाठ जरा विचित्र है। इसमें शब्दों के क्रम में विकार हो जाता है; जैसे—'अग्निं ईले, इलेपुरोहितं, पुरोहितं यज्ञस्य देवं, देवं ऋत्विजम्'।

(ग) जटा पाठ और भी विचित्र है ;—'अग्निं ईले, ईले अग्निं, अग्निं ईले, ईले पुरोहितं, पुरोहितं ईले, ईले पुरोहितं, पुरोहितं यज्ञस्य, यज्ञस्य पुरोहितं, पुरोहितं यज्ञस्य, यज्ञस्य देवं, देवं यज्ञस्य, यज्ञस्य देवं, देवं ऋत्विजं, ऋत्विजं देवं, देवं ऋत्विजं'

(घ) घन पाठ तो और भी विचित्र है ; जैसे उक्त मंत्र का घटा पाठ यों होगा—"अग्निं ईले, ईले अग्निं, अग्निं ईले, पुरोहितं पुरोहितं ईले, अग्निं अग्निं ईले, पुरोहितं ईले पुरोहितं, पुरोहितं ईले ईले, पुरोहितं यज्ञस्य यज्ञस्य, पुरोहितं ईले ईले, पुरोहितं यज्ञस्य पुरोहितं, यज्ञस्य यज्ञस्य पुरोहितं, पुरोहितं यज्ञस्य देवं, देवं यज्ञस्य पुरोहितं, पुरोहितं यज्ञस्य देवं, यज्ञस्य देवं देवं, यज्ञस्य यज्ञस्य देवं, ऋत्विजं ऋत्विजं देवं, यज्ञस्य यज्ञस्य देवं ऋत्विजम्' ।

मंत्र के शब्दों का आम्रेडन (Repetition) इसलिए करते हैं कि उसका मूलपाठ सदा शुद्ध रहे ; कहीं से भी कोई प्रक्षिप्त शब्द वा अक्षर उसमें घुसने न पावे । पाठक्रम और भी कई प्रकार के होते हैं ; जैसे माला, शिखा, लेखा, ध्वज, दण्ड और रथ जिनका विवरण विस्तार-भय से नहीं दिया गया । अवश्य ही इन पाठों को देखकर वेद कालीन ऋषियों का दुर्द्धर्ष श्रम और अदम्य धैर्य पर हमें विस्मित होना पड़ता है; पर दुःख के साथ यह भी कहना पड़ता है कि समय, शक्ति, परिश्रम और धैर्य का इससे बढ़कर व्यर्थ उपयोग और नहीं हो सकता । मालूम होता है कि इन ऋषियों को वेदमंत्रों को उलट-पलट कर तोते की तरह बराबर रटते रहने के सिवा दुनिया में और कुछ काम नहीं था । इन्द्र, वरुण, अश्विद्वय, अग्नि, सोम, मरुद्गण, उषा, विष्णु, सरस्वती आदि अनेक कपोल-कल्पित देवताओं के अस्तित्त्व में विश्वास कर उनकी प्रसन्नता के लिए मंत्रों की रचना करना; पुनः उन मंत्रों को कष्ट-साध्य विविध पाठ-प्रणालियों के द्वारा बारबार रट कर याद रखने में अपने अमूल्य समय और शक्ति को प्रचुर मात्रा में नष्ट करना और उन कल्पित देवताओं से धनधान्य, पुत्रादि विषयक अपनी कामनाओं की पूर्त्ति, आत्मोदय और शत्रु-संहार की आशा रखना एवं अपने मनोरथ की सफलता के लिए नाना आडंबरों से युक्त विविध यज्ञादिकों का करना मानो उनके समस्त जीवन का एकमात्र लक्ष्य बन गया था । पर अंत में उपनिषत्काल तक पहुँचते-पहुँचते इन वैदिक ऋषियों के वंशधर उक्त पाठ-प्रणालियों और ब्राह्मण-ग्रंथ-प्रतिपादित यज्ञ सम्बन्धी आडम्बरों से ऊब गए और वेद-प्रतिपादित बहुदेववाद को तिलांजलि देकर ब्रह्मवाद नामक एकेश्वरवाद का प्रतिपादन करने लगे । यहीं तक नहीं; बल्कि अग्नि आदि शब्दों का भी अर्थ ब्रह्म-परक वा ईश्वर-परक करने लगे । इसका फल यह हुआ कि पुरोहित-समुदाय वेदों के सयत्न पठन-पाठन के प्रति धीरे-धीरे उदासीन होने लगा और अब नौबत यहाँ तक पहुँच गई है कि वैदिक-ज्ञान मानो पुरातत्व

विभाग (Archæological Department) की खोज का विषय हो गया है। आप किसी भी संस्कृत पाठशाला के छात्रों की नामावली उठा कर देखें, उनमें आप व्याकरण और साहित्य के छात्रों की भरमार, पर अन्य विषयों के छात्रों को बहुत ही कम पाएँगे और वेदों के विषय में कुछ न पूछिए; उनके छात्रों का तो प्रायः अभाव सा ही रहता है। अतः साधारण जनता को कौन कहे, संस्कृत के बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान् भी, जिन्होंने व्याकरणादि शास्त्रों के अध्ययन में अपने जीवन के अधिकांश तथा अमूल्य भाग को बिता दिया है, वेदों के आवश्यक परिचय से भी वंचित रहते हैं।

वेदों की शाखाएँ क्या हैं ?

अब वेदों की शाखाएँ क्या हैं, इस पर विचार किया जाता है। वेदों के संबंध में शाखा शब्द का वह अर्थ नहीं है जो अर्थ उसका हम लोग वृक्षों या नदियों के संबन्ध में किया करते तथा समझा करते हैं। अमुक वृक्ष की इतनी शाखाएँ हैं, ऐसा कहने से हम लोग उस वृक्ष के काण्ड (धड़) से अलग-अलग निकली हुई डालों की संख्या तथा काण्ड और कुल डालों मिला कर एक वृक्ष समझते हैं। नदियों के सम्बन्ध में भी शाखा शब्द इसी अर्थ का द्योतक है; जैसे यदि कोई कहे की गंगा नदी की इतनी शाखाएँ हैं तो चट हम लोग यह समझ जाते हैं कि गंगा नदी की इतनी धाराएँ हैं तथा उसकी मूल धारा और सब उपधाराओं को मिलाकर गंगा नदी कही जाती है। पर सो अर्थ शाखा शब्द का वेदों के संबन्ध में नहीं समझा जाता। तब प्रश्न उठता है कि क्या वेदों के संबन्ध में शाखा शब्द का अर्थ अध्याय, काण्ड, परिच्छेद आदि हैं ? उत्तर मिलता है—'सो भी नहीं।' ऋग्वेद की २१ शाखाएँ हैं, इस कथन का यह अर्थ कदापि नहीं है कि जिस प्रकार सात काण्डों को मिलाकर एक रामायण या आठ अध्यायों को मिला कर एक अष्टाध्यायी होती है, उसी प्रकार २१ शाखाओं को मिलाकर एक ऋग्वेद होता है; बल्कि इसका यह अर्थ है कि उक्त वेद की प्रत्येक शाखा एक-एक पूरा ऋग्वेद है। अतः पुनः प्रश्न होता है—'तब वेदों की शाखाओं का क्या अर्थ है ?' इसका समुचित उत्तर सत्यव्रत सामश्रमी 'ऐतरेयालोचन' में देते हैं—'तत्त्वतः नहि वेद शाखा वृक्ष शाखेव नापि नदी शाखेव, प्रत्युता ध्येतृभेदात् सम्प्रदायभेदजन्याध्ययन विशेषरूपैव'; अर्थात् वेद की शाखाएँ न तो वृक्षों की शाखाओं की तरह हैं, न तो नदी की शाखाओं की तरह हैं; प्रत्युत पठन-पाठन-भेद से सम्प्रदायजन्य अध्ययन विशेष के ही रूप हैं। इस निष्पत्ति से जाना गया कि वेद की शाखाएँ वेद के अंश या भाग नहीं हैं; बल्कि पठन-पाठन के भिन्न-भिन्न प्रकार हैं। ऋग्वेद का ही उदाहरण लीजिए। कोई इसे मंडलों, अनुवाकों और सूक्तों में विभक्त कर पढ़ते हैं, तो कोई इसे अष्टकों, अध्यायों और वर्गों में विभक्त कर पढ़ते हैं। पहली शैली को शाकल और दूसरी शैली को वष्कल शाखा कहते हैं। आजकल ये दोनों शाखाएँ एक

साथ ही मिली हुई मिलती हैं। वेदाध्ययन की इन विविध शैलियों की उत्पत्ति क्यों कर हुई, अब इस पर विचार करते हैं। प्रथम परिच्छेद में कह आए हैं कि आज हम वेदों को जिस सुसंस्कृत और परिमार्जित रूप में देखते हैं वे महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यास के प्रयास के फल हैं। उन्होंने संहिताओं का मानो अन्तिम संस्करण इस प्रकार तैयार कर उनमें से प्रत्येक को अपने एक-एक शिष्य को पढ़ाया। श्रीमद्भागवत, स्कन्ध १, अध्याय ४ में लिखा है—

> तत्रृग्वेदधरः पैलः सामगो जैमिनिः कविः।
> वैशम्पायन एवैको निष्णातो यजुषामुन ॥ २१ ॥
> अथर्वाङ्गिर सामास्येत् सुमन्तुर्दारुणो मुनिः ॥
> इतिहास—पुराणानां पिता मे रोमहर्षणः ॥ २२ ॥

अर्थ—पैल मुनि ऋक् संहिता के, कवि जैमिनि सामवेद के, वैशम्पायन यजुः संहिता के, दारुण सुमन्तु मुनि अथर्ववेद के, और मेरे पिता रोमहर्षण इतिहास-पुराणों के ज्ञाता हुए।

वेद व्यास के पैल आदि शिष्य ?

उक्त चारों मुनियों ने अपनी-अपनी संहिताओं का खूब अध्ययन किया और वे उनमें पारगत हो गए। तब उन्होंने अपने शिष्यों को ये संहिताएँ पढ़ाईं। ऋषियों की शिष्य-परम्परा ने खूब वृद्धि की। इन सब शिष्यों के नाम श्रीमद्भागवत, स्कन्ध १२, अध्याय ६ में विस्तार के साथ दिया गया है। इस अध्याय के श्लोक ५० से लेकर उसके अन्त तक पढ़ जाइए। यहाँ अनावश्यक समझ कर वे नाम नहीं दिए गए। शिष्यों ने अपने-अपने शिष्य तैयार किये। इस प्रकार महर्षि वेदव्यास की शिष्य-परम्परा की खूब वृद्धि हो जाने के कारण काल पाकर वेदों की अनेक शाखाएँ हो गईं। यदि ये सब शाखाएँ इस समय उपलब्ध होतीं तो हम इनकी पृथक्-पृथक् विशेषताओं का सूक्ष्म परिचय कराते। परन्तु आजकल कितनी शाखाएँ नष्ट हो गई हैं; अतः वे मिलती नहीं हैं जिससे इनकी विशेषताओं का ज्ञान होना असंभव हो गया है। पहले यह शाखा-विभाग संख्या में थोड़ा ही होगा; परन्तु ज्यों-ज्यों अध्ययन-अध्यापन बढ़ता गया त्यों-त्यों शाखाओं की संख्या में वृद्धि होती गई।

शाखा-भेद के मुख्य आधार

अब यहाँ पर हम अपने पाठकों को यह बतलाना चाहते हैं कि वेद-शाखाओं में जो परस्पर भेद होते हैं उनके मुख्य आधार क्या हैं। भिन्न-भिन्न शाखाओं के अध्ययन से पता चलता है कि शाखा-भेद के मुख्य आधार ये हैं—

(क) संहिताओं को अपनी-अपनी सुविधानुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के खंडों में बाँटना; जैसे

ऋग्वेद संहिता को किसी ने मंडलों, अनुवाकों और सूक्तों में बाँटा तो किसी ने उसे अष्टकों, अध्यायों और वर्गों में बाँटा। पहली बाँट से शाकल और दूसरी बाँट से वाष्कल शाखा की उत्पत्ति हुई।

(ख) वेद मंत्रों के उच्चारण में भेद होना। उदाहरण के लिए प्रसिद्ध पुरुष-सूक्त का प्रथम मंत्र 'सहस्रशीर्षाः पुरुषः' इत्यादि को लीजिए। जहाँ आश्वलायन शाखा वाले गम्भीर ध्वनि से इसे 'ज्यों का त्यों; अर्थात् 'सहस्रशीर्षाः पुरुषः' उच्चारण करेंगे, वहाँ माध्यन्दिनी शाखा वाले इसे 'सहस्र शीरखा पुरुखः' उच्चारण करेंगे। ये लोग मूर्द्धन्य 'ष' की जगह कंठ्य 'ख' का उच्चारण करते हैं।

(ग) कहीं-कहीं किन्हीं मंत्रों को संहिता में ग्रहण करने के विषय में मतभेद का होना; अर्थात् किन्हीं मंत्रों को कोई शाखा ग्रहण करती, तो कोई उन्हें ग्रहण नहीं करती।

वेदों की शाखाएँ वस्तुतः क्या वस्तु हैं ?

अब पाठकों को भली-भाँति मालूम हो गया होगा कि वेदों की शाखा कहने से किस वस्तु का बोध होता है। सुप्रसिद्ध महाराष्ट्रीय विद्वान् आप्टे जी ने अपने संस्कृत-अँगरेजी कोष में शाखा शब्द का अर्थ (The treditional text or recension of a Veda) किया है; अर्थात् किसी वेद का परम्परागत वह पाठ-विशेष (संशोधित पाठ) जिसे वेदज्ञ ब्राह्मणों के किसी सम्प्रदाय विशेष ने अपना लिया है। आप्टे जी के किये हुए उक्त अर्थ से भी यही ध्वनि निकलती है कि पाठ (परम्परागत) में कुछ भिन्नता रखते हुए भी प्रत्येक शाखा पूरा-पूरा एक वेद ही है; न कि रामायण के काण्ड वा महाभारत के पर्व की तरह उसका कोई खंड। हम रामायण को सात काण्डों का समुदाय तथा महाभारत को १८ पर्वों का समुदाय कह सकते हैं, पर ऋग्वेद को २१ शाखाओं का समुदाय नहीं कह सकते। हम रामायण के ७ काण्डों को उसके ७ अवयव कह सकते हैं। पर ऋग्वेद की २१ शाखाओं को उसके २१ अवयव नहीं कह सकते। हम रामायण को सात काण्डों में विभक्त कह सकते हैं; पर ऋग्वेद को २१ शाखाओं में विभक्त नहीं कह सकते। हम ऋग्वेद की प्रत्येक शाखा को पूरा ऋग्वेद कह सकते हैं; पर रामायण के प्रत्येक काण्ड को पूरी रामायण नहीं कह सकते। रामायण के सातों काण्ड परस्पर सापेक्ष और अनुबद्ध हैं; पर ऋग्वेद की २१ शाखाएँ परस्पर सापेक्ष और अनुबद्ध न होकर पूर्णतः एक दूसरी से स्वतन्त्र हैं।

'शाखा' शब्द के अर्थ का प्रकारान्तर से स्पष्टीकरण

शाखा शब्द के उक्त अर्थ का स्पष्टीकरण हम दूसरी तरह से भी कर सकते हैं। मीमांसा शास्त्र के प्रवर्त्तक महर्षि जैमिनि ने, 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस वैदिक आदेश का अर्थ करते हुए, लिखा है कि अपनी परम्परागत किसी एक भी शाखा का अध्ययन करना चाहिए। यदि २१ शाखाओं को मिलाकर एक ऋग्वेद माना जाय और एक हजार शाखाओं के

समुदाय को सामवेद माना जाय तो एक मनुष्य अपने एक जीवन में एक वेद का भी अध्ययन न कर सकेगा। मनु की भी यही सम्मति है—

वेदानधित्य वेदौवा वेदवापि यथा क्रमम्।
अविलुप्त ब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रम माविशेत्॥

अर्थ—द्विजमात्र ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए तीनों वेदों को, वा दो वेदों को वा एक ही वेद को पढ़कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे।

ब्रह्मचर्य का काल आठ, बारह, चौबीस अथवा अड़तालीस वर्ष बतलाया गया है। इतने ही समय में क्या, सौ वर्षों में भी समस्त शाखाओं के सहित वेदों का अध्ययन कठिन ही नहीं, प्रत्युत असम्भव है। अतः एक ही शाखा का अर्थ एक वेद है। जिसकी जो शाखा हो वही उस का वेद है। यही शास्त्रीय सिद्धान्त है।

शाखाओं की उत्पत्ति कैसे हुई

अब यहाँ हम अपने पाठकों को यह बतला देना चाहते हैं कि वेदों की इन भिन्न-भिन्न शाखाओं की उत्पत्ति क्योंकर और कैसे हो गई। हम पहले इसी परिच्छेद में वेद-पाठ की विविध प्रणालियों पर विचार कर चुके हैं। इन प्रणालियों में से भिन्न-भिन्न ऋषियों की शिष्य-परम्परा ने भिन्न-भिन्न प्रणालियों को अपनाया; अर्थात् किसी ने निर्भुज प्रणाली को अपनाया तो किसी ने प्रतीर्ण के किसी उपभेद को। इसका फल यह हुआ कि काल भेद, देश भेद, व्यक्ति भेद और उच्चारण भेद से वेद-पाठ में बहुत से भेद हो गए। आचार्यों के प्रकृति-वैषम्य के कारण तथा अनुष्ठान भेद और प्रयोग भेद के कारण भी बहुत से भेद हो गए हैं। इसी क्रम से प्रत्येक संहिता अनेक शाखाओं में विभक्त हो गई।

किस वेद की कितनी शाखाएँ हैं?

किस वेद की कितनी शाखाएँ थीं, इसे ठीक तरह से बताना कठिन है; कारण कि वेदों की कितनी ही शाखाएँ लुप्त हो गई हैं। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में ऋग्वेद की २१ शाखाओं का, यजुर्वेद की १०० शाखाओं का, सामवेद की १००० शाखाओं का तथा अथर्ववेद की ६ शाखाओं का उल्लेख शब्द-प्रयोग का विस्तार दिखाने के लिए किया है—

पतञ्जलि का मत

"उपलब्धौ यत्नः क्रियातम्। महान् शब्दस्य प्रयोग विषयः। सप्तद्वीपा वसुमती, त्रयोलोकाः, चत्वारो वेदा सांगाः सरहस्यावहुधा भिन्नाः, एकशतमध्वर्युशाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदाः, एक विंशतिधा वाह्वृच्यं, नवधार्थवर्णो वेदाः।"

अर्थ—शब्दों का प्रयोग पाने (जानने) के लिए यत्न कीजिए। शब्दों का प्रयोग-विषय बहुत बड़ा (सुविस्तृत) है। पृथ्वी में सात द्वीप हैं। तीन लोक हैं। चारों वेद अंगों

(वेदांगों) और रहस्यों (गूढ़ तत्वों जैसे उपनिषद आदि) को लेकर बहुत प्रकार से भिन्न हो गए हैं। यजुर्वेद की १००, सामवेद की १०००, ऋग्वेद की २१ तथा अथर्ववेद की ६ शाखाएँ हैं। पतञ्जलि के कथन का अभिप्राय यह है कि आप किसी भी शब्द को अप्रयुक्त नहीं कह सकते; खोज करने पर आपको उस शब्द का प्रयोग कहीं न कहीं मिल जायगा।

महामुनि शौनक कथित "चरण-व्यूह" नामक परिशिष्ट-ग्रंथ में ऋग्वेद की ५, यजुर्वेद की ८६, सामवेद की १००० तथा अथर्ववेद की ६ शाखाओं का उल्लेख है। मुक्तिकोपनिषद् में ऋक् की २१, यजुः की १०६, साम की १००० और अथर्ववेद की ५० शाखाएँ कही गई हैं।

इस प्रकार कुल मिलाकर पतञ्जलि के मत से ११३० और शौनक के मत से ११०० वेद शाखाएँ हैं। मुक्तिकोपनिषद् के अनुसार वेद-शाखाएँ १०८० हैं!

पूर्वोक्त वर्णन से पाठक समझ सकते हैं कि वेदों का विस्तार कितना था, इनका अध्ययन और अध्यापन कितना होता था तथा इनके पढ़ने और पढ़ाने वालों की संख्या कितनी बढ़ी-चढ़ी थी। परन्तु आजकल इन वेदों की उपलब्ध शाखाओं पर दृष्टिपात करने से हमें वर्त्तमान काल में वेदों के पठन-पाठन में भीषण ह्रास का पता मिलता है जिसका कारण हम पूर्व में कह आए हैं। अतः पाठकों से निवेदन है कि वे नीचे लिखे हुए केवल उपलब्ध शाखाओं के दिग्दर्शन मात्र से सन्तोष कर लें।

ऋग्वेद की शाखाएँ

हम पूर्व में कह आए हैं कि पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में ऋग्वेद की २१ शाखाओं का और शौनक ने चरणव्यूह में केवल ५ शाखाओं का उल्लेख किया है। पतञ्जलि ने किसी शाखा का नाम नहीं बताया है; पर शौनक ने स्वोल्लिखित ५ शाखाओं के नाम भी बता दिये हैं; यथा—(१) शाकल, (२) बाष्कल, (३) आश्वलायन, (४) शांखायन और (५) माण्डूकायन। एक प्राचीन श्लोक में, इन पाँचों के नाम, कुछ भिन्न प्रकार से मिलते हैं—

शिशिरो बाष्कलः सांख्यो वात्स्यश्चैवाश्वलायनः।
पंचैते शाकलाः शिष्याः शाखा भेद प्रवर्त्तकाः॥

अर्थ—शिशिर, बाष्कल, सांख्य, वात्स्य और आश्वलायन, ये पाँच मुनि शाखा-भेद के प्रवर्त्तक और शाकल मुनि के शिष्य हैं।

इस श्लोक में शाकल की जगह शिशिर और माण्डूकायन की जगह वात्स्य लिखा है। चाहे जो हो, ऋग्वेद की २१ शाखाओं में केवल बास्कल और शाकल ये दो ही शाखाएँ इस समय मिलती हैं। अनुवाकानुक्रमणी के अनुसार शाकल और बास्कल में केवल ८

सूक्तों का अन्तर है। वास्कल में भेद सूक्त अधिक हैं। शाकल संहिता में ऋचाओं का विभाग मंडलों, अनुवाकों और सूक्तों में, पर वास्कल संहिता में अष्टकों अध्यायों और वर्गों में किया गया है। परन्तु आजकल ये दोनों ही शाखाएँ सम्मिलित कर दी गई हैं। शाकल संहिता में १० मंडल, ८५ अनुवाक् और १०२८ सूक्त हैं तथा वाष्कल संहिता में ८ अष्टक, ६४ अध्याय और २०२४ वर्ग हैं। समूचे ऋग्वेद में १०५८६ मंत्र १५३८२६ शब्द और ४३२००० अक्षर हैं।

यजुर्वेद की शाखाएँ

यजुर्वेद के दो विभाग हैं—शुक्ल और कृष्ण। दोनों ही प्रकार के यजुर्वेदों की शाखाएँ कुल मिलाकर १०० वा किसी-किसी के मत से १०१ हैं। परन्तु वे सब लुप्त हैं। इस समय केवल ५ या ६ शाखाएँ उपलब्ध हैं जिनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है—

शुक्ल यजुर्वेद की शाखाएँ

शुक्ल यजुर्वेद की दो शाखाएँ मिलती हैं—१ माध्यन्दिनी और २ काण्व।

माध्यन्दिनी शाखा

शुक्ल यजुर्वेद की यही सबसे प्रधान शाखा है। इसके अनुयायिओं की संख्या भी खूब है। उत्तरी भारत के ब्राह्मण प्रायः इसी शाखा के मानने वाले हैं। प्रान्त का प्रान्त इसी शाखावालों का देख पड़ता है। मिथिला में माध्यन्दिनों की ही प्रधानता है। दक्षिणाल्यों में भी यह शाखा है। काशी के बहुत से महाराष्ट्रीय ब्राह्मण इसी शाखा के मानने वाले हैं। इस प्रकार उत्तर भारत तथा दक्षिण भारत के कतिपय भागों में यही शाखा मिलती है इस शाखा का उच्चारण तो प्रसिद्ध ही है। ये लोग जैसा कि हम पहले कह आए हैं, मूर्द्धन्य 'ष' की जगह 'ख' उच्चारण करते हैं। इस शाखा के सम्पूर्ण ग्रन्थ मिलते हैं। वे ये हैं—वाजसनेयी संहिता (जो शुक्ल यजुर्वेद का दूसरा नाम है), शतपथ ब्राह्मण, बृहदारण्यक उपनिषद्, कात्यायन श्रौतसूत्र और पारस्कर गृह सूत्र।

काण्व शाखा

इस शाखा का प्रचार आजकल बहुत ही कम है। काशी जैसे स्थान में काण्व वाले ब्राह्मणों के पन्द्रह-बीस से अधिक कुल नहीं हैं। ये सब के सब दाक्षिणात्य ब्राह्मण हैं। काण्व शाखा के वे ही सब ग्रन्थ हैं, जो माध्यन्दिनी के; परन्तु कहीं-कहीं पार्थक्य भी मिलेगा। इस शाखा के भी ब्राह्मण ग्रन्थ का नाम शतपथ ही है। पर माध्यन्दिनों से कई अंशों में भिन्न है। माध्यन्दिनी शाखा के शतपथ में नौ काण्डों तक संहिता के अनुसार ही ब्राह्मण का भी क्रम, केवल पितृपिण्ड यज्ञ को छोड़कर, दिया गया है; क्योंकि संहिता में इस यज्ञ के मंत्र दर्श-पौर्णमास के अनन्तर कहे गए हैं; पर ब्राह्मण में ये मंत्र आधान के बाद आए

हैं। और काण्व संहिता में पहले दर्श पौर्णमास-सम्बन्धी मंत्र पढ़े गए हैं और ब्राह्मण का प्रारम्भ आधान से होता है। दोनों शतपथों में इतना ही भेद है।

यजुर्वेद के शुक्ल और कृष्ण ये दो विभाग कैसे हुए?

यजुर्वेद के शुक्ल और कृष्ण जो ये दो विभाग कहे गए हैं उनकी उत्पत्ति कैसे हुई, यह पाठकगण जानना चाहते होंगे; अतः उन्हें इस रहस्य को भी बतला देना परमावश्यक है। कृष्ण यजुर्वेद को तैत्तिरीय-संहिता भी कहते हैं। विष्णु पुराण का मत है कि यजुर्वेद के प्रथम प्रवर्त्तक वैशम्पायन मुनि ने अपने शिष्य याज्ञवल्क्य से क्रुद्ध होकर उनसे कहा—"मैंने जो वेद तुझे पढ़ाया है, उसे लौटा दे।" योगी याज्ञवल्क्य ने विद्या को मूर्तिमती बनाकर उसे वमन कर दिया। तब गुरु की आज्ञा से अन्य शिष्यों ने उस वमन की हुई विद्या को तित्तिर होकर चुगलिया; इसी से उसका नाम तैत्तिरीय संहिता पड़ा। किन्तु पाणिनि का मत है कि तित्तिरी ऋषि के नाम पर इस 'तैत्तिरीय' शब्द की उत्पत्ति हुई है। आत्रेय शाखा की अनुक्रमणिका में भी यही बात है। मैकडोनाल्ड साहब की लिखी हुई पुस्तक The Brahmanas of the Vedas, Second Edition, 1901, पृष्ट ३१ में इस सम्बन्ध में वेबर (Weber) साहब का मत इस प्रकार लिखा है—

वेबर साहब का मत

"Weber thinks the legend originated in the nature of the Black Yajus, which is a motley undigested jumble of different pieces, represented in the story by the variegated appearance of the patridge"·········the White (Shukla or Suddha) is on the other hand so called either because the Mantras and Brahmanas are so clearly distinguished from one another, or because the Mantras had been cleared and separated from the Brahmanas, and thus the whole made more lucid and intelligible, as contrasted with Black (Krishna) in which the Verses and Brahmanas are mixed together and consequently less intelligible.

अर्थ—वेबर साहब का मत है कि तित्तिर वाली कहानी की उत्पत्ति कृष्ण यजुर्वेद की बनावट से ही हुई है, जो विविध टुकड़ों की केवल एक खिचड़ी है जिसमें न कोई क्रम है, न कोई नियम; अतः जो तित्तिर पक्षी के आकार के सदृश है जिस में रंग-बिरंग के अनेक धब्बों की एक क्रम-शून्य मिलावट देख पड़ती है। इसके विपरीत शुक्ल अर्थात् शुद्ध यजुर्वेद का यह नाम इस कारण पड़ा है कि या तो उसके मंत्र और ब्राह्मण एक दूसरे

से साफ-साफ अलग कर दिये गये हैं, अथवा नहीं तो उनके मंत्रों को ब्राह्मणों से पृथक कर समूचे विषय को बहुत ही साफ और सुबोध कर दिया गया है। इसके मुकाबले में कृष्ण यजुर्वेद के मंत्र और ब्राह्मण इस प्रकार एक में एक मिले हुए हैं कि वे उतना सुबोध नहीं हैं।

कृष्ण यजुर्वेद की शाखाएँ

कृष्ण यजुर्वेद की केवल तीन शाखाएँ ही आज कल मिलती हैं—१. कठशाखा, २. मैत्रायणी शाखा और ३. तैत्तिरीय शाखा। कोई-कोई एक चौथी शाखा भी मानते हैं जिसका नाम कठ-कपिष्ठल शाखा है।

कठ शाखा

प्राचीन काल में इसका बड़ा प्रचार था। पतंजलि ने महाभाष्य में इसका नामोल्लेख किया है; यथा—"अध्यगात् कठ कालापम्"। परन्तु आजकल इस शाखा के अनुयायी ब्राह्मण अभी तक सुनने में नहीं आये। इस शाखा से सम्बन्ध रखने वाले ग्रंथ मिलते हैं तथा प्रकाशित भी हो गये हैं। इस शाखा की अपनी संहिता है जिसे काठक संहिता कहते हैं। सर्व प्रसिद्ध कठोपनिषद इसी शाखा की है। इसका अपना गृह्यसूत्र भी है जिसे काठक-गृह्यसूत्र कहते हैं। अतः इसके ग्रंथ हैं—काठक संहिता, कठोपनिषद् और काठक-गृह्यसूत्र।

मैत्रायणी शाखा

इसे कलाप शाखा भी कहते हैं। चरण व्यूह में यह एक प्रधान शाखा मानी गई है। पतंजलि के समय में इसका बहुत प्रचार था। यह बात उनके "कठ कालापम्" आदि उदारणों से स्पष्ट जान पड़ती है। इस शाखा के ब्राह्मणों की संख्या बहुत ही कम है। वे प्रायः गुजरात तथा दक्षिण भारत में पाये जाते हैं।

तैत्तिरीय शाखा

चरण-व्यूह में इस शाखा के मुख्यतः ५ भेद कहे गये हैं, जिनमें आजकल आपस्तम्भ शाखा मिलती है। भारत के बिल्कुल दक्षिण में इस शाखा का खूब प्रचार है। तैलंग तथा द्रविड़ ब्राह्मणों की यही शाखा है। इसका पठन-पाठन दक्षिण में खूब होता है। इस शाखा से सम्बन्ध रखने वाले ग्रंथ पर्याप्त संख्या में मिलते हैं। हिरण्यकेशी शाखा इसी शाखा के अन्तर्गत है। इस शाखा के ग्रंथ हैं—तैत्तिरीय-संहिता, तैत्तिरीय ब्राह्मण तैत्तिरीयारण्यक, तैत्तिरीयोपनिषद्, आपस्तम्ब कल्पसूत्र (श्रौत सूत्र और गृह्य सूत्र), बौधायन श्रौतसूत्र, हिरण्यकेशी कल्पसूत्र, भारद्वाज श्रौतसूत्र इत्यादि। कृष्ण यजुर्वेद की यही प्रधानतम शाखा है। इन शाखाओं का उच्चारण माध्यन्दियों से कहीं-कहीं मिलता है। ये उन्हीं की तरह सर्वत्र तो नहीं पर कहीं-कहीं 'ष' का उच्चारण 'ख' करते हैं। जितने इस शाखा के अध्येता मिलेंगे उतने कृष्ण यजुर्वेद की किसी भी अन्य शाखा के नहीं।

कठ-कपिष्ठल शाखा

कोई-कोई कृष्ण यजुर्वेद की कठ-कपिष्ठल नामक एक चौथी शाखा भी मानते हैं जिसे वे चरक शाखा के अन्तर्गत बताते हैं। आजकल इस शाखा की केवल संहिता ही मिलती है जो संभवतः आज तक प्रकाशित नहीं हुई है।

शुक्ल यजुर्वेद में ४० अध्याय, ३०३ अनुवाक, १९७६ मंत्र, २९६२५ शब्द तथा ८८८७५ अक्षर हैं। इसी प्रकार कृष्ण यजुर्वेद में ७ अष्टक (काण्ड), ४४ प्रश्न (प्रपाठक), ६५१ अनुवाक, २१९८ मन्त्र तथा ११०२९६ अक्षर हैं।

सामवेद की शाखाएँ

यद्यपि प्राचीन आचार्यों ने सामवेद की १००० शाखाएँ बतलाई हैं ; परन्तु वर्तमान काल में इसकी केवल तीन ही शाखाएँ उपलब्ध हैं—१. कौथुमी शाखा, २. राणायनीय शाखा और ३. जैमिनीय शाखा।

कौथुमी शाखा

इस शाखा के ब्राह्मण गुजरात में पाये जाते हैं। सामवेद की अन्य शाखा वाले ब्राह्मणों की अपेक्षा कौथुमियों की ही संख्या सबसे अधिक है। श्रीमाली तथा नागर ब्राह्मणों में इस शाखा का पठन-पाठन खूब होता है। यों तो बंगाल में भी कौथुमी-शाखा वाले बंगाली ब्राह्मण हैं ; परन्तु वे गृह्य-पद्धतियों के अतिरिक्त सामवेद का ज्ञान कुछ भी नहीं रखते। आजकल केवल गुजराती (श्रीमाली और नागर) ब्राह्मण ही सामवेद के संरक्षक हैं ; परन्तु दुःख के साथ कहना पड़ता है कि उनकी भी रुचि इस वेद की ओर धीरे-धीरे कम होती जा रही है और वे अपने लड़कों को जीविकार्थ अन्य धन्धों में लगा रहे हैं। यह तो सभी वेदों की दशा है ; पर सामवेद की विशेष रूप से।

इस शाखा के ग्रन्थ हैं—कौथुमी संहिता, ताण्ड्य ब्राह्मण, षड्विंश ब्राह्मण, सामविधान ब्राह्मण आदि अनेक ब्राह्मण ग्रंथ, छान्दोग्य उपनिषद्, मशक कल्पसूत्र, लाट्यायन श्रौतसूत्र तथा गोभिल गृह्यसूत्र।

राणायनीय शाखा

इस शाखा का प्रचार महाराष्ट्र, तथा यदि जनश्रुति ठीक हो तो, दक्षिण में सेतुबन्ध रामेश्वर की ओर है। इस शाखा वालों ने कौथुमियों की संहिता, ब्राह्मण तथा उपनिषद् ग्रहण कर लिया ; केवल श्रौत तथा गृह्यसूत्र इनके निजी हैं। इनके श्रौतसूत्र का नाम है द्राह्यायण श्रौतसूत्र तथा गृह्यसूत्र का नाम है खदिर गृह्यसूत्र।

जैमिनीय शाखा

इसका प्रचार कर्णाटक देश में है। इस शाखा के मानने वालों की संख्या बहुत कम

है। इस शाखा के ग्रन्थ अभी हाल में मिले हैं। वे ये हैं—जैमिनि-संहिता, जैमिनि-ब्राह्मण, केनोपनिषद्, जैमिनिब्राह्मणोपनिषद्, जैमिनि-श्रौतसूत्र तथा जैमिनिगृह्यसूत्र।

सामवेद में २६ अध्याय, ६ आर्चिक, ८६ साम तथा १८६३ मंत्र हैं। सामवेदीय मंत्रों के दो भाग हैं—१. छन्दः-संहिता और २. उत्तर संहिता, जिन्हें क्रमशः पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक भी कहते हैं। सामों (गेय मंत्रों) के भाग हैं—१. गेय, २. ऊह, ३. उह्य और ४. आरण्यक।

अथर्ववेद की शाखाएँ

इस वेद की ६ अथवा १५ शाखाएँ कही गई हैं, जिनमें केवल दो ही शाखाएँ मिलती हैं—१. पिप्पलाद शाखा और २. शौनक शाखा।

पिप्पलाद शाखा

इस शाखा की एक ही प्रति भूर्जपत्रों पर शारदा-लिपि में लिखी हुई डाक्टर बूलर को काश्मीर में मिली थी जिसे उन्होंने, इसके प्रत्येक पेज का फोटो लेकर छपवाया है। जान पड़ता है कि महाभाष्य पतंजलि के समय में इस शाखा का प्रचार खूब रहा होगा क्योंकि उन्होंने अपने महाभाष्य में इस शाखा के अथर्ववेद के पहले मंत्र "शन्नोदेवी रभिष्टय" का उल्लेख किया है। यह मंत्र शौनक शाखा के अथर्ववेद में नहीं मिलता। प्रश्नोपनिषद् पिप्पलाद शाखा से सम्बन्ध रखती है। इसके सिवा पिप्पलाद शाखा की और कोई पुस्तक नहीं मिलती।

शौनक शाखा

अथर्ववेद की यही प्रचलित शाखा है। जो कोई अथर्ववेदी मिलता है वह इसी शाखा का होता है। इस शाखा के ग्रंथ ये हैं—शौनक संहिता, गोपथ ब्राह्मण, मुण्डक आदि उपनिषद्, वैतान श्रौतसूत्र और कौशिकगृह्यसूत्र।

अथर्ववेद में २० काण्ड, ३४ प्रपाठक, १११ अनुवाक्, ७३३ वर्ग, ७६० सूक्त, ६६८० मंत्र तथा १२३८० शब्द हैं।

नोट—वेदों के सूक्तों, वर्गों, मंत्रों, शब्दों और अक्षरों की संख्याओं के विषय में मत-भेद है। यह मतभेद सम्भवतः शाखा-भेद के कारण है। यहाँ पर जो उनकी संख्याएँ दी गई हैं वे सबसे बड़ी हैं।

यहाँ तक वेदों की विविध शाखाओं तथा उन शाखाओं से सम्बन्ध रखने वाले ब्राह्मण आदि ग्रंथों पर संक्षेपतः विचार हो चुका। अब थोड़ी सी बात रह गई है जिस पर भी कुछ प्रकाश डाल देना जरूरी है। पाठकों को जान लेना चाहिए कि सिद्धान्तानुसार जितनी शाखाएँ हों, उतने ही ब्राह्मण, उतने ही आरण्यक, उतनी ही उपनिषदें तथा उतने ही

सूत्र-ग्रन्थ होने चाहिए। शाखाओं के अध्येता अपने सब वैदिक ग्रन्थ अलग-अलग रखते थे। प्रत्येक शाखा के ब्राह्मण अपने विशिष्ट श्रौत सूत्र से अपना श्रौत कार्य सम्पादन किया करते थे तथा इस समय भी करते हैं। इसी प्रकार वे अपने गृह संस्कारों को अपने ही गृह सूत्रानुसार किया करते तथा अब भी करते हैं। इससे यही सिद्धान्त निकलता है कि प्रत्येक शाखा के पास संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद्, आरण्यक और सूत्रग्रन्थ अपने-अपने खास होने चाहिए; अर्थात् प्रत्येक शाखा को सर्वतः परिपूर्ण, स्वावलम्बी तथा एक दूसरे से पूर्णतः स्वतन्त्र होना चाहिए। परन्तु आजकल बहुत सी शाखाएँ ऐसी हैं जिनमें पूर्वोक्त वैदिक साहित्य के कतिपय अंश उपलब्ध हैं तो कतिपय नहीं। किसी शाखा के पास अपनी संहिता है तो दूसरे का ब्राह्मण; किसी का अपना ब्राह्मण है तो दूसरे का श्रौत-सूत्र। ऐसी विषमावस्था का कारण कतिपय शाखाओं का उछिन्न तथा वैदिक साहित्य का लुप्त हो जाना है।

उदाहरण के लिए आश्वलायनों को लीजिए। उनके पास केवल अपने श्रौत तथा गृह सूत्र तो हैं; पर उनकी अपनी संहिता (ऋग्वेद) नहीं है; अतः वे लोग शाकल-संहिता को ही अपनी संहिता मानकर पढ़ते हैं। इसी तरह उनके अपने ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् भी नहीं हैं; पर काम लेते हैं ऐतरेय शाखा के ब्राह्मणादि ग्रन्थों से।

वैदिक साहित्य जितना ही गम्भीर और गहन है उतना ही विशाल और सुविस्तृत भी। मनुष्य का जीवन-काल इतना लम्बा नहीं है कि वह निशेष वैदिक साहित्य का केवल अवलोकन मात्र भी कर सके; उसका मनन करना तो दूर रहा। चार वेद, चार उपवेद, छः वेदांग, छः वेदोपाङ्ग, वेदों की विभिन्न सहस्रों शाखाएँ, ब्राह्मणों, उपनिषदों तथा आरण्यकों के अनेक ग्रन्थ एवं सूत्र ग्रंथ, ये कुल मिलकर वैदिक साहित्य को इतना विशाल बना देते हैं कि उनके अध्ययन के लिए मानव प्राणी का जीवन-काल कुछ भी नहीं है। हमारे अभाग्यवश बुद्धि के क्रमिक ह्रास तथा अन्यान्य कारणों से वैदिक साहित्य के कतिपय अंश नष्ट ह गए। बचे-खुचे भाग भी विस्मृति के घोर गर्भ में द्रुत गति से विलीन हो रहे हैं।

अथ चतुर्थ परिच्छेद

संहिता (मंत्र) भिन्न वैदिक साहित्य

द्वितीय परिच्छेद के प्रारम्भ में कह आए हैं कि निशेष वैदिक साहित्य के तीन विभाग होते हैं—(१) मंत्र भाग का संहिता भाग, (२) ब्राह्मण भाग जिसके अन्तर्गत आरण्यक और उपनिषद् हैं तथा (३) सूत्र भाग। तृतीय परिच्छेद तक मंत्र-भाग विषयक चर्चा करते चले आए हैं, अब इस परिच्छेद में शेष दो विभागों; अर्थात् क्रमशः ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों तथा सूत्रों पर विचार किया जायगा।

तृतीय परिच्छेद के अन्त में बता आए हैं कि वैदिक सिद्धान्तानुसार वेदों की जितनी शाखाएँ होती हैं उतने ही ब्राह्मण, उतने ही आरण्यक और उपनिषद तथा उतने ही श्रौत सूत्र, धर्म-सूत्र एवं गृह-सूत्र होने चाहिए। पर काल पाकर कितनी ही शाखाएँ लुप्त हो गई और साथ-साथ उनसे सम्बन्ध रखनेवाले ब्राह्मणादि ग्रन्थ भी काल कवलित हो गए; अतः जो ब्राह्मणादि ग्रंथ हमें उपलब्ध हैं उन्हीं पर विचार होगा।

ब्राह्मण ग्रन्थ

ब्राह्मण ग्रंथों का प्रतिपाद्य विषय क्या है, इसे जानने के लिए हमें 'ब्राह्मण' शब्द की व्युत्पत्ति तथा उसका अर्थ जानना चाहिए। नपुंसक 'ब्रह्मन्' शब्द से अण् प्रत्यय करने पर 'ब्राह्मण' शब्द सिद्ध होता है। जिसका अर्थ होता है 'ब्रह्मणोऽयमिति ब्राह्मण'; अर्थात् जो ब्रह्म (वेद) से सम्बद्ध है वह 'ब्राह्मण' कहलाता है। 'ब्राह्मण' शब्द के इस व्यापक अर्थ के अनुसार वेदों की प्रत्येक ऋचा, प्रत्येक प्रार्थना-मंत्र, प्रत्येक वस्तु जो देवताओं को समर्पित होती हैं, ब्राह्मण हैं। पर यहाँ पर 'ब्राह्मण' शब्द के इन अर्थों से कोई मतलब नहीं है। यहाँ पर 'ब्राह्मण' शब्द उस आर्ष रचना-विशेष के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है जिसे हम वेदों का भाष्य अथवा वेद मंत्रों की व्याख्या कह सकते हैं। महाशय आप्टे-कृत संस्कृत-अँगरेजी कोष में 'ब्राह्मण' शब्द का रचना-परक (नकि जाति विशेष-परक) अर्थ इस प्रकार लिखा है—

That portion of the Vedas which states rules for the employment of the hymns at the various sacrifices, their origin and detailed explanation, with sometimes lengthy illustrations in the shape of legends and stories. It is distinct from the mantra portion of the Vedas.

अर्थ—वेदों का वह भाग जो विविध वैदिक यज्ञों के लिए वेद मंत्रों के प्रयोग के नियमों, उनकी उत्पत्ति एवं विवरण-पूर्ण व्याख्या का कथन करना है तथा जिसमें समय-समय पर सुविस्तृत दृष्टान्तों के रूप में परम्परागत कथाओं एवं कहानियों का समावेश रहता है। प्रत्येक वेद के ब्राह्मण अलग-अलग होते हैं यथा—

ऋग्वेद के ब्राह्मण

ऋग्वेद के दो ब्राह्मण हैं—१. ऐतरेय ब्राह्मण और २ कौषीतकी ब्राह्मण जिसे सांख्यायन ब्राह्मण भी कहते हैं।

ऐतरेय ब्राह्मण

१. ऐतरेय ब्राह्मण। उक्त दोनों ऋग्वेदीय ब्राह्मणों में ऐतरेय ब्राह्मण ही प्रधान है। उसके अन्तिम दश अध्याय पश्चात् काल के जोड़े हुए हैं। इस ग्रन्थ का मुख्य भाग सोम-यज्ञ से सम्बन्ध रखता है। उसके एक से लेकर सोलह अध्यायों में, एक ही दिन में होने वाले 'अग्निष्टोम' नामक सोम-यज्ञ का, तदनन्तर दो अध्यायों में ३६० दिनों में पूर्ण होने वाले 'गवामयन' का और बाद के ६ अध्यायों में 'द्वादशाह' का प्रतिपादन किया गया है। आगे के अध्यायों में अग्निहोत्रादि का वर्णन है। अवशिष्ट ८ अध्यायों में राज्याभिषेक महोत्सवों में राजपुरोहितों के अधिकार का वर्णन है।

कौषीतकी ब्राह्मण

२. कौषीतकी ब्राह्मण। इसमें ३०० अध्याय हैं। प्रायः ऐतरेय ब्राह्मण के प्रधान भागों में प्रतिपादित विषय ही उसमें देख पड़ते हैं। उसमें प्रथम अग्न्याधान, तब अग्निहोत्र, तदनन्तर दर्शपौर्णमास और सबसे अन्तिम अध्यायों में चातुर्मास्य का वर्णन है। इस तरह उसमें भी सोमयाग की ही प्रधानता है। दोनों ब्राह्मण ग्रंथों का कुरु पांचाल में प्रादुर्भाव हुआ था। ऐतरेय ब्राह्मण की सप्तम पंचिका के तृतीय अध्याय में वरुण की कृपा से राजा हरिश्चन्द्र के पुत्र लाभ और शुनःशेप की कथा मिलती है।

(ख) शुक्ल यजुर्वेद के ब्राह्मण

शुक्ल यजुर्वेद के दो ब्राह्मण उपलब्ध हैं—१. शतपथ ब्राह्मण और २. मंडल ब्राह्मण इन दोनों ब्राह्मणों में शतपथ ब्राह्मण ही मुख्य है।

शतपथ ब्राह्मण

शतपथ ब्राह्मण १०० अध्यायों में विभक्त है। अखिल वैदिक ग्रन्थ समुदाय में ऋग्वेद के अनन्तर शतपथ की ही प्रधानता है। ऋग्वेद के बहुत से मंत्र इसमें पाये जाते हैं। इसके दो पाठ मिलते हैं—पहला माध्यन्दिनियों का, और दूसरा काण्वों का। माध्यन्दिन पाठ से १४ काण्ड और काण्व पाठ से १७ काण्ड प्राप्त होते हैं। उसमें ऋषिवंशावली की पट्टिका में विशेषतः गौतम-वंश का वर्णन है। महाभारत प्रसिद्ध कुरुराज का भी वर्णन

शतपथ ब्राह्मण में मिलता है। इतना ही नहीं; बल्कि उसमें राजा जनक (विदेह), उनकी राजसभा के मुख्य ब्रह्मवेत्ता महर्षि याज्ञवल्क्य, याज्ञवल्क्य की दोनों स्त्रियों (मैत्रेयी और कात्यायनी), महर्षि च्यवन और उनकी स्त्री सुकन्या, उर्वशी और पुरुरवा, जलप्लावन और मनु का भी वृत्तान्त मिलता है।

(ग) कृष्ण यजुर्वेद के ब्राह्मण

पहले (तृतीय परिच्छेद में) कह आए हैं कि कृष्ण यजुर्वेद की दो शाखाएँ हैं—काठक और मैत्रायणी। इन शाखाओं में तत्त संहिताधिष्ठित गद्य भाग ही ब्राह्मण-रूप से स्वीकृत हैं। काठकीय तैत्तिरीय ब्राह्मण में नाचिकेता का उपाख्यान वर्णित है। यद्यपि मैत्रायणी शाखा में पृथक् ब्राह्मण का उल्लेख नहीं है; तथापि मैत्रायणी संहिता के चतुर्थ काण्ड को ही कोई-कोई ब्राह्मण कहते हैं। अतः कृष्णयजुर्वेद के दोनों ब्राह्मण अपनी-अपनी शाखाओं के नाम से ही अभिहित होती हैं—१. काठकीय ब्राह्मण जिसे तैत्तिरीय ब्राह्मण भी कहते हैं और २. मैत्रायणी ब्राह्मण। इसका दूसरा नाम अध्वर्यु-ब्राह्मण भी है।

मैत्रायणी ब्राह्मण

मैत्रायणी ब्राह्मण में राजा बृहद्रथ का वृत्तान्त आया है जिसने संसार से, उसकी असारता देख, विरक्त होकर और राजसिंहासन पर अपने पुत्र जरासन्ध को बैठाकर, भगवद्भजन के लिए जंगल की राह ली। कहते हैं कि जीव और संसार के पारस्परिक सम्बन्ध विषयक उसे उपदेश देने वाले महात्मा शाकायन थे जिन्होंने महात्मा मैत्रेय से तद्विषयक शिक्षा पाई थी। कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध और भी दो ब्राह्मण हैं—बल्लभी और सत्यायनी।

(घ) सामवेद के ब्राह्मण

सामवेद के ११ ब्राह्मण उपलब्ध हैं—१. ताण्ड्य ब्राह्मण जिसे महा ब्राह्मण, प्रौढ़ ब्राह्मण, तथा पंचविंश ब्राह्मण भी कहते हैं; २. षड्विंश ब्राह्मण; ३. साम-विधान ब्राह्मण; ४. वंश ब्राह्मण; ५. आर्षेय ब्राह्मण; ६. देवताध्याय ब्राह्मण; ७ संहितोपनिषद् ब्राह्मण; ८. मंत्र वा छान्दोग्य ब्राह्मण; ९. जैमिनीय वा तालवकार ब्राह्मण; १० सत्यायन ब्राह्मण और ११. भाल्लवी ब्राह्मण।

ताण्ड्य ब्राह्मण

१ ताण्ड्य ब्राह्मण। तण्डि शाखावलम्बी ब्राह्मण का ही नाम ताण्ड्य ब्राह्मण या पंचविंश ब्राह्मण है। उसमें स्वानामानुकूल २५ काण्ड हैं। उसमें अत्यल्प कर्म से लेकर १०० दिनों तथा अनेक वर्षों तक होने वाले सोमयाग सम्बन्धी क्रिया विशेष का वर्णन है। सरस्वती औ दृषद्वती नदियों के बीच के देशों का वर्णन भी है। इस ब्राह्मण में व्रात्यस्तोत्र नामक याग एक विशेष महत्व रखते हैं। इसके सम्पादन द्वारा व्रात्य (पतित) आर्य किम्वा अनार्य

भी ब्राह्मण समाज में प्रविष्ट हो सकते थे। जो ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य यज्ञोपवीतादि मुख्य संस्कार नहीं कराने से पतित हो जाते हैं उन्हीं की व्रात्य-संज्ञा होती है। वे उक्त याग के द्वारा पुनः द्विजत्व प्राप्त कर लेते हैं। गायत्री ब्राह्मण, अरुयवा ब्राह्मण और प्रतिग्रह इसी ताण्ड्य ब्राह्मण के खण्ड हैं।

षड्विंश ब्राह्मण

(२) षड्विंश ब्राह्मण। यह ब्राह्मण, यद्यपि इसमें भी कई काण्ड हैं, वस्तुतः ताण्ड्य ब्राह्मण का ही २६वाँ काण्ड है। इसमें ६ अध्याय हैं और अन्तिम अध्याय का नाम अद्भुत ब्राह्मण है। ५वाँ अध्याय विशेष महत्त्व रखता है; क्योंकि इसमें भूकम्प, वज्रपात, मनुष्यों और पशुओं में फैली हुई महामारी, उल्कापात आदि आकाशीय उत्पातों एवं भयंकर बवंडर आदि वायवीय उपद्रवों के शमनार्थ विविध क्रियाएँ बतलाई गई हैं। वेबर (Weber) साहब का मत है कि यह ब्राह्मण मेगास्थनीज् (Megasthenes) के समय से पूर्व का नहीं है। मैक्स मूलर (Max Muller) साहब तो केवल इतना ही कह कर सन्तोष कर लेते हैं कि यह ब्राह्मण अति ही आधुनिक काल का है तथा इसमें देवालयों, देव-प्रतिमाओं और उनके हँसने, रोने, गाने और नाचने का उल्लेख होने से प्रतीत होता है कि एक बहुत ही भद्दे प्रकार की मूर्त्ति-पूजा की ओर वेद स्पष्ट रूप से झुक गए हैं। कलस ब्राह्मण षड्विंश का एक भाग है।

सामविधान ब्राह्मण

(३) सामविधान ब्राह्मण। इस ब्राह्मण में नाना प्रकार के जादू, टोने, यंत्र, मंत्रादि का वर्णन है जिनके द्वारा शत्रुओं का नाश और उनसे रक्षा हो सके तथा धन, सन्तान आदि सांसारिक समृद्धि प्राप्त की जा सके। इसके अतिरिक्त इसमें विविध प्रकार के पापों तथा अपराधों के लिए प्रायश्चित करने की विधियाँ बतलाई गई हैं। इसमें देवकी-पुत्र कृष्ण का भी उल्लेख हुआ है जो अभी एक ब्रह्मचारी के रूप में क्षत्रियोचित विद्याओं का अध्ययन कर रहे हैं। संस्कृत साहित्य में जन्मान्तरवाद का प्रतिपादन पहले-पहल इसी ब्राह्मण के आरण्यक में हुआ है तथा वैदिक-साहित्य में राहु का भी नाम, जो ग्रहण का राक्षस माना जाता है, पहले-पहल वहाँ ही आया है। इन सब बातों के आधार पर विद्वानों का अनुमान है कि यह ब्राह्मण अन्य ब्राह्मणों की तुलना में आधुनिक काल का है।

वंश ब्राह्मण

(४) वंश ब्राह्मण। इसमें सामवेदीय आचार्य्यों के वंशों का वर्णन है। इन आचार्य्यों की नामावली तीन सूचियों में दी गई है। पहली सूची, जिसमें ३५ नाम हैं ब्रह्मा से चल कर अमावश्व और राध पर समाप्त होती है। अमावश्व से अंसु तथा राध से गोविल शाखा का निकास हुआ है। दूसरी सूची, जिसमें १४ नाम हैं, अंसु से चल कर

सर्वदत्त पर समाप्त होती है। ये आचार्य अंसु-शाखा वाले हैं। तीसरी सूची, जिसमें १४ नाम हैं, गोविल से चल कर नयन पर समाप्त होती है। ये गोविल शाखा के आचार्य हैं। इस ब्राह्मण में उक्त वंशावलियों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है; तथापि सायण ने जिन आठ ब्राह्मणों पर भाष्य लिखा है उनमें से एक यह भी है।

आर्षेय ब्राह्मण

(५) आर्षेय ब्राह्मण। इसके पाँचवें काण्ड में सामद्रष्टा ऋषि के वंश का वर्णन है। यह ब्राह्मण वस्तुतः सामवेद के प्रतिपाद्य विषयों की एक अनुक्रमणी मात्र है।

देवताध्याय ब्राह्मण

(६) देवताध्याय ब्राह्मण। इसमें सामवेदीय देवताओं की स्तुति है। वैदिक साहित्य में युगों और कल्प (ब्रह्मा का दिन) का सर्वप्रथम उल्लेख इसी ब्राह्मण में, जैसा कि हम लोग मनुसंहिता में पाते हैं, हुआ है। डाक्टर बर्नेल (Dr. Burnell) का कथन है कि यह ब्राह्मण ईसा की चौथी शताब्दी से अधिक प्राचीन नहीं है और इसकी रचना तब हुई थी जब ब्राह्मण और बौद्धों के बीच विचारों और भावनाओं का परस्पर आदान-प्रदान हो रहा था।

संहितोपनिषद् ब्राह्मण

(७) संहितोपनिषद् ब्राह्मण। इसमें केवल वेदाध्ययन की रीति बतलाई गई है। इसके चौथे खंड में धर्म्मगुरु को विविध प्रकार की वस्तुओं का दान करने का फल बतलाया गया है। विदेशियों के लिए यह समझना असंभव हो जाता है कि जो हिन्दू निरुक्त तथा दर्शन के जटिल सभी जटिल प्रश्नों को हल करने में सफल हो सकते वे किस प्रकार इन कपोल-कल्पित दान-फलों में बच्चों की तरह विश्वास करते थे।

मंत्र वा छान्दोग्य ब्राह्मण

(८) मंत्र वा छान्दोग्य ब्राह्मण। इसका बहुत थोड़ा हिस्सा क्रिया प्रतिपादक है। यह पूर्णरूप से पद्यात्मक है और विविध प्रार्थनाओं तथा स्तुतियों के रूप में है। इसी से इसका मंत्र वा छान्दोग्य ब्राह्मण नाम पड़ा है। यह ८ प्रपाठकों में विभक्त है और प्रत्येक प्रपाठक में ८ काण्ड हैं। इसके प्रथम प्रपाठक में विवाह-संस्कार, कन्या का भर्तृगृह-गमन, गर्भाधान, प्रथम पुत्र का जन्म, उसका चूड़ाकरण, उपनयन तथा दण्ड-देवता की रक्षा में रह कर गुरुकुल में विद्याध्ययनादि वर्णित हैं। द्वितीय प्रपाठक के मंत्रों में आरण्यकों और उपनिषदों की सी शिक्षाएँ पाई जाती हैं। इसके मंत्रों के द्वारा उक्त ब्रह्मचारी चतुर्दिग्गजों, भू-देवता, रुद्र, इन्द्र और ऋतुओं का आह्वान करता है और उनसे अपने लिए दीर्घायु, चावल, वायु और अग्नि माँगता तथा आवागमन की निवृत्ति के लिए प्रार्थना करता है। यह ब्राह्मण यह प्रार्थना करता हुआ समाप्त हो जाता है कि आर्य्य-गण गोबध से विरत होवें।

जैमिनीय वा तलवकार ब्राह्मण

(६) जैमिनीय वा तलवकार ब्राह्मण। इसमें ५ काण्ड हैं। केनोपनिषद् इसी का एक अंश है।

सत्ययान और भाल्लवी ब्राह्मण

(१०) सत्ययान और (११) भाल्लवी ब्राह्मणों का प्रचार नहीं देख पड़ता। सत्ययान का सायण ने और भाल्लवी का पाणिनि ने अपने-अपने ग्रंथों में केवल उल्लेख-मात्र किया है।

(ङ) अथर्ववेद के ब्राह्मण

तृतीय परिच्छेद में कह आए हैं कि अथर्ववेद की कई शाखाओं में केवल दो ही शाखाएँ मिलती हैं—पिप्पलाद और शौनक। पिप्पलाद शाखा का कोई भी ब्राह्मण नहीं मिलता पर शौनक शाखा से सम्बद्ध एक ब्राह्मण मिलता है जिसका नाम गोपथ ब्राह्मण है।

गोपथ ब्राह्मण

इसमें दो काण्ड हैं। प्रथम काण्ड में ५ और द्वितीय काण्ड में ६ अध्याय हैं। प्रथम काण्ड में कहीं-कहीं नवाविभूति क्रिया-विशेष का वर्णन है। द्वितीय काण्ड में यज्ञ क्रिया का प्रतिपादन है; क्योंकि द्वितीय काण्ड वैतान-सूत्र के आश्रय से विरचित है। उसमें शतपथ पंचविंश ब्राह्मणों से कतिपय वाक्य उद्धृत किये गए हैं। प्रथम काण्ड तो अथर्ववेद के ब्रह्मा नामक चतुर्थ पुरोहित की प्रशंसा से भरा पड़ा है। वैदिक काल के बाद उसकी उत्पत्ति हुई थी। उसके अनेक भाग ग्रंथान्तरों से संग्रहीत हैं।

प्रोफेसर ह्विटनी (Whitney) साहब का कथन है कि इस ब्राह्मण में अनेक जादू-टोने के मंत्र हैं जिनका जप स्वयं करके वा किसी जादूगर के द्वारा कराकर मनुष्य को बड़े-बड़े अभीष्ट पदार्थ जैसे धन, सन्तान, शारीरिक बल, स्वास्थ्य, शत्रुनाश, प्रेम में सफलता आदि प्राप्त हो सकते हैं।

यज्ञीय पशु का विभाग

गोपथ ब्राह्मण के प्रथम काण्ड के ३।१८ में यज्ञ के बलीभूत गोपशु के मृतक शरीर को खंड-खंड कर उसे यज्ञ में नियुक्त विविध पुरोहितों के बीच किस प्रकार बाँटना चाहिए, यह बतलाया गया है—

"अथातः सवनीयस्य पशोर्विभागं व्याख्यास्यामः। उद्धृत्यावदानानि हनूसजिह्वे प्रस्तोतुः, कंठः सककुदः प्रतिहर्त्तुः, श्येनवक्ष उद्गातुः, दक्षिणं पार्श्वं सांसमध्वर्योः, सव्यमुद्गातॄणाम्, सव्योऽसप्रतिप्रस्थातुः, दक्षिणा श्रोणिः रथ्यास्त्री-ब्रह्मणो, वामसक्थं ब्राह्मणच्छंसिनः, उरुः पोतुः, सव्या श्रोणिः होतुः, अपर सक्थं मैत्रावरुणस्य, उरुः अच्छावाकस्य, दक्षिणं दोः नेष्टुः, सव्यं सदस्यस्य, सदं चानूकं च गृहपतेः, जाघ्नी पत्न्याः तांसा ब्राह्मणेन प्रति-

ग्राहयति । वनिष्ठुः हृदयं वृक्को, दक्षिणो बाहुरग्नीध्रस्य, सव्यः आत्रेयस्य, दक्षिणौ पादौ गृह पतेः व्रत प्रदस्य सव्यौ पादौ गृह पत्न्याः व्रतप्रदायाः इत्यादि ।

अर्थ—अब इसके बाद यज्ञीय पशुका विभाग कहेंगे । विविध वैदिक कर्मों को उद्धृत करके जीभ के साथ दोनों जबड़े प्रस्तोता को, ककुद् (मौर) के साथ कंठ प्रतिहर्त्ता को, श्येनाकार वक्षःस्थल उद्गाता को, कन्धे के साथ दाहिनी पसली अध्वर्यु को, बाईं पसली उद्गाताओं को, बायां कन्धा प्रतिप्रस्थाता को, दाहिना चूतर रथ्या की स्त्री और ब्रह्मा को, बाईं जांघ का मांसल भाग ब्राह्मणच्छंसी को, एक टाँग पोता को, बांया चूतर होता को, दूसरी (दाहिनी) जांघ का मांसल भाग मैत्रावरुण को, दूसरी टांग अच्छावाक को, दाहिनी बांह नेष्टा को, बाईं बाँह सदस्या को, कमर और पेट गृहस्वामी को, जांघ गृहपत्नी को (जिसे वह किसी ब्राह्मण को दे देवे, हृदय और गुर्दे वनिष्ठा को, दाहिनी बाँह का अग्रभाग अग्नीध्र को, बाईं बाँह का अग्रभाग आत्रेय को, दाहिने पैर (खुर) यज्ञ करने वाले गृहस्वामी को, बाएँ पैर (खुर) यज्ञ करने वाली गृहस्वामिनी को दिए जायँ, इत्यादि ।

ऐतरेय ब्राह्मण में भी इसी प्रकार पशु-विभाग करने का आदेश किया गया है । यज्ञ-स्थली क्या थी मानो पूरा बूचड़खाना थी ।

(२) *आरण्यक ग्रन्थ*

पहले कह आए हैं कि वैदिक साहित्य में ब्राह्मण-ग्रन्थों के ही अन्तर्गत आरण्यक और उपनिषद् ग्रंथ आते हैं । इन दोनों अर्थात् आरण्यकों और उपनिषदों में भी विषय-सादृश्य तथा काल-जन्य पौर्वापर्य्य की दृष्टि से ब्राह्मणों के बाद आरण्यकों का ही नम्बर आता है; अतः उपनिषदों पर विचार करने के पूर्व ही आरण्यकों पर विचार किया जायगा ।

आरण्यक शब्द का अर्थ और व्युत्पत्ति

सर्व प्रथम हमें 'आरण्यक' शब्द का अर्थ जानना चाहिये । आप्टे महाशय अपने सुप्रसिद्ध संस्कृत-अंगरेजी कोष में इसका अर्थ यह देते हैं—आरण्यकम् It is one of a class of religious and philosophical writings (connected with Brahmanas) which are either composed in forests, or must be studied there, e.g. ऐतरेयारण्यकं, बृहदारण्यकं and तैत्तिरीयारण्यकं । अरण्येऽनूच्य मानत्वात् आरण्यकम्; अरण्येऽध्ययनादेव आरण्यकमुदाहृतम् । अरण्ये भवमिति आरण्यकं (आरण्य+वुञ्)

अर्थ—ये एक प्रकार के धार्मिक तथा दार्शनिक लेख हैं जिनका सम्बन्ध ब्राह्मणों से है और जो या तो अरण्यों (वनों) में रचे गए या जो वनों में अवश्य पढ़ने चाहिये; जैसे ऐतरेयारण्यक, बृहदारण्यक, और तैत्तिरीयारण्यक । अरण्य में इनका व्याख्यान वा

अध्ययन होने से ये आरण्यक कहलाए। अरण्य शब्द से भव-अर्थ में वुञ् प्रत्यय लगाने से आरण्यक शब्द सिद्ध होता है।

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, प्रत्येक वेद, वा यों कहिए, वेदों की प्रत्येक शाखा का आरण्यक अपना (निज का) होता है। इन आरण्यकों को वेदों का आरण्यक भाग कहना चाहिए। इन आरण्यकों का अध्ययन वानप्रस्थी लोग किया करते थे। इन वानप्रस्थियों को यूनानी परिव्राजक मेगास्थनीज (Megasthenes) Hyobioi कहा करता था। Hyobioi ग्रीक (यूनानी) भाषा का शब्द है जिसका आक्षरिक अनुवाद 'जंगल का रहने वाला' है। आरण्यकों से ही संलग्न तथा कभी-कभी उनके ही अंश समझी जाने वाली उपनिषदें हैं जिनमें हिन्दुओं के प्राचीन दार्शनिक विचार संनिहित हैं। आरण्यकों और उपनिषदों के प्रतिपाद्य विषयों में भेद है। आरण्यकों में नाना प्रकार की यज्ञ-क्रियाएँ वर्णित हैं जो वानप्रस्थियों के कर्त्तव्य हैं; पर उपनिषदों को विषय ब्रह्मज्ञान का स्वरूप-वर्णन है।

अब यहाँ पर यह बतलाया जायगा कि किस वेद से सम्बन्ध रखने वाला कौन सा आरण्यक है। साधारणतः आरण्यकों के वे ही नाम होते हैं जो तत्संबन्धित ब्राह्मणों के हैं; पर कभी-कभी इसके अपवाद भी देख पड़ते हैं।

किस वेद के कौन से आरण्यक हैं ?

(१) ऋग्वेद के मुख्य आरण्यक हैं—ऐतरेयारण्यक और कौषीतकी-आरण्यक।

(२) कृष्ण यजुर्वेद का जो काठकीय वा तैत्तिरीय ब्राह्मण है उसका शेषांश ही तैत्तिरीयारण्यक कहलाता है। और शुक्ल यजुर्वेद के माध्यन्दिनी शाखा का १४ वां काण्ड ही आरण्यक नाम से प्रसिद्ध है।

(३) सामवेद के आधार के आरण्यक संहिता ही के अन्तर्गत हैं। ये छान्दोग्यारण्यक नाम से प्रसिद्ध हैं। अर्च्चिक और उसके अवलम्ब पर गाये गीत ही आरण्यक हैं।

(३) उपनिषद् ग्रन्थ

उपनिषद् शब्द की व्युत्पत्ति तथा अर्थ आप्टे महाशय अपने संस्कृत-अँगरेजी कोष में इस प्रकार देते हैं—

उपनिषद् शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ

उपनिषद् f. [said to be from उप-नि-सद् 'Knowledge derived from sitting at the feet of the preceptor; but according to the Indian authorities, it means to destory ignorance by revealing the knowledge of the Supreme Spiritual cutting off the bonds of wordly existence'; य इमां ब्रह्मविद्यामुपयंत्यात्माभावेन श्रद्धा भक्ति पुरःसरः संतस्तेषां गर्भजन्म जरारोगाद्यनर्थवर्गं निशानयति परंवाब्रह्म गमयति अवि-

द्यादि संसार कारणं चा त्यंतमवसादयति बिनाशयति इत्युपनिषद् उपनिपूर्वस्य सरदेरेवमर्थं संस्मरणात् Sankara]

अर्थ—उपनिषद् यह शब्द स्त्रीलिंग है। इसकी व्युत्पत्ति उप-नि-पूर्वक सद् (बैठना) धातु से हुई है। इसका अर्थ है वह ज्ञान जो गुरु के चरणों के पास बैठ कर प्राप्त किया जाता है। किन्तु प्रमाण्य भारतीय विद्वानों के अनुसार इस शब्द का अर्थ है ब्रह्मज्ञान के उपदेश-द्वारा अविद्या का नाश कर सांसारिक जीवन-रूपी बन्धन का उच्छेद करना। शंकराचार्य के अनुसार आत्म-विस्मृति-पूर्वक श्रद्धा और भक्ति के साथ जो लोग ब्रह्मविद्या को प्राप्त करते हैं उनके गर्भवास, जन्मग्रहण, बुढ़ापा और रोगादि अनर्थों को जो नाश करती है तथा शेब्रह्म को प्राप्त कराती हुई उनकी अविद्या आदि को जो संसार के कारण हैं समूल नष्ट करती है वह, उप-नि-पूर्वक सद् धातु का ऐसा अर्थ-स्मरण होने से, उपनिषद् है।

पुनश्च—

उपनीयतमात्मानं ब्रह्मापास्तद्वयं यतः ।
निहन्त्यविद्यां तज्जंच तस्मादुपनिषद्भवेत् ॥१॥
निहत्यानर्थमूलं स्वा-विद्यां प्रत्यक्तया परम् ।
नयत्यपास्त-संभेद मतो वोपनिषद्भवेत् ॥२॥
प्रवृत्तिहेतून् निःशेषान् तन्मूलोच्छेदकत्वतः ।
यतो वसादयेद्विद्या तस्मादुपनिषद्भवेत ॥३॥

अर्थ—जो हमें ब्रह्म को प्राप्त कराती है, ब्रह्म और जीव के भेद-भाव को मिटाती है और अविद्या-जन्य जन्म-मरणादि विविध अनर्थों का उच्छेद करती है, वह उपनिषद् है। उक्त तीनों श्लोकों का प्रायः एक ही अर्थ है।

सभी वेद, आरण्यकों आदि की तरह, अपनी-अपनी उपनिषदें रखते हैं, यथा—

किस वेद की कौन सी उपनिषदें हैं

(१) ऋग्वेद की उपनिषदें हैं—कौषीतकी, ऐतरेय, शाकल और मैत्रायणी, वाष्कल उपनिषद् भी प्राप्त है।

(२) शुक्ल यजुर्वेद की उपनिषदें हैं—बृहदारण्यक (शतपथ ब्राह्मणान्तर्गत) और ईश। कृष्ण यजुर्वेद की उपनिषदें हैं—तैत्तिरीय और श्वेताश्वतर।

(३) सामवेद की उपनिषदें हैं—छान्दोग्य और केन।

(४) अथर्ववेद की उपनिषदें हैं—कठ, मुण्डक, माण्डूक्य, प्रश्न और नृसिंहतापिनी।

उपनिषदों की संख्या

ये कुल मिलकर १६ हुईं। यों तो जितनी वेद-शाखाएँ हैं उतनी ही उपनिषदें भी

होनी चाहिए। पर सभी उपनिषदों के नाम उपलब्ध नहीं हैं। वेबर साहब को उपनिषदों की एक सूची मिली थी जिनमें २३५ उपनिषदों के नाम थे। पर पीछे पता चला कि उक्त सूची की कुछ उपनिषदें भिन्न-भिन्न नामों से दो-दो बार परिगणित हो गई थीं। तत्पश्चात् आँका गया कि उपनिषदों की संख्या १७० है और समय-समय पर इसमें नई-नई उपनिषदों के नाम जोड़े जा रहे हैं। मुक्तिकोपनिषद् में रामचन्द्र ने १०८ उपनिषदों के नाम गिनाए हैं और हनूमान् से कहा है—

मुक्तिकोपनिषद्

सर्वोपनिषदां मध्ये सारमष्टोत्तरं शतम्।
सकृच्छ्रवणमात्रेण सर्वाघौघ निकृन्तनम् ॥४४॥
मयोपदिष्टं शिष्याय तुभ्यं पवन-नन्दन।
इदं शास्त्रं मयादिष्टं गुह्यमष्टोतरं शतम् ॥४५॥

अर्थ—हे पवननन्दन हनूमान्! तुम मेरे शिष्य हो। मैंने तुम्हें सभी उपनिषदों के सारभूत और गुप्त रखने योग्य इन १०८ उपनिषदों का उपदेश दिया है। इनके श्रवण मात्र से निःशेष पापों के समूह नष्ट हो जाते हैं।

इस मुक्तिकोपनिषद् में आगे चल कर यह बतलाया गया है कि किस वेद की कितनी उपनिषदें हैं। ऋग्वेद की ऐतरेय, कौषीतकी आदि १०; शुक्ल यजुर्वेद की ईश, बृहदारण्यक आदि १६; कृष्ण यजुर्वेद की कठवल्ली, तैत्तिरीय, आदि ३२; सामवेद की केन, छान्दोग्य-आदि १६ और अथर्ववेद की प्रश्न, मुण्डक आदि ३१ उपनिषदें हैं। ये कुल मिलकर १०८ हुईं। रामचन्द्र ने उपनिषदों की संख्या के विषय में हनूमान से स्पष्ट कह दिया है—

एकैकस्यास्तु शाखाया एकैकोपनिषन्मता।
तासामेका मृचांयेन पठ्यते भक्तितो मयि ॥१४॥
समत्सायुज्य पदवीं प्राप्नोति मुनि दुर्लभाम्।

अर्थ—वेदों की एक-एक शाखा के लिए एक-एक उपनिषद् मानी गई है। उनकी एक ऋचा भी यदि कोई मनुष्य मुझमें भक्ति-पूर्वक पढ़ ले तो वह मुनि जनों के भी लिए दुर्लभ सायुज्य मुक्ति को प्राप्त कर ले।

मुक्तिकोपनिषद् के उक्त विवरण से यह ध्वनि निकलती है कि उपनिषदें तो अनेक हैं, पर उनमें १०८ ही मुख्य हैं और इन १०८ में भी वास्तव में १० ही प्रधान हैं—

मुख्य उपनिषदें दस हैं

ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुंड-मांडुक्य-तित्तिरिः।
ऐतरेयं च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं तथा ॥

कर्म मार्ग तथा ज्ञान-मार्ग

उपनिषदों का लक्ष्य क्या है? किस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए उपनिषदों की रचना हुई? उपनिषद्-भिन्न वैदिक साहित्य केवल कर्म्म-मार्ग के प्रदर्शक हैं। वे इस बात का उपदेश करते हैं कि किस फल की प्राप्ति के लिए कौन-सा वेदोक्त कर्म्म करना चाहिए। पर कर्म्म अच्छा से अच्छा क्यों न हो; उसके सुख-रूपी फल का उपभोग करने के लिए जीव को शरीर-बन्धन में आना ही पड़ेगा। शरीर-धारण का अर्थ है जन्म-मरण, जरा-व्याधि आदि क्लेशों में फँसा रहना। जीव का यह चरम ध्येय नहीं है। उसका चरम ध्येय तो जन्म-मरण से छुटकारा पा जाना वा मोक्ष है जो वैदिक कर्म्मों के सम्पादन से कदापि लभ्य नहीं हो सकता। बुरे और भले कर्म्म जीवात्मा को आवागमन के खंभे में बाँधे रखने के लिए दो जंजीरें हैं। दोनों में अन्तर केवल इतना ही है कि एक लोहे का है तो दूसरा सोने का। पर दोनों ही जीव के लिए बन्धन हैं। इस बन्धन से जीवात्मा को किस प्रकार छुटकारा मिल सकता है उसका बतलाना उपनिषदों का काम है। उपनिषदें बतलाती हैं कि जीवात्मा को कर्म्म-निरपेक्ष होकर केवल ब्रह्म के निदिध्यासन से ही उसे शाश्वत शान्ति अथवा यों कहिए जन्म-मरण-रूपी क्लेश से नजात मिल सकता है; अन्यथा नहीं। जो वेदों का अन्त अर्थात् वेदान्त है वही उपनिषद् है। वेदान्त और उपनिषद्, दोनों का ही एक विषय है और वह विषय है ब्रह्म-ज्ञान। दोनों का लक्ष्य है उस उपदेश को देना जिसके द्वारा जीव ब्रह्म से अपनी अभिन्नता का निदिध्यासन करता हुआ उसमें तादात्म्य प्राप्त कर ले। परमात्मा के स्वरूप में लीन हो जाना ही जीव का परमपुरुषार्थ है। यही मुक्ति वा मोक्ष है। इसी का नाम ज्ञान-मार्ग है। उपनिषदों की शिक्षा का सार अद्वैतानुसार यही है कि सारा जगत् असत्य है; केवल ब्रह्म ही सत्य है; जीव और ब्रह्म में कोई तात्विक भेद नहीं। यह जो हमें भेद प्रतीयमान हो रहा है वह केवल अविद्या-जन्य है। वस्तुतः विश्व का कोई भी पदार्थ ब्रह्म-भिन्न नहीं है। जीव और ब्रह्म की एकता का महसूस कर लेना ही ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति और मोक्ष है। उपनिषदों के निम्नलिखित उद्धरणों पर दृष्टिपात कीजिए और षष्ठम् परिच्छेद में वेदान्त-विषयक अद्वैतादि विविध मत-भेदों पर विचार कीजिए।

ईशोपनिषद्

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥४॥
तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्ति के।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥५॥

अर्थ—ब्रह्म एक है। नहीं चलता हुआ भी वह मन से भी अधिक वेगवान् है। उसको देवगण वा इन्द्रियगण नहीं पाते; यद्यपि व्यापक होने से वह उनमें पहले से ही पहुँचा हुआ है। वह ठहरा हुआ भी दौड़ते हुए अन्य पदार्थों का उल्लंघन कर जाता है। उसमें सूत्रात्मा वायु कर्म्मों को धारण करता है; यद्वा अन्तरिक्षस्थ वायु जलों को धारण करता है ॥ ४ ॥ वह चलता है; वह नहीं चलता। वह दूर है; वही पास है। वह इस सब (जगत्) के भीतर है; वही इस सब के बाहर है।

नोट—निःसन्देह किसी भौतिक एवं परिच्छिन्न पदार्थ में ऐसे दो विरुद्ध धर्म्मों का होना असम्भव है; परन्तु ब्रह्म के लिए, जिसकी सत्ता का कहीं पर भी अवरोध नहीं, यह परस्पर व्याघात नहीं कहलाता।

केनोपनिषद्

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति नो मनो नविद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्य-देव तद्विदितादथो अविदितादधि। इति शुश्रुम पूर्वेषां न स्तद्व्याचचक्षिरे ॥१३॥

अर्थ—उस ब्रह्म में आँख नहीं जा सकती, एवं वाणी नहीं पहुँचती, न मन ही पहुँचता है। अतएव हम उसको नहीं जानते और न विशेषतः जान सकते हैं, जिससे शिष्यादि को उपदेश किया जाय। वह ब्रह्म जानी हुई वस्तु में भिन्न है और बेजानी हुई वस्तु से ऊपर है। इस प्रकार हम पूर्वाचार्यों के वचन सुनते हैं जो हमारे प्रति वे कह गए हैं।

नोट—यह जानी हुई बात है कि प्रत्येक इन्द्रिय अपने विषय के सिवाय दूसरी इन्द्रिय के अर्थ को ग्रहण करने में असमर्थ है। अतः जो वस्तु अतीन्द्रिय है उसमें इनकी गति क्यों कर हो सकती है? यही कारण है कि हम ब्रह्म को विशेषरूप से क्या, सामान्य प्रकार से भी नहीं जान सकते और जब हम स्वयं अबोध हैं तो उसका उपदेश दूसरों को क्या कर सकते हैं? ब्रह्म, जो कुछ हम जानते हैं उससे भिन्न है और जिन्हें हम नहीं जानते उनसे वह ऊपर है; अर्थात् हमारी नहीं जानी हुई वस्तुओं में वह सब से प्रधान है। यद्वा कार्य-रूप जगत् से, जिसे हम जानते हैं, ब्रह्म भिन्न है और कारण रूप प्रकृति से जो हमें अविदित है ऊपर अर्थात् उसका अधिष्ठाता है। ब्रह्म का ऐसा ही निरूपण पूर्वाचार्यों से हमने सुना है।

कठोपनिषद्

अणो रणीयान् महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितंगुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीत शोको धातुःप्रसादान्महिमान मात्मनः ॥२ ।२०॥

अर्थ—ब्रह्म सूक्ष्म जीवात्मा से भी अत्यन्त सूक्ष्म है और आकाशादि बड़े पदार्थों से भी अधिक बड़ा है। वह इस प्राणी (मनुष्य) के हृदय-गह्वर वा बुद्धि में स्थित है। ब्रह्म की उस महिमा को बुद्धि के विमल होने से कामना-रहित और विगतशोक प्राणी देखता है।

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः ।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥२ । २१॥

अर्थ—ब्रह्म बैठा हुआ भी दूर पहुँच जाता है और सोया हुआ भी सब जगह चला जाता है। उस आनन्द-रूप देव को मुझसे भिन्न कौन जानने के योग्य है।

नोट—उक्त वचन नाचिकेता के प्रति यम का है। यहाँ 'आसीन' शब्द से अचल और 'शयान' शब्द से व्यापक का अर्थ लिया जाता है। अचल का दूर पहुँचना और व्यापक का सब ओर जाना असंभव-सा प्रतीत होता है। इसका समाधान यह है कि यद्यपि ब्रह्म स्वरूप से अचल और व्यापक है तथापि व्याप्य पदार्थों की गत्यादि क्रियाओं का आरोप उसमें किया गया है; क्योंकि बिना ब्रह्म की सत्ता के स्वतः किसी भी पदार्थ में गति और चेष्टा आदि क्रियाएँ नहीं होतीं।

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति ।
नमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥५ । १२॥

अर्थ—जो ब्रह्म एक है; जो सब जगत् को अपने वश में रखता है; जो सब का अन्तर्यामी है और जो समष्टिरूप से एक प्रधान कारण को व्यष्टिरूप से नाना प्रकार का करता है। जीवात्मा में स्थित उस परमात्मा को, जो ध्यानशील पुरुष देखते हैं उनको ही सनातन सुख अर्थात् मोक्ष-सुख प्राप्त होता है, अन्य संसारी पुरुषों को नहीं।

नित्यो नित्यानां चेतो चेतनानामेको वहूनां योविदधाति कामात् ।
नमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वतीनेतरेषाम् ॥५ । १३॥

अर्थ—ब्रह्म अनित्य पदार्थों में नित्य, चेतनों में भी चेतन और बहुतों में एक अर्थात् सर्वव्यापक है जो जीवों के कर्म्मफलों का विधान करता है। उस अन्तर्यामी को जो ध्यानशील जन देखते हैं उन्हीं को परम शान्ति मिलती है, अन्यों को नहीं।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्त मनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥५ । १५॥

अर्थ—उस ब्रह्म में सूर्य नहीं प्रकाश कर सकता; न कि चन्द्र, तारागण और न ये बिजलियाँ ही प्रकाश कर सकतीं हैं, तो यह भौतिक अग्नि कहाँ से प्रकाश करे। उसी स्वयं प्रकाशमान ब्रह्म से ही सूर्यादि सभी प्रकाशित होते हैं। उसी के प्रकाश से यह सब (जगत्) स्पष्ट रूप से प्रकाशित होता है।

मुण्डकोपनिषद्

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तद पाणिपादं ।
नित्यं विभुंसर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं तद्भूत योनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥१।१।६॥

अर्थ—जो (ब्रह्म) पाँचों ज्ञानेन्द्रियों का अविषय है, जो पाँचों कर्म्मेन्द्रियों से ग्रहण न किया जा सके, जिसका कोई मूल कारण न हो, जिसका शुक्ल-कृष्ण आदि कोई वर्ण न हो, जो आँख और कान से रहित हो, जिसके हाथ और पाँव न हों, और जो आकाशवत् सर्वव्यापक और अत्यन्त सूक्ष्म हो, उस ह्रास-वृद्धि से रहित, अविनाशी, देशकाल से अनवच्छिन्न और चराचर जगत् के कारण को विवेकी जन सर्वत्र देखते हैं।

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति ।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथा क्षरात् संभवतीह विश्वम् ॥१।१।७॥

अर्थ—जैसे मकड़ी जाला बनाती और समेट लेती है; जैसे पृथ्वी में अन्नादि औषधियाँ उत्पन्न होती हैं; जैसे जीव के विद्यमान होने से केश-लोम आदि उत्पन्न होते हैं, वैसे ही उस अविनाशी पुरुष से यहाँ संसार उत्पन्न होता है।

श्वेताश्वतरोपनिषद्

अपाणि पादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥३ । १६ ॥

अर्थ—वह ब्रह्म बिना हाथ का होता हुआ भी पकड़ता है, बिना पैर का होता हुआ भी शीघ्र चलता है, बिना आँख का होता हुआ भी देखता है और बिना कान का होता हुआ भी सुनता है। वह जानने योग्य विषयों को जानता है; पर उसका जानने वाला कोई नहीं है। पण्डितगण उसे परम पुरुष तथा परमात्मा कहते हैं।

वेदाहमेतमजरं पुराणं सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात् ।
जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम् ॥३ । २१॥

अर्थ—मैं उस ब्रह्म को जानता हूँ जो कभी बूढ़ा नहीं होता, जो अति ही प्राचीन है, जो सभी का आत्मा है, जो व्यापक होने से सभी में विद्यमान है, जो अजन्मा है और जिसे ब्रह्मवादीगण नित्य अर्थात् सदा रहने वाला मानते हैं।

द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्य पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥४।६॥

अर्थ—दो पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा) जो सदा एक साथ रहते और एक ही नाम के धारण करनेवाले हैं, एक ही वृक्ष (शरीर) पर निवास करते हैं। उनमें से एक (जीवात्मा) तो उक्त वृक्ष के मीठे फल (कर्म-फल) का उपभोग करता है, पर दूसरा (परमात्मा) साक्षी रूप होकर चारों ओर देखता रहता है।

शंकराचार्य और मंडन मिश्र

नोट—शंकराचार्य अद्वैतमत के प्रवर्त्तक थे। अतः मंडन मिश्र ने शास्त्रार्थ में अद्वैतवाद का खंडन और द्वैतवाद का मंडन करने के लिए उपनिषद् के उक्त वचन का प्रमाण दिया

था। इसके उत्तर में शंकराचार्य ने यह कहा था कि यहाँ 'द्वासुपर्णा' शब्दों से जीवात्मा और परमात्मा अभिप्रेत नहीं हैं, बल्कि अन्तःकरण और जीवात्मा अभिप्रेत हैं। यहाँ जीवात्मा को अन्तःकरण से अलग बताकर उसका सब प्रकार के भोगों से अलग रहना बतलाया गया है; अर्थात् भोगने वाला पक्षी अन्तःकरण है और जीवात्मा उसको देखता है। इस पर मंडन मिश्र ने यह आक्षेप किया कि अन्तःकरण जड़ होने के कारण सुख-दुख रूपी कर्म-फल का भोग नहीं कर सकता, जिसका निराकरण शंकर ने यह कहकर किया कि जैसे जलाने की शक्ति स्वयं नहीं रखता हुआ भी लोहा अग्नि के संयोग से जलाने वाला हो जाता है वैसे ही जड़ अन्तःकरण भी चेतन जीवात्मा के संयोग से दुख-सुख का भोगने वाला हो जाता है। उक्त मंत्र के आगेवाला मंत्र लीजिए जो इसी प्रकार जीव को ब्रह्म से भिन्न बतलाता है—

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोक ॥४।७॥

अर्थ—शरीर रूपी इस एक ही वृक्ष में ब्रह्म के साथ निवास करता हुआ जीव सांसारिक बन्धनों में फँसकर अपनी असमर्थता के कारण शोक और मोह को प्राप्त होता है। पर जब वह अनेक साधनों और कर्मों से सेवित दूसरे ईश्वर और उसकी महिमा को देखता है तो वह शोक से मुक्त हो जाता है। इसी प्रकार जीव और ब्रह्म को एक दूसरे से भिन्न बतलाने वाले कठोपनिषद् के नीचे लिखे हुए मंत्र को देखिए—

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य (स्वकृतस्य) लोके गुहां प्रविष्टौ परमेपरार्द्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पंचाग्नयो येच त्रिणाचिकेता ॥१।३।१॥

अर्थ—सबसे उत्तम स्थान हृदयाकाश तथा बुद्धि में निवास करते हुए जीवन और ब्रह्म अपने कर्मों का फल भोगते हैं। वे दोनों एक दूसरे से छाया और प्रकाश की तरह भिन्न हैं। यह बात ब्रह्म के जाननेवाले गृहस्थ (पंचाग्नयः अर्थात् जो पाँच यज्ञों के करने वाले हैं) और कर्मकाण्डी (त्रिणाचिकेताः अर्थात् जिन्होंने तीन बार नाचिकेता अग्नि का सेवन किया है) दोनों ही कहते हैं।

परस्पर विरोधिनी श्रुतियाँ

नोट—ऐसी-ऐसी परस्पर विरोधिनी श्रुतियों का सामंजस्य (संगति) शंकराचार्य तथा उनके मतानुयायी कह कर किया करते हैं कि यहाँ जो जीव और ब्रह्म में अनैक्य दिखलाया गया है वह केवल लौकिक है पारमार्थिक नहीं, व्यावहारिक है, तात्त्विक नहीं। उपनिषदों का सिद्धान्त तो इन वचनों में बतलाया गया है—'जीवो ब्रह्मैव नापरः', 'सर्वंखल्विद ब्रह्म', 'तत्त्वमसिश्वेतकेतो!' इत्यादि। और कठोपनिषद के उक्त मंत्र में जो ब्रह्म को भी कर्म-फल का भोगने वाला कहा गया है उसका अभिप्राय केवल जीव और ब्रह्म दोनों का कर्म-

फल के साथ सम्बन्ध दिखलाना है; क्योंकि जीव भोक्ता और ब्रह्म भोजयिता होने से दोनों ही कर्म से सम्बद्ध हैं ।

हिन्दू धर्मशास्त्र परस्पर विरोधी हैं

पाठकों को यह कभी भी नहीं भूलना चाहिए कि हिन्दुओं के धर्म-शास्त्र परस्पर विरोधी वचनों से भरे पड़े हैं । इसका एक मात्र यह कारण है कि ये धर्मशास्त्र किसी एक मस्तिष्क की उपज नहीं हैं । जिसके जी में जो आया, कह दिया । कभी-कभी एक ही व्यक्ति की रचना में परस्पर विरोधी बातें पाई जाती हैं । जिसने जिस मत को एक बार स्वीकार कर लिया वह उस पर हठवश डटा रहता है और अपनी केवल वाचालता से अपने विरोधियों को परास्त कर डालता है । शंकर और मंडन के बीच शास्त्रार्थ रूपी झगड़ा लगाने वाली ये ही अन्योन्य-विरोधिनी श्रुतियाँ हैं जिन्हें हम प्रभु की वाणी मानते हैं । दोनों शास्त्र देखने से यह निर्विवाद सा जान पड़ता है कि दोनों ही अपने-अपने पक्ष के ठीक थे; असल बात क्या है, जीव और ब्रह्म एक हैं वा दो, अथवा ब्रह्म नामक कोई तत्व है या नहीं, यह तो खुदा ही जाने; पर चूँकि शंकर अधिक वाचाल और तर्क-चतुर थे, अतः भोले-भाले तथा सीधे-सपाटे मंडन को मुँहकी खानी पड़ी और शंकर के चकमे में आकर उन्हें गृहस्थ जीवन के सारे सुखों को तिलाञ्जलि देते हुए दर-दर का भिखारी बनना पड़ा । और जब स्वयं मंडन का यह हाल हुआ तो उनकी स्त्री सरस्वती (भारती), शंकर जैसे झाड़ बाँधने वाले विपक्षी के सम्मुख किस खेत की मूली थी ? वह बिचारी अपनी नारीसुलभ मन्द भाषिता के कारण उनके सामने कब तक टिक सकती थी ?

तैत्तिरीयोपनिषद्

> सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् ।
> सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता ॥ २।१॥

अर्थ—जो ब्रह्म को सत्य-स्वरूप निखिल ज्ञान का भण्डार, अनन्त, परमाकाश (हृदय) के गह्वर में रहने वाला जानता है वह सर्वज्ञ ब्रह्म के साथ सब कामनाओं को भोगता है ।

उपनिषदों के पूर्वोद्धृत वचनों से पाठकों को उनके विषय का अनुमान अवश्य हो गया होगा, अतः उनकी चर्चा समाप्त होती है । जिन्हें उनका सविस्तार ज्ञान प्राप्त करना अभीष्ट हो वे उनका सांगोपांग अध्ययन करें ।

सूत्र-ग्रन्थ

जब कर्म-काण्ड विषयक साहित्य इतना विशाल और विस्तीर्ण हो गया कि उसका स्मरण रखना मानव-शक्ति का उल्लंघन करने लगा तो वैदिक ऋषियों ने उन्हें सूत्रों के रूप में ढाल दिए । सूत्र उन छोटे-छोटे वाक्यों को कहते हैं जिनमें शब्द तो थोड़े रहते हैं,

पर वे अर्थ से परिपूर्ण रहते हैं। आप्टे महाशय के संस्कृत-अँगरेजी कोष में 'सूत्र' शब्द का अर्थ और सूत्र का लक्षण इस प्रकार दिया है—

सूत्र शब्द के अर्थ और लक्षण

सूत्रं (सूत्र+अच्)...7. A short rule or precept, an aphorism. 8. A short or concise technical sentence used as a memorial rule, it is thus defined—

स्वल्पाक्षरमसंदिग्धं सार वद्विश्वतो मुखम्।
अस्तोभमनवद्यंच सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥

9. Any work or manual containing such aphoristic rules

अर्थ—सूत्र धातु से अच् प्रत्यय करने पर 'सूत्र' शब्द बनता है। इसका अर्थ है—७. एक छोटा नियम वा ८. एक वाक्य जो किसी नियम को स्मरण रखने के काम में आता हो; वा ९. एक रचना या हस्त पुस्तिका जिसमें ऐसे-ऐसे छोटे नियम दिए गए हों। इसका लक्षण उक्त श्लोक में इस प्रकार बतलाया गया है—जिसमें अक्षर थोड़े हों, जो सन्देह-रहित हो, जिसमें सार हो, जिसका प्रयोग सर्वत्र हो सके, अप्रतिहित हो और जिसमें कोई दोष न हो, उसे ही सूत्र जानने वाले पण्डित गण सूत्र कहते हैं।

सूत्र शब्द के उक्त अर्थ और लक्षण से स्पष्ट है कि सभी विषयों के ग्रन्थ सूत्रों के द्वारा रचे जा सकते हैं और रचे भी गए हैं; पर यहाँ अन्य विषयों के सूत्रों में कोई प्रयोजन नहीं है, हमारा तो यहाँ केवल वैदिक कर्मकाण्ड विषयक सूत्रों से ही प्रयोजन है। अतः यहाँ उन्हीं पर विचार किया जायगा।

त्रिविध सूत्र और उनके विषय

कर्मकाण्ड विषयक सूत्र तीन प्रकार के होते हैं—श्रौत सूत्र, गृह्य सूत्र और धर्म सूत्र। ये तीनों प्रकार के सूत्र मिलकर कल्प सूत्र कहलाते हैं। कल्प छः वेदांगों में से एक है। वह कर्मकाण्ड का आगार है। श्रुतिनिहित यज्ञादि कार्य का विषय श्रौत-सूत्र, गृह कार्य सम्पादनार्थ पूर्व स्थापित वह्निजन्य कार्यों का आधार गृह्य-सूत्र और विविध पारमार्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक कर्त्तव्यों का आधार धर्म सूत्र है।

श्रौत सूत्रों के कई पुराने याज्ञिक कार्य लुप्त हो गए हैं। गौतम श्रौत सूत्र का यज्ञ चतुर्दश एक प्रकार से अप्रचलित है।

गृह्य-सूत्र का विषय विवरण

श्रौत सूत्र की अपेक्षा गृह्य सूत्र के यज्ञ जात (नित्य कर्मादि) परमावश्यक है; क्योंकि गृहस्थों के पाक यज्ञादि अभी भी हिन्दुओं के यहाँ किसी न किसी रूप में अभ्यर्थित हैं।

पाक यज्ञ सात प्रकार के होते हैं—१. पितृश्राद्ध, २. दार्शपौर्णमास पार्वण, ३. अष्टका श्राद्ध ४. श्रावणी यज्ञ, ५. आश्वयुजी यज्ञ, ६. आग्रहायणी यज्ञ (नवान्न) और ७. चैत्री यज्ञ।

पाँच महायज्ञ

गृह्य सूत्र में पाँच महायज्ञों का भी उल्लेख है। पाँच महायज्ञ ये हैं—१. ब्रह्म यज्ञ (ऋषियज्ञ), २. देव यज्ञ, ३. भूत यज्ञ, ४. पितृ यज्ञ और ५. मनुष्य यज्ञ (अतिथि यज्ञ)।

सोलह संस्कार

गृह्य सूत्र के अनुसार १६ संस्कार होते हैं—१. गर्भाधान, २. पुंसवन, ३. सीमन्तोन्नयन ४. जात कर्म, ५. नामकरण, ६. निष्क्रमण, ७. अन्न प्राशन, ८. चूड़ाकरण ९. उपनयन १०. वेदाध्ययन, ११. महाव्रत, १२. उपनिषद् व्रत, १३. गोदान व्रत, १४. समावर्त्तन, १५. विवाह और १६. अन्त्येष्टि।

कल्प सूत्रकारों ने १४ प्रकार के श्रौत यज्ञ, सात प्रकार के पाक यज्ञ, पंच महायज्ञ और सोलह प्रकार के संस्कारों का उल्लेख किया है जिससे ये कुल मिलाकर ४२ होते हैं।

अब यहाँ पर यह बतलाया जायगा कि किस वेद के कौन से धर्म सूत्रादि ग्रन्थ हैं—

ऋग्वेद के सूत्र ग्रन्थ

ऋग्वेद के दो कल्प सूत्र हैं—(१) आश्वलायन सूत्र और (२) शांख्यायन सूत्र। यहाँ कल्पसूत्र से तीनों ही प्रकार के, अर्थात् श्रौत्र, गृह्य और धर्म सूत्र समझने चाहिए।

आश्वलायन श्रौत सूत्र में बारह अध्याय और श्रौत यज्ञजात का विवरण है। ऐतरेय ब्राह्मण रण्यकादि में जो समस्त श्रौत-यज्ञ का उल्लेख हुआ है उसके ही विधान आदि के सामासिक रूप से निर्दिष्ट करना इस श्रौत सूत्र का लक्ष्य है।

आश्वलायन गृह्य सूत्र चार अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में विवाह, अमा-पूर्णिमा-पार्वण, पशु यज्ञ, चैत्य यज्ञ, गर्भाधन, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण अन्नप्राशन, चूड़ाकरण, गोदानकर्म, उपनयन और ब्रह्मचर्याश्रम का विवरण है। द्वितीय में श्रावणी, अश्वयुजी, आग्रहायणी, अष्टका, गृहनिर्माण, और गृह प्रवेश का विवरण है। तृतीयाध्याय में प्रतिदिन सम्पादनीय पंचयज्ञ की कथा है। चतुर्थाध्याय में अन्त्येष्टि और श्राद्ध का विवरण है।

शाख्यायन श्रौत सूत्र के अठारह अध्याय हैं। श्रौत यज्ञादि आश्वलायन सूत्र के सदृश ही है; केवल वाजपेय, राजसूय, अश्वमेध, पुरुषमेध और सर्वमेध के ऊपर इसने कुछ अधिक प्रकाश डाला है।

शांख्यायन गृह्य सूत्र के ६ अध्याय हैं। विषय पूर्वोक्त सूत्रों की भाँति ही है। केवल द्वितीय अध्याय में ब्रह्मचर्य का विवरण, तृतीय में वृषोत्सर्ग और षष्ट में प्रायश्चित्त विधान विशेष है।

गोविन्द स्वामी के मत से वासिष्ठ धर्म सूत्र ही ऋग्वेदीय कल्प सूत्रों का मध्य स्थान पाता है। इसके ३० अध्याय हैं।

कृष्ण यजुर्वेद के सूत्रग्रन्थ

कृष्ण यजुर्वेद के कल्प सूत्रों में मानव, बौधायन, भारद्वाज, आपस्तम्ब, वैखानस, हिरण्यकेशी (सत्याषाढ़), कठ, लौगाक्षि, कात्यायन, वाधुल, मैत्रावरुणी और छागल श्रौत सूत्र प्रसिद्ध हैं।

बौधायन के श्रौत सूत्र में १६ प्रश्न हैं। इसके गृह्यसूत्र में ४ तथा धर्म सूत्र में भी ४ ही प्रश्न हैं।

(ग) शुक्ल यजुर्वेद के सूत्र-ग्रन्थ

शुक्ल यजुर्वेद के कात्यायन और वैजवाप श्रौत सूत्र और पारस्कर तथा कातीय गृह्य सूत्र हैं। इस कात्यायन श्रौत सूत्र के प्रथम अठारह अध्याय शतपथ ब्राह्मण के नौ काण्डों के क्रमानुवर्त्ती हैं और अवशिष्ट अध्यायों में अश्वमेध, नरमेध तथा सौत्रामणि आदि का वर्णन है।

पारस्कर गृह्य सूत्र के तीन काण्ड हैं। प्रथम में विवाहादि, द्वितीय में चूड़ाकरणादि, एवं तृतीय में आग्रहायणी, अष्टका और वृषोत्सर्ग के विषय वर्णित हैं।

(घ) सामवेद के सूत्र-ग्रन्थ

समावेद के ये श्रौत सूत्र हैं—पंचविंशीय, लाट्यायन, मशक, ब्राह्मण, अनुपद सूत्र, पुष्प सूत्र (गोभिल-कृत) ताण्ड्य-लक्षण, उपग्रन्थ, कल्पानुपद, अनुस्तोत्र और क्षुद्रसूत्र हैं।

सामवेद के गृह्य सूत्रों में गोभिल गृह्य सूत्र, कात्यायन कर्म प्रदीप, खादिर गृह्य सूत्र, पितृमेध सूत्र और जैमिनी सूत्र प्रसिद्ध हैं।

गौतम कृत धर्म सूत्र इस वेद से सम्बन्ध रखता है। इसमें २८ अध्याय हैं।

(ङ) अथर्ववेद के सूत्र-ग्रन्थ

इस वेद के श्रौत सूत्रवैतान, कौशिक, नक्षत्र-कल्प, आंगिरस और शान्ति-सूत्र हैं। इस वेद के गृह्य और धर्म सूत्रों का पता नहीं; अतः उन्हें नहीं लिखा।

अथ पंचम परिच्छेद

वेदांग और उपवेद

सहायक वैदिक साहित्य की आवश्यकता

यहाँ तक तो प्रकृत वैदिक साहित्य (Vedic Literature Proper) की चर्चा हुई। अब इस परिच्छेद में सहायक वैदिक साहित्य (Auxiliary Vedic Literature) की चर्चा की जायगी; क्योंकि बिना सहायक वैदिक साहित्य के अध्ययन किये प्रकृत वैदिक साहित्य का अध्ययन पूरा नहीं होता। प्रसंग-प्राप्त पहले वेदांगों की तत्पश्चात् उपवेदों की चर्चा होगी।

(क) वेदाङ्ग

जैसे शरीर के हाथ, पैर आदि अंग हैं जिनके बिना हम कोई काम नहीं कर सकते; वैसे ही वेदों के भी कुछ अंग होते हैं जिनके बिना हम कोई भी वैदिक कृत्य नहीं कर सकते। वैदिक कृत्यों के यथावत् सम्पादनार्थ हमें इन अंगों का ज्ञान रखना परमावश्यक है। बिना इन अंगों को जाने न हम किसी वैदिक शब्द का शुद्ध अर्थ, न उसका शुद्ध उच्चारण और न किसी वेद मंत्र का शुद्ध प्रयोग ही कर सकते हैं। और जब तक ये शुद्धता-पूर्वक नहीं किये जाते तब तक हमें किसी भी वैदिक कृत्य का फल सम्यक् रूप से प्राप्त नहीं होता।

अंग शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ

'अंग' शब्द गत्यर्थक 'गम्' धातु से 'गन्' प्रत्यय लगाने से बनता है। गमति गच्छतीति अंगम् अर्थात् जो चले-फिरे, हिले-डोले, वह अंग है। वैदिक संस्कृत में इसका वर्त्तमान-कालिक रूप अमिति वा अमीति होता है। निरुक्त के अनुसार अंग अंगनात् अंचनात् वा, यह अंग शब्द का निर्वचन है। यह निर्वचन भी गत्यर्थक ही है। वेदांग छः हैं जैसा कि निम्नलिखित श्लोक से मालूम होता है—

शिक्षा आदि छः वेदांग हैं

शिक्षा कल्पोव्याकरणं निरुक्तं छन्दसांचयः।
ज्योतिसामयनं चैव वेदांगानि षड़ेव तु॥

अर्थ—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्यौतिष ये छः वेदांग हैं। याद

रखना चाहिए कि शिक्षा आदि किन्हीं ग्रन्थों के नाम न होकर केवल विषय-नाम हैं। इन विषयों के सभी ग्रन्थ वेदांग हैं।

(१) शिक्षा

शिक्षा वह वेदांग-शास्त्र है जिसके अध्ययन करने से हमें वैदिक स्वरों और शब्दों का शुद्धता-पूर्वक उच्चारण करने का ज्ञान प्राप्त होता है। स्वरों के जो ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत ये तीन भेद किये जाते हैं वे व्याकरण शास्त्र के विषय हैं। उनका आधार उच्चारण-काल, अर्थात् जितना समय उनके उच्चारण में लगता है, वह समय है या शिक्षा-शास्त्र के विषय-भूत स्वर कोई और वस्तु हैं। उनका आधार उच्चारण-बल (Accent), अर्थात् जिस बल के साथ हम उनका उच्चारण करते हैं वह बल है। इनके भी तीन भेद हैं—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। पाणिनि ने उनके लक्षण क्रमशः ये बतलाए हैं—'उच्चैरुदात्तः', 'नीचै रनुदात्तः' और 'समाहारः स्वरितः'; अर्थात् जिसके उच्चारण-काल में आवाज को ऊँची की जाय वह उदात्त, जिसके उच्चारण-काल में आवाज को धीमी की जाय वह अनुदात्त तथा जिसके उच्चारण-काल में आवाज को न ऊँची, न धीमी; बल्कि दोनों के बीच में रखी जाय अर्थात् जिसका उच्चारण समान (साधारण) रीति से किया जाय वह स्वरित होता है। उदात्त का कोई चिह्न नहीं है। अनुदात्त का चिह्न एक छोटी आड़ी लकीर (—) और स्वरित का चिह्न एक पाई (।) है। अनुदात्त सम्बन्धित अक्षर के नीचे और स्वरित सम्बन्धित अक्षर के ऊपर लगाया जाता है। स्वर के भेद से अर्थ-भेद हो जाता है और अर्थ भेद से महा अनिष्ट हो जाता है। उदाहरण के लिए 'इन्द्र शत्रु' शब्द को लीजिए। स्वर भेद से इसके तीन अर्थ हो सकते हैं; यथा—इन्द्रस्य शत्रुः (षष्ठी-तत्पुरुष); अर्थ हुआ इन्द्र का शत्रु जो व्यक्ति हो वह व्यक्ति। इन्द्रः शत्रुः यस्य स (बहुव्रीहि); अर्थ हुआ इन्द्र जिसका शत्रु हो वह व्यक्ति। इन दोनों अर्थों के अनुसार इन्द्र और शत्रु दोनों दो भिन्न व्यक्ति हैं। अब इन दोनों व्यस्त शब्दों के बीच कर्मधारय समास कीजिए—इन्द्र श्चासौ शत्रुश्च अर्थात् जो इन्द्र है वही शत्रु भी है। यहाँ इन्द्र और शत्रु इन दोनों शब्दों से एक ही व्यक्ति का बोध होता है। इन्द्र शत्रु, इस समस्त शब्द में चार स्वर हैं। यदि चतुर्थ स्वर उदात्त हो तो तत्पुरुष का, यदि प्रथम उदात्त हो तो बहुवीहि का, और यदि दूसरा और चौथा दोनों उदात्त हो तो कर्मधारय का अर्थ निकलता है। कथा मशहूर है—यथेन्द्र शत्रुः स्वरतोऽपराधात्'; अर्थात् स्वर दोष से ही इन्द्र वृत्रासुर का शत्रु (शातयिता = घातक) हो गया। शिक्षा-शास्त्र पर इस वेदान्त-प्रसंग के अन्त में पुनः विचार किया गया है। वहाँ देख लीजिए।

(२) कल्प

कल्प-सूत्रों को ही कल्प (क्लृप् + घञ्) कहते हैं। इसका विवरण अभी चतुर्थ

परिच्छेद के अन्त में दे आए हैं। वहीं देख लीजिए। यहाँ उसको फिर से दुहराने की आवश्यकता नहीं है। कल्प वह वेदांग-शास्त्र है जिसके द्वारा हमें विविध प्रकार के श्रौत, गृह्य तथा राजनीतिक और सामाजिक कर्त्तव्यों के पालन करने की विधि मालूम होती है। यज्ञादि कार्य श्रौत, पाकयज्ञ, पंच महायज्ञ तथा सोलह संस्कार गृह्य, एवं हमारे विविध राजनीतिक और सामाजिक व्यवहार धार्मिक कर्त्तव्य हैं।

व्याकरण शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ

व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दाः अनेनेति व्याकरणम् (वि + आ + कृ + ल्युट्); अर्थात् जिस वेदांग शास्त्र से शब्दों की रचना की जाय वह व्याकरण है। जिस तरह संस्कृत भाषा दो प्रकार की होती है, एक वैदिक और दूसरी लौकिक, उसी तरह उसका व्याकरण भी दो प्रकार का होता है, एक वैदिक और दूसरा लौकिक, जो अपने-अपने संस्कृत से सम्बन्ध रखते हैं।

प्रातिशाख्य

वैदिक व्याकरण को प्रातिशाख्य कहते हैं। पाणिनिकृत व्याकरण की तरह ही इसके भी वर्णन क्रम हैं; विषय-प्रवेश भी वैसा ही है। पर पाणिनि की तरह इसमें प्रत्येक शब्द और धातु का साधन नहीं है; केवल विशद रूप में स्वर-विषयक बातें ही विस्तीर्ण की गई हैं। शब्दों की सिद्धि पर तो बहुत ही संक्षेप में प्रकाश डाला गया है। किसी तरह वैदिक ऋचाओं के प्रयोगों को सिद्धमात्र कर देना ही प्रातिशाख्य का मुख्य उद्देश्य है। प्रतृण और निर्भुज आदि पाठ-प्रणालियों का उच्चारण करते समय जो कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं, उन्हें लक्ष्य कर ही प्रातिशाक्यकार ने सूत्र बनाये हैं जिससे उनका उच्चारण सुख-पूर्वक हो सके। इसके वर्णनीय विषयों में एक विषय छन्द का भी है जिसका स्पर्शमात्र भी पाणिनि आदि ने नहीं किया है।

प्रातिशाख्यों के रचयिता

ऋग्वैदिक प्रातिशाख्य को महर्षि शौनक ने रचा है, जिसका भाष्य उब्बट ने किया है। घुणाक्षर न्याय से इसमें सामवेद के ऊपर भी थोड़ा प्रकाश डाला गया है। कई प्रातिशाख्य हैं जिनमें चारों संहिताओं के शब्दों का विवरण है।

उनकी रचना की आवश्यकता

ऋषियों ने जिस भाषा में वेद मंत्रों की रचना की थी वही उनकी शुद्ध मातृभाषा थी। पर काल पाकर वेदों की उक्त साहित्यिक भाषा में तत्कालीन बोल-चाल के अपभ्रष्ट शब्द भी घुसने लगे जिसका प्रमाण वेदों में 'नवधा के स्थान पर नीधा' और 'लुब्ध' के स्थान पर 'लोध' का पाया जाना है। अतः उन्हें अपनी मातृभाषा के शुद्धरूप की रक्षा की चिन्ता हुई और उसी चिन्ता का फल प्रातिशाख्य के रूप में प्रकट हुआ। इसमें कोई भी सन्देह

नहीं कि हमारे यहाँ व्याकरण-रचना का प्राचीन-तम प्रयत्न प्रातिशाख्यों के रूप में किया गया। प्रातिशाख्य का अर्थ है, वेदों की भिन्न-भिन्न शाखाओं अथवा सम्प्रदायों में प्रचलित रूप, लक्षण आदि का नियम-बद्ध वर्णन। उनमें बहुत से व्याकरणापेक्षित विषयों का उल्लेख पाया जाता है।

उपलब्ध प्रातिशाख्यों के नामादि

इस समय ६ प्रातिशाख्य उपलब्ध हैं—

(१) ऋक् प्रातिशाख्य, जिसको पार्षद-सूत्र भी कहते हैं। यह महर्षि शौनककृत है। इसकी रचना छन्दोबद्ध है। तीन अध्यायों और १८ पटलों में विभक्त है।

(२) शुक्ल यजुः प्रातिशाख्य। यह कात्यायन मुनि की रचना है और ८ अध्यायों में विभक्त है।

(३) सामवेद प्रातिशाख्य जो महर्षि पुष्पकृत है। यह पुष्प सूत्रों के भी नाम से प्रसिद्ध है।

(४) अथर्व प्रातिशाख्य जो सूत्र निबद्ध है।

(५) चतुरध्यायी नामक ग्रन्थ जो अथर्ववेद के ही प्रातिशाख्य के रूप में पाया जाता है।

(६) कृष्णयजुर्वेद का तैत्तिरीय प्रातिशाख्य। इसके कर्त्ता का अभी तक पता नहीं है। इसमें चौबीस अध्याय हैं।

प्रातिशाख्यों का विषय, अपनी-अपनी शाखा की विलक्षणता के विवरण को छोड़कर, आगे-पीछे करके प्रायः एक-सा ही पाया जाता है।

प्रातिशाख्यों के विषय

(१) वर्णसाम्नाय-स्वर व्यंजनों की गणना तथा उनके उच्चारणादि के नियम।

(२) सन्धि—अच्, हल्, विसर्ग आदि।

(३) प्रगृह्य संज्ञा, अवग्रह अर्थात् पद विभाग के नियम तथा इसके अपवाद-सूत्र।

(४) उदात्त और अनुदात्त शब्दों की गणना, स्वरित के भेद और आख्यात स्वर।

(५) संहिता पाठ—पद पाठ में भेद-प्रदर्शक नियम—सत्व, षत्व, दीर्घ आदि का विवरण।

(६) अथर्व प्रातिशाख्य में संहिता-पाठ और पद-पाठ के सिवा क्रम-पाठ के भी नियम बतलाये गये हैं और तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में इन तीनों के सिवा जटा पाठ के भी नियमों का उल्लेख है।

(७) साम-प्रतिशाख्य में सामवेद की भिन्न-भिन्न प्रकार की गीतों में प्रश्लेष, विश्लेष,

वृद्ध, अवृद्ध, गत, अगत, उच्च, नीच, क्रुष्ट, अक्रुष्ट, संक्रुष्ट आदि उच्चारण-कृत भेदों का वर्णन भी पाया जाता है।

प्रातिशाख्यों की अपूर्णता

प्रातिशाख्यों के अध्ययन से पता चलता है कि वे सारी व्याकरण-प्रक्रिया को सन्मुख रखनेवाले नहीं हैं। किन्तु बाह्य परिवर्त्तन, सन्धि आदि तथा स्वर, ध्वनि आदि के प्रतिपादक शास्त्र-मात्र हैं, जिनका लक्ष्य विशेषतः अर्थ का निर्धारण नहीं है; किन्तु अपनी-अपनी शाखाओं की विलक्षणता तथा संहिता-पाठ, पद पाठ, क्रमपाठ, जटापाठ आदि की कल्पना द्वारा पवित्र वेद पाठ को सुरक्षित रखना है। यद्यपि प्राचीन काल में इन्हीं विषयों के अनेक सम्प्रदाय तथा आचार्य हो चुके थे या विद्यमान थे; तथापि वैदिक भाषा के प्रचलित भाषा न होने के कारण वैदिक व्याकरण की सूक्ष्म बातों अथवा अर्थों की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। वह समय व्याकरण का केवल शैशव काल ही कहा जा सकता है। सन्धियों के भिन्न-भिन्न नामों, कृत्रिम संज्ञाओं तथा प्रत्याहारों एवं सूत्रों की वैज्ञानिक रचना का अभाव इस बात को सिद्ध करता है। विशेष कर व्याकरण का प्रधान अंग जो शब्द रचना है वह प्रातिशाख्यों में नहीं पाया जाता जिस से वेद के गम्भीर भावों का अध्ययन किया जा सके। यह बात निराशा-जनक है और इसी कारण "अनर्थकाः हि मंत्राः!" कहने वाले एक कौत्स-सम्प्रदाय का भी प्रादुर्भाव हो गया।

पाणिनि की अष्टाध्यायी

पाणिनि ने केवल लौकिक संस्कृत भाषा को ही शुद्ध रखने के लिए प्रयत्न किया है। वैदिक भाषा को नहीं। अष्टाध्यायी में मुख्यतः लौकिक संस्कृत भाषा-सम्बन्धी रूपों और प्रयोगों पर विचार किया गया है। उक्त संस्कृत का पूर्णतः मथन कर और सब प्रकार के नियम बना कर उन्हें आठ अध्यायों में बन्द कर दिया गया है। वैदिक भाषा के रूपों तथा प्रयोगों का विवेचन 'व्यत्ययो बहुलम्', 'बहुलं छन्दांसि' आदि कह कर छोड़ दिया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि पाणिनि का 'स्वर वैदिकी' का संकलन अनुपम है; पर इसे वेद का सर्वाङ्गपूर्ण व्याकरण कहना भूल है। वस्तुतः व्याकरण के अध्ययन में पाणिनि ने वैदिक भाग को एक ओर फेंक दिया है। सारस्वत व्याकरण के सम्प्रदायों ने तो वैदिक भाग को निकाल ही दिया है। इसी कारण वेदाध्ययन की परिपाटी लुप्तप्राय हो चली है।

निरुक्त

जिन शब्दों वा उनके अर्थों के जड़-मूल का पता व्याकरण-शास्त्र से नहीं लगता उनकी उत्पत्ति के पता लगाने वाले शास्त्र को निर्वचन-शास्त्र या निरुक्त कहते हैं। हिन्दी में इस शास्त्र को भाषा-विज्ञान तथा अँगरेजी में (Philology) कहते हैं। वैदिक शब्दों के कितने निरुक्तकार हो गए हैं जिनमें आचार्य यास्क मुख्य हैं। इस प्रसंग में हमें यह भी

जान लेना चाहिए कि निघंटु क्या है। वैदिक शब्दों के कोष का नाम निघंटु है। ये निघंटु तथा इनके रचयिता अनेक हो गए हैं जिनमें भी महर्षि यास्क ही प्रधान माने जाते हैं। यास्क ने अपने निघंटु के शब्दों की जो व्याख्या की है अर्थात् उन पर जो भाष्य किया है वही उनके निरुक्त का विषय है। अन्य निघंटुकारों ने भी इसी प्रकार अपने-अपने निरुक्त ग्रन्थ की रचना की है, पर अन्य सभी निरुक्त-ग्रन्थों की अपेक्षा यास्क का ही निरुक्त सर्वोपरि माना जाता है।

निघंटु—एक व्यापक शब्द है। इसका अर्थ केवल कोष है। अन्य भाषाओं के कोषों को भी निघंटु कह सकते हैं, जैसे अमर कोष लौकिक संस्कृत का हिन्दी शब्दसागर हिन्दी भाषा का, और गयासुल्लोगात फारसी भाषा का निघंटु है। इसी प्रकार सामान्य साहित्य (General Literature) के अतिरिक्त किसी विषय विशेष का भी निघंटु हो सकता है; जैसे लाला शालग्राम जी का प्रसिद्ध वैद्यक निघंटु।

निरुक्त और निघंटु दो वस्तु हैं

सायणाचार्य ने अपने ऋग्वेद भाष्य के उपोद्घात में निघंटु को ही निरुक्त बतलाया है और लाक्षणिक रूप से उसकी व्याख्या को भी निरुक्त कहा है। परन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। निघंटु और निरुक्त दोनों दो भिन्न वस्तु हैं। केवल निघंटु में वे लक्षण नहीं घटते जो निरुक्त के लिए स्वीकृत हैं। निरुक्त के लिए लिखा है—

वर्णागमो वर्ण विपर्य्ययश्च द्वौ चापरौ वर्ण-विकार नाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगः तदुच्यते पंचविधं निरुक्तम् ॥

निरुक्त के लक्षण

अर्थ—निरुक्त पाँच प्रकार का होता है—(१) वर्ण का आगम होने से जैसे 'हंस'; (२) वर्ण के उलट फेर से जैसे 'संह'; (३) वर्ण के विकार से जैसे 'षोड़श', (४) वर्ण के नाश से जैसे 'पृषोदर' और (५) धातु का उसके अर्थातिशय के साथ योग जैसे 'भ्रमर'।

ये लक्षण निघंटु में नहीं; बल्कि उसकी व्याख्या में पाये जाते हैं, अतः यही निरुक्त है निरुक्त शास्त्र की रचना की आवश्यकता क्यों हुई, इसे भी पाठकों को जान लेना चाहिए। निरुक्तकार यास्क के स्थल विशेषों के संकेतों से जान पड़ता है कि वैदिक भाषा प्रचलित भाषा नहीं थी; अतः बहुत से शब्दों का प्रयोग ही जाता रहा है और बहुत से शब्दों का अर्थ बदल गया। इसलिए वेद मंत्रों का अर्थ विशद करने तथा प्रातिशाख्यों की त्रुटि दूर करने के निमित्त निरुक्त शास्त्र की रचना करनी पड़ी।

यास्काचार्य के निरुक्त में भाषा सम्बन्धी मौलिक सिद्धान्तों का विवेचन करके निघंटु में ग्रथित शब्दों का निर्वाचन किया गया है और साथ ही उदाहरण में ऋग्वेद के कई सौ मंत्र देकर अर्थ स्पष्ट किया गया है।

उपलब्ध निरुक्त ग्रन्थ

वर्तमान काल में केवल तीन ही निरुक्त ग्रन्थ उपलब्ध हैं—(१) यास्क प्रणीत जो सबसे अधिक प्रसिद्ध है; (२) कौत्सव्य-प्रणीत जो आथर्वण परिशिष्टों में से एक है और (३) शाकपूणि प्रणीत। इन तीन निघंटुओं को छोड़कर दूसरे वैदिक निघंटु ग्रंथों का नाम तक भी अब वैदिक साहित्य में नहीं मिलता। पर वैदिक ग्रंथों के भाष्यों के अध्ययन से पता चलता है कि उक्त तीन निघंटुओं के अतिरिक्त कुछ और भी निघंटु थे जो अब लुप्त हो गये हैं।

लुप्त निघंटु ग्रन्थ

वेद भाष्यकार जब कभी किसी निघंटु से प्रमाण उद्धृत करते हैं, तब अभीष्ट वैदिक शब्द के निघंटु-प्रदर्शित अर्थ के साथ 'नाम' शब्द का प्रयोग करते हैं; जैसे—"अप्न इतिरूपनाम" (अप्न, यह रूप का नाम है, अर्थात् इसका अर्थ रूप है), उस्रियेति गोनाम (उस्रिया यह गाय का नाम है, अर्थात् इसका अर्थ गाय है, इत्यादि। इसी शैली का अनुसरण स्कन्द स्वामी, उद्गीथ, गोविन्दस्वामी, उव्वट और सायण आदि सैकड़ों वैदिक भाष्यकार करते चले आये हैं। ये सब प्रमाण अवश्य ही उन निघंटु ग्रंथों के हैं जो अब लुप्त हो गये हैं यथा—

(१) प्रथम इति मुख्यनाम; (२) रपो, रिप्रमितिपाप नामनी; (३) रेय इति पाप नाम; (४) बर्हिः इति यज्ञनाम; (५) एह इति अपराध नाम; (६) भातिः इति स्तुति नाम; (७) शम्ब इति वज्रनाम; (८) श्वात्रम् इति क्षिप्रनाम; (९) घृणिः इति दीप्तिनाम; (१०) ओक इति निवास नाम; (११) विः इति शकुनिनाम; (१२) स्वस्तिः इति अविनाश नाम; (१३) सृका इति आयुधनाम; (१४) सु इति अपत्यनाम; (१५) अल्क इति रूपनाम; (१६) तुर इति यम नाम; (१७) सुः इति प्राणनाम इत्यादि। ऐसे-ऐसे प्रमाण हमें वैदिक ग्रंथों के भाष्यों में जहाँ-तहाँ मिलते हैं; पर पता नहीं चलता कि वे किस निघंटु से उद्धृत किये गये हैं।

५. छन्दस्

जिस वाक्य में वर्णों (अक्षरों) वा मात्राओं की गणना होती है और प्रायः चार चरण या पाद होते हैं उसे छन्दस् (छन्द) कहते हैं। छन्दस् का दूसरा नाम पद्य भी है। इसके विपरीत जिस वाक्य में अक्षरों वा मात्राओं की गिनती नहीं होती और न चरण होते हैं उसे गद्य कहते हैं। इसके अतिरिक्त पद्य और गद्य में एक यह भी अन्तर है कि गद्य में शब्द व्याकरण शास्त्रोक्त क्रम के अनुसार रखते हैं; पर पद्य में शब्द रखने का कोई नियम नहीं। छन्द बैठने के लिए शब्द-क्रम में उलट-फेर भी कर सकते हैं। अँगरेजी में छन्द शास्त्र को (prosody) कहते हैं। प्रत्येक भाषा के छन्दःसम्बन्धी नियम अपने-अपने होते हैं; अतः छन्दो रचना विज्ञान (Science) न होकर केवल एक कला (Art) है। विज्ञान प्राकृतिक नियमों को पर कला कृत्रिम नियमों को बतलाता है।

छन्दस् शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ

छन्दस् शब्द की व्युत्पत्ति कई प्रकार से की जाती है—(१) छन्दयति पृणाति रोचते इति (चुरादि छन्द+असुन्) छन्दस् जो रोचक वा प्रिय लगे वह छन्दस् है। (२) आह्लादार्थक चुरादिगणीय चदि धातु से "चन्देरादेश्च छः" (अ० ४।२ १८) इस उणादि सूत्र से असुन् प्रत्यय तथा चकार को छकारादेश करके छन्दः शब्द बनता है। अर्थ होता है—"छन्दयति आह्लादयति, च्छन्द्यतेऽनेन वा छन्दः" अर्थात् जो चित्त को प्रसन्न करे वह छन्द है। (३) छादनार्थक चुरादिगणीय छद् धातु से असुन् प्रत्यय तथा "पृषोदरादित्वात्" इस सूत्र से नम् का आगम करके छन्दः पद सिद्ध होता है। अर्थ होता है "छादयति मंत्र प्रतिपाद्ययज्ञादीन् इति छन्द" अर्थात् जो यज्ञादि को असुरोपद्रव से सुरक्षित रखे उसे छन्द कहते हैं। इस पुस्तक का विषय वैदिक साहित्य है; अतः यहाँ केवल वैदिक छन्दों पर विचार किया जायगा।

निरुक्तकार यास्क ने भी छन्द शब्द का ऐसा ही अर्थ बतलाया है; यथा—"मन्त्राः मननात् छन्दांसि छादनात् स्तोमः स्तवनात् यजुः यजतेः इत्यादि"; अर्थात् मनन (विचार वा ध्यान) करने से मन्त्र, छादन (रक्षा) करने से छन्द, स्तुति करने से स्तोम, और यजन (यज्ञ) करने से यजुः होता है, इत्यादि।

श्रुति में भी छन्द का यही अर्थ प्रतिपादित है; यथा—"दक्षितोऽसुरान् रक्षांसि त्वाष्ट्रान्यप हन्ति त्रिष्टुब्जिर्वज्रो वैत्रिष्टुप्" इत्यादि; अर्थात् यज्ञ में कुंड की दक्षिण परिधि त्रिष्टुप् स्वरूप है औ रविष्टप् वज्र-स्वरूप है जिससे असुरों का नाश होता है। त्रिष्टप छंद का नाम है।

वैदिक छन्दों के नाम और अक्षर संख्या

मंत्रों का छन्दोज्ञान कात्यायनादि प्रणीत सर्वानुक्रम, पिंगल सूत्रादिग्रंथों से करना चाहिए। वैदिक छन्दों के नाम तथा कोष्ठ लिखित उनकी अक्षर-संख्याएँ क्रमशः ये हैं—गायत्री (२४), उष्णिक् (२८), अनुष्टुप् (३२), बृहती (३६), पंक्ति (४०), त्रिष्टुप् (४४), जगती (४८), अति जगती (५२), शक्करी (५६), अति शक्करी (६०), अष्टि (६४), अत्यष्टि (६८), धृति (७२), अति धृति (७६), कृति (८०), प्रकृति (८४), आकृति (८८), विकृति (९२), संस्कृति (९६), अभिकृति (१००) और उत्कृति (१०४)।

उनके भेदोपभेद

इस प्रकार २४ अक्षरों से लेकर १०४ अक्षरों तक के गायत्री आदि छन्द होते हैं। इनमें प्रत्येक में १ अक्षर कम होने से निबृत विशेषण, और १ अक्षर अधिक होने से भूरिज विशेषण लगता है। इसी प्रकार २ अक्षर कम होने से विराट् तथा २ अक्षर अधिक होने से स्वराट विशेषण लगता है। इस तरह वैदिक छन्दों के अनेक भेदोपभेद होते हैं

जिनका सविस्तार वर्णन, इस ग्रन्थ का ध्येय नहीं होने के कारण, यहाँ नहीं किया जा सकता और जो लौकिक संस्कृत के विविध छंदों के जिज्ञासु हों वे छंदोमंजरी वृतरत्नाकर आदि ग्रन्थों को देखें।

६. *ज्यौतिष*

संस्कृत में सूर्य, चन्द्र, गुरु, शुक्र आदि ग्रहोपग्रहों एवं तारागणों को ज्योतिष कहते हैं, ज्योतिस् शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ इस प्रकार होते हैं—द्योतते चकास्ते प्रकाशते वा इति द्युत्+इसुन्=द्योतिस्; पुनः आद्य द का ज होकर ज्योतिस् शब्द सिद्ध होता है। इसका अर्थ होता है जो चमकता है वा प्रकाश करता है वह ज्योतिस् है। अथवा ज्युत् धातु से इसुन् करने पर भी ज्योतिस् शब्द बनता है। पुनः ज्योतिः सूर्यादिगत्यादिकं प्रतिपाद्यतयाऽस्त्यस्य इति ज्योतिस्+अच्=ज्योतिसम्। ज्योतिष शब्द का अर्थ होता है वह शास्त्र जिसका प्रतिपाद्य विषय सूर्यादिकों के गत्यादि हैं। अथवा ज्योतींषि अधिकृत्य कृतं शास्त्रमिति ज्योतिस्+अण् ज्योतिषम्; अर्थात् जो शास्त्र सूर्यादि ज्योतियों को लेकर रचा जाय वह ज्यौतिष है; अथवा ज्योतिषमेवेति ज्यौतिषम् (ज्योतिष+स्वार्थे अण्) इस तरह ज्योतिष और ज्यौतिष दोनों शब्द सिद्ध होते हैं।

'ज्योतिष' शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ

अब देखना यह है कि वैदिक ऋषियों ने ज्योतिः शास्त्र की रचना किस लिए की। उनका यह विश्वास था कि श्रौत किम्बा गृह कोई भी धार्मिक कृत्य बिना शुभ मुहूर्त्त में किये अभीष्ट फल का देने वाला नहीं होता और वह मुहूर्त्त सूर्य, चन्द्रादि गगनचारी पिण्डों के अश्विन्यादि नक्षत्रों के बीच भ्रमण करने पर अवलम्बित रहता है। इस तरह उन्होंने उक्त आकाशीय पिण्डों के गत्यादि का पर्यवेक्षण करते-करते वेदांग ज्योतिष की नींव डाली। सर्वप्रथम आचार्य लगध ने, जो एक वैदिक ऋषि थे, वेदांग ज्योतिष की रचना की और इसी नींव पर धीरे-धीरे अन्य आचार्यों ने समय-समय पर कितने ज्योतिष-ग्रन्थ लिख डाले। आज जो हिन्दू ज्योतिष नाना फल-फूल समन्वित एक प्रकाण्ड वृक्ष के रूप में देख पड़ता है वह लगध के उर्वर मस्तिष्क में उपजे हुए वेदांग ज्योतिष रूपी उक्त अंकुर के अन्य आचार्यों के द्वारा अपने विमल-विवेक-जल से सहस्रों वर्ष तक अनवरत सींचे जाने का फल है। सुदूर प्राचीन काल से लेकर अर्वाचीन काल तक जिन महाविद्वानों ने इस परम रहस्यमय शास्त्र पर अपनी लेखनी उठाई है उन्हें हम दो श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं—१ली श्रेणी तो उनकी है जिन्हें हम ऋषि पद से विभूषित कर सकते हैं और जिनका समय निरूपण इयत्त्या करना टेढ़ी खीर है और २री श्रेणी में हम उन्हें रख सकते हैं जो ऋषि-पद के अधिकारी न होते हुए भी स्वग्रंथ-निर्माण में ऋषियों से कम प्रतिभावान् नहीं मालूम पड़ते और जिन्होंने भारत के ऐतिहासिक रंगमंच पर अपना अभिनय दिखा उसकी मुखश्री

को समुज्ज्वल कर दिया हैं। उदाहरणार्थ सूर्य, ब्रह्मा वसिष्ठ आदि १८ ऋषिगण प्रथम श्रेणी के तथा आर्यभट, वराह मिहिर, ब्रह्म गुप्त, लल्लू भास्कराचार्य आदि विद्वद्गण द्वितीय श्रेणी के सदस्य हैं जिनकी संख्या निश्चित नहीं है।

तीन प्रकार के वेदांग ज्योतिष

ज्योतिष का स्वतन्त्र प्राचीन ग्रन्थ 'वेदांग ज्योतिष' है। यज्ञादि कर्मों के निर्वाहार्थ इसमें तिथि, पर्वकाल आदि का निरूपण है। इस समय तीन प्रकार के वेदांग-ज्योतिष प्राप्त हैं—(१) लगधकृत वेदांग-ज्योतिष जो प्राचीनतम है। जैसे प्राचीन वैदिक व्याकरण के आधार पर पाणिन्यादि ने अपने-अपने व्याकरण रचे; एवं वैदिक छन्दः शास्त्र के आधार पर पिंगलादिकों ने अपने-अपने छन्दः शास्त्र रचे; वैसे ही प्राचीन वैदिक ज्योतिर्ज्ञान के आधार पर लगध ने अपना वेदांग ज्योतिष रचा है। (२) शेषकृत वेदांग-ज्योतिष। इसके आरम्भ में लिखा है—'कालज्ञानं प्रवक्ष्यामि लगधस्य महात्मनः' जिससे मालूम होता है कि शेष ने लगधकृत वेदांग ज्योतिष के आधार पर ही अपना वेदांग ज्योतिष रचा। इसकी टीका सोमाकार ने की है। (३) अथर्व ज्योतिष। इस वेदांग ज्योतिष के कर्त्ता अथर्वन् ऋषि हैं। इसमें कश्यप को ब्रह्मा ने उपदेश किया है। यह एक प्रकार से मुहूर्त्त विषयक है इसमें सात ग्रह और सात बार हैं।

ज्योतिष-रचना-विषयक मैक्समूलर का मत

वेदांग ज्योतिष किस उद्देश्य से रचे गए? इसका स्पष्ट विवरण मैक्समूलर साहब ने अपने History of Ancient Sanskrit Literature, 1859 में दिया है—

Nor is it the object of the small tract to teach Astronomy. It has a practical object, which is to convey such knowledge of the heavenly bodies as is necessary for fixing the days and hours of the Vedic sacrifices. अर्थ—वेदांग ज्योतिष जैसे छोटी पुस्तिका का उद्देश्य कुछ ज्योतिष की शिक्षा देना नहीं है। इसका एक व्यावहारिक उद्देश्य है जो आकाशीयपिंडों के विषय में वैसे ज्ञान को प्राप्त कराता है जो वैदिक यज्ञों के लिए दिनों और मूहूर्त्तों के निश्चयार्थ आवश्यक है।

लगध-ज्योतिष का रचना-काल

वेदांग ज्योतिष से मालूम होता है कि धनिष्ठा नक्षत्र के आदि से सूर्य का उत्तरायण और आश्लेषा के अर्ध से उसका दक्षिणायन आरम्भ होता था। इसके आधार पर हमने द्वितीय परिच्छेद में लगध ज्योतिष का रचना-काल स्थूलतः १२०० ई० पू० बतलाया है।

प्रथम श्रेणी के प्रवर्त्तक

जो प्रथम श्रेणी के ज्योतिः शास्त्र प्रवर्त्तक हुए हैं और जिन्हें हम ऋषिपद से विभूषित करते हैं उनकी नामावली महर्षि कश्यप इस प्रकार देते हैं—

सूर्यः पितामहो व्यासो वसिष्ठोऽत्रिः पराशरः ।
कश्यपो नारदो गर्गः मरीचिर्भृगुरंगिराः ॥१॥
लोमशः पुलिशश्चैव च्यवनो यवनो भृगुः ।
शौनकोऽष्टादशैवैते ज्योतिः शास्त्र प्रवर्त्तकाः ॥२॥

दूसरी श्रेणी के प्रवर्त्तक

दूसरी श्रेणी के ज्योतिः शास्त्रपवर्त्तकों में निम्नलिखित नाम वाले विद्वान मुख्य समझे जाते हैं। नीचे के चक्र में इन ज्योतिर्विदों के नाम, ग्रंथ, रचना-काल और निवास-स्थान दिए हैं—

नाम	ग्रन्थ	रचना-काल	निवास-स्थान
(१) आर्य भट्ट	आर्यभटीय	शकाब्द ४२३	पटना (पुष्प पुर)
(२) वराहमिहिर	पंचसिद्धान्तिका	,, ४२७	अवन्ती
(३) ब्रह्मगुप्त	ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त	,, ५५०	भीलमाल (गुजरात)
(४) आर्यभट(द्वितीय)	आर्यसिद्धान्त	,, ८७५	
(५) भास्कराचार्य	सिद्धान्त शिरोमणि	,, १०७२	विजलपुर (सूरत-बंबई)
(६) मुनिश्वर	सिद्धान्त सार्वभौम	,, १५२५	एलिचपुर
(७) कमलाकर भट्ट	तत्त्वविवेक	,, १५८०	विदर्भ
(८) लल्ल	शिष्य धीवृद्धिद	,, ४२०.	——
(९) श्रीपति	सिद्धान्त-शेखर	,, ९६१	——
(१०) नीलाम्बर झा	गोलप्रकाश	,, १७९३	पटना
(११) सामंत चंद्र शेखरसिंह	सिद्धान्त दर्पण	,, १७८७	खंड पाड़ा (उड़ीसा)
(१२) गणेश दैवज्ञ	ग्रहलाघव	,, १४४२	नन्दिग्राम (पश्चिम समुद्रतट)

खोज करने पर प्राचीन काल के और भी ज्योतिः शास्त्र के पारंगत विद्वान् मिलेंगे। अर्वाचीन काल में काशी में पं० बापू देव शास्त्री (जन्म १८२१ ई०) और पं० सुधाकर द्विवेदी (जन्म १८६० ई०), ये ज्योतिः शास्त्र के दो नामी विद्वान् हो गये हैं।

वेदांग वेद के कौन-कौन से अंग हैं

वेद के अंगों को वेदांग कहते हैं। ये छः वेदांग वेद रूपी पुरुष के कौन-कौन से अंग हैं, इसे जानने के लिए निम्नलिखित प्रमाण पढ़िए—

शब्दशास्त्रं मुखं, ज्योतिषं चक्षुषी; श्रोत्रमुक्ति निरुक्तंच कल्पः करौ।
यातु शिक्षाऽस्य वेदस्य सा नासिका पाद पद्मद्वयं छन्दः आद्यैर्बुधैः ॥

अर्थ—वेद रूपी पुरुष का व्याकरण मुख, ज्योतिष नेत्र, निरुक्त कर्ण, कल्प हाथ, शिक्षा नाक और छन्द पैर हैं। यह पूर्व के विद्वानों ने कहा है। पुनश्च—

यथा शिखा मयूराणानां नागानां मणयोयथा ।
तद्वद् वेदांग शास्त्राणां ज्योतिषं मूद्धि्न वर्त्तते ।।

अर्थ—जिस प्रकार मयूरों की चोटी और साँपों का मणि उनके मस्तक पर रहता है उसी प्रकार वेदांग शास्त्रों के मस्तक पर ज्योतिः शास्त्र विराजमान रहता है । पुनश्च—

छन्दः पादौतु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते ।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्त श्रोत्र मुच्येत ।।
शिक्षा घ्राणंतु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम् ।

अर्थ—पूर्ववत् है; अतः नहीं दिया गया । पुनश्च—

विफलान्यन्य शास्त्राणि विवादस्तेषु केवलम् ।
सफलं ज्योतिषं शास्त्रं चन्द्राकौंयत्र साक्षिणौ ।।

अर्थ—अन्य सभी शास्त्र फजूल है; क्योंकि उनमें केवल विवाद ही विवाद रहता है । केवल ज्योतिष शास्त्र सफल है जहाँ सूर्य और चन्द्र साक्षी हैं ।

शिक्षा-शास्त्र पर पुनः विचार

शिक्षा-विषयक पुनः विचार

साधारणतः वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम और सन्तान ये छः विषय शिक्षा-शास्त्र के हैं । वर्ण से विविध वर्णों के तालवादि स्थान जानना चाहिए । वर्णों को अपने-अपने स्थानों के अनुसार ही उच्चरित होना चाहिए । अन्यथा करने से, जैसे तालव्य श के स्थान में दन्त्य स का उच्चारण करने से वेद-पाठ में दोष आ जाता है । उदात्त, अनुदात्त और स्वरित ये तीन स्वर हैं जिनका लक्षण पूर्व में कह आए है । ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत ये तीन मात्राएँ हैं जिन्हें वैयाकरण स्वर भी कहते हैं । और छन्दः शास्त्री मात्रा शब्द से केवल गुरु और लघु का अर्थ लेते हैं । उच्चारण-प्रयत्न का नाम बल है; जैसे अल्प-प्राण और महाप्राण । माधुर्यादि गुण-युक्त वेद पाठ करना साम वा साम्य है । गीत की तरह वेदपाठ करना, अति शीघ्र वेदपाठ करना, अति मन्दगति से वेदपाठ करना, सिर हिला-हिला कर वेदपाठ करना, अस्पष्ट वेदपाठ करना अथवा दातों से ओठ काट-काटकर वेद पाठ करना इत्यादि पाठ दोष कहा गया है । सन्तान, संहिता वा सन्धि को कहते हैं । जैसे—वायो+आयाहि=वायवायाहि । यहाँ आकार परे रहने के कारण ओ के स्थान में अव् हो गया है । इंद्राग्नी+आगतम्=इन्द्राग्नी आगतम् । यहाँ आकार के परे रहते भी द्विवचन ई के स्थान में य नहीं हुआ । जैसा था वैसा ही रह गया । यह विषय व्याकरण में विशेष रूप से कहा गया है । वर्ण, स्वर आदि के उच्चारण में विकलता उपस्थित होने पर जो दास होता है वह शिक्षा में कहा गया है । स्वर और वर्ण को अन्य

प्रकार से उच्चारित करने पर मंत्र विकृत होकर अभीष्ट अर्थ का बोध नहीं करा सकता और इष्ट उत्पन्न करता है। इस मंत्र-विकृति का उदाहरण-स्वरूप एक पौराणिक कथा यों है—

वृत्रासुर की मृत्यु क्यों हुई ?

विश्वरूप देवताओं के पुरोहित थे। वे यज्ञ के समय प्रकट-रूप से तो देवताओं को हवि का भाग देते थे, पर गुप्त-रूप से उसका भाग असुरों को भी दिया करते थे; क्योंकि असुर-गण मातृ पक्ष से उनके सम्बन्धी थे। देवराज इन्द्र उनका यह अनुचित आचरण देखकर अत्यन्त कुपित हुए और उनका सिर काट डाला। इस पर विश्वरूप के पिता त्वष्टा क्रोधित होकर एक ऐसा पुत्र पाने के लिए आभिचारिक यज्ञ करने लगे जो इन्द्र को मार डाले और 'इन्द्रशत्रो विवर्द्धस्व' (हे इन्द्रशत्रो ! तुम वृद्धि को प्राप्त हो) ऐसा कहकर आहुति देने लगे; पर प्रमाद वा अज्ञान वश 'इन्द्रशत्रो' शब्द के चतुर्थ स्वर पर उदात्त न देकर प्रथम स्वर पर ही उदात्त दिया जिसका फल यह हुआ कि इन्द्र जिसका शत्रु (घातक) हो वैसा पुत्र वृत्र उत्पन्न हुआ और वह इन्द्र के द्वारा मारा गया। यदि त्वष्टा चतुर्थ स्वर पर उदात्त देता तो वह एक ऐसा पुत्र पाता जो इन्द्र का शत्रु (घातक) होता। पहली दशा में बहुव्रीहि समास और दूसरी दशा में कर्मधारय समास है; अतः दोनों के दो अर्थ हो गए। अतः शिक्षा-शास्त्र में लिखा है—

> मंत्रो हीनो स्वरतो वर्णतो वा, मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
> स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति, यथेन्द्र शत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥

अर्थ—यदि मंत्र स्वर से वा वर्ण से दूषित हो जाय वा उसका मिथ्या प्रयोग किया जाय तो वह अभीष्ट अर्थ को नहीं देता; बल्कि वह वाक् रूपी वज्र होकर यजमान को ही मार डालता है, जैसे स्वर की गड़बड़ी के कारण 'इन्द्र शत्रु' रूपी वाक् ने यजमान का ही घात किया।

वृत्रासुर की उत्पत्ति की कथा श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ६, अध्याय ९ में लिखी है। यह शतपथ ब्राह्मण में भी पाई जाती है।

(ख) उपवेद

वेदांगों की चर्चा समाप्त कर अब उपवेदों की चर्चा की जाती है। उपवेद एक समस्त पद है और इसमें 'प्रादि' समास है। इसका व्यास इस प्रकार किया जाता है—उपगतः वेदम् इति उपवेदः; अर्थात् जिसका पठन-पाठन वेदों के पास जाकर किया जाय वह उपवेद है। जिसका पद वेदों के पद से नीचा हो वह उपवेद है।

वेदों के अपने-अपने उपवेद होने के कारण उन्हीं की तरह उपवेद भी चार होते हैं; यथा—ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद (Medical Science); यजुर्वेद का, धनुर्वेद (Military Science); सामवेद का, गान्धर्व-वेद (Science of Music) और

अथर्ववेद का, अर्थवेद या, स्थापत्य वेद (Machanics) है। याद रहे कि ये उपवेद-नाम किन्हीं ग्रंथ-विशेषों के नाम न होकर बल्कि वेदांगों की ही तरह विविध विषयों के नाम हैं। इनमें एक-एक उपवेद पर अनेक ग्रंथ हो सकते हैं। स्थापत्य-वेद के अन्तर्गत यंत्र-निर्माण-कला के साथ-साथ भवन-निर्माण-कला को भी जानना चाहिए। आयुर्वेद को आरोग्य-शास्त्र एवं स्वास्थ्य-शास्त्र भी कहते हैं। इसी प्रकार धनुर्वेद को युद्धशास्त्र तथा गान्धर्व वेद को संगीत-शास्त्र वा गान-विद्या भी कहते हैं।

आयुर्वेद

यह जैसा कि अभी पूर्व में कह आए हैं, ऋग्वेद का उपवेद है। 'आयुर्वेद' शब्द का अर्थ क्या है, इसे पाठकों को बतला देना आवश्यक है। सुश्रुत-संहिता, सूत्र-स्थान, सूत्र १३ में लिखा है—

'आयुर्वेद' शब्द का अर्थ

'आयुरस्मिन् विद्यतेऽनेन वा आयुर्विन्दतीत्यायुर्व्वेदः। इस पर श्री डल्लनाचार्यकृत निबन्ध-संग्रहाख्य टीका देखिए—'आयुः शरीरेन्द्रिय सत्त्वात्म-संयोगः। तदस्मिन्नायुर्वेदे विद्यते अस्तीत्यायुर्वेदः। अथवा आयुर्विद्यते ज्ञायते अनेनेत्यायुर्वेदः। आयुर्विद्यते विचार्यते अनेन वा इत्यायुर्वेदः। आयुरनेन विन्दति प्राप्नोति इति वा आयुर्वेदः।' अर्थ—शरीर और इन्द्रियों के साथ जीवात्मा का जो संयोग है वह आयु है; अर्थात् शरीर और इन्द्रियों के साथ जब तक जीवात्मा का संयोग बना रहता है तभी तक आयु (जीवन) है। जिस उपवेद का विषय आयु हो वह आयुर्वेद है। अथवा जिसके द्वारा आयु का ज्ञान हो वह आयुर्वेद है। अथवा जिसके द्वारा आयु पर विचार किया जाय वह आयुर्वेद है। अथवा आयु जिसके द्वारा प्राप्त की जाय वह आयुर्वेद है। कहने का तात्पर्य यह कि जिस शास्त्र के द्वारा शरीर को स्वस्थ तथा नीरोग रखते हुए मनुष्य पूर्णायु को प्राप्त हो वह आयुर्वेद है।

आयुर्वेद की उत्पत्ति और प्रचार

इस उपवेद का पहले-पहल प्रवर्त्तन किसने किया और पुनः संसार में इसका प्रचार कैसे हुआ इस पर विचार किया जाता है। सुश्रुत-संहिता, सूत्र-स्थान, सूत्र १६ पढ़िए—

'ब्रह्मा प्रोवाचक; ततः प्रजापति रधिजगे; तस्मादश्विनौ; अश्विभ्यामिन्द्रः; इन्द्रादहं; मयात्विह प्रदेयमर्थिभ्यः प्रजाहितहेतोः ॥१६॥

अर्थ—काशिराज दिवोदास, जो अपने को देवलोक के चिकित्सक धन्वन्तरि का अवतार कहते थे, अपने शिष्य-वृन्द सुश्रुत आदि से कहते हैं कि इस शास्त्र का सर्वप्रथम उपदेश ब्रह्मा जी ने किया। ब्रह्मा जी से प्रजापति दक्ष ने इसे पढ़ा। दक्ष से दोनों अश्विनी कुमारों ने, अश्विनी कुमारों से इन्द्र ने और इन्द्र से मैंने पढ़ा। और मैं प्रजा की भलाई के लिए अब इसे मर्त्यलोक में जिज्ञासुजनों को देने चला हूँ। अभिप्राय यह कि अमर

लोक में पितामह ब्रह्मा की तरह मर्त्यलोक में मैं (धन्वंतरि) इस शास्त्र का सर्वप्रथम उपदेष्टा हूँ।

चरक-संहिता ने भी इस शास्त्र का परम्परागत प्रचार इसी प्रकार लिखा है। चरक-संहिता, सूत्र-स्थान देखिए---

ब्रह्मणाहि यथा प्रोक्तमायुर्वेदं प्रजापतिः।
जग्राह निखिलेनादावश्विनौतु पुनस्ततः ॥४॥
अश्विभ्यां भगवाञ्छक्रः प्रतिपदेह केवलम्।
ऋषि प्रोक्तो भरद्वाजस्तस्माच्छक्र मुपागमत् ॥५॥

अर्थ---ब्रह्मा ने आयुर्वेद का जैसा उपदेश किया था वैसा ही (ज्यों का त्यों) उसे दक्ष ने ग्रहण किया। पुनः दक्ष से दोनों अश्विनी-कुमारों ने, अश्विनी कुमारों से इन्द्र ने यह विद्या पढ़ी। दीर्घ जीवन की इच्छा रखने वाले महर्षि भरद्वाज इस विद्या को पढ़ने के लिए इन्द्र के पास पहुँचे।

अष्टाङ्ग सूची

आयुर्वेद के आठ अङ्ग (Departments) होते हैं, यथा---(१) शल्य (Surgery); (२) शालाक्य (Diagnosis of diseases belonging to the head and its organs); (३) कायचिकित्सा (Treatment of diseases of the whole body); (४) भूत विद्या (Treatment of diseases of the mind supposed to be caused by the influence of evil spirits); (५) कौमार-भृत्य (Treatment of children); (६) अगद तंत्र (Doctrine of antidotes); (७) रसायन तंत्र (Doctrine of elixirs) और (८) बाजीकरण (Treatment of remedies to increase generative power).

आयुर्वेद के दो सम्प्रदाय

पूर्व सुश्रुत-संहिता और चरक-संहिता, इन दो आयुर्वेदीय संहिताओं का उल्लेख कर चुके हैं। इनमें सुश्रुत-संहिता शल्याङ्ग-प्रधान और चरक-संहिता कायचिकित्साङ्ग-प्रधान ग्रन्थ हैं, जिनसे आयुर्वेदिक जगत् में दो सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ। पहले सम्प्रदाय को धन्वन्तरि-सम्प्रदाय अथवा सुश्रुत-सम्प्रदाय तथा दूसरे सम्प्रदाय को भरद्वाज-सम्प्रदाय अथवा आत्रेय-सम्प्रदाय कहते हैं।

वर्त्तमान काल में चरक-संहिता और सुश्रुत-संहिता ये दो ही ग्रन्थ अन्य वैद्यक ग्रन्थों की अपेक्षा प्राचीनतम जान पड़ते हैं; अतः इनका संक्षिप्त विवरण देना आवश्यक है।

चरक-संहिता की रचना

चरक-संहिता के आदि उपदेष्टा महर्षि पुनर्वसु आत्रेय हैं। इन्हें कृष्णात्रेय, चान्द्रभागी

तथा चान्द्रभाग भी कहते हैं। कहते हैं कि इनकी माता का नाम चन्द्रभागा था। इसी से चन्द्रभागी तथा चान्द्रभाग कहते हैं। इन्होंने अपने शिष्य अग्निवेश को चिकित्सा-शास्त्र पढ़ाया। अग्निवेश ने चिकित्सा-विषयक जिस ग्रन्थ का प्रणयन किया था उसी को चरक ने पहले-पहल प्रति-संस्कृत (Revised and recompiled) किया; इसी कारण वह चरक-संहिता कहलाया। बाद में आचार्य दृढ़बल ने भी इसका पुनः परिष्कार किया और इसकी त्रुटियों को पूरी की। इस संहिता की टीका, जिसका नाम आयुर्वेद-दीपिका है, श्रीचक्रपाणिदत्त ने की है। यह टीका परमोपयोगी तथा लोक-प्रिय है।

चरक कौन थे ?

ये चरक कौन थे तथा किस समय में हुए थे, इस पर विचार किया जाता है। पाणिनि का एक सूत्र है—'कठ चरकाल्लुक्'। इस सूत्र में 'चरक' शब्द देख कर कितने भ्रमवश यह कह बैठते हैं कि चरक पाणिनि से भी पहले हुए हैं। पर वस्तुतः यहाँ 'चरक' शब्द अग्निवेश-तंत्र के प्रतिसंस्कर्त्ता का नाम न होकर वेद-शाखा के एक प्रवर्त्तक का है। इसका प्रमाण कात्यायन-कृत चरण-व्यूह के इस वचन में मिलता है—'यजुर्वेदस्य षड्शीति भेदा भवन्ति। तत्र चरका नाम द्वादश-भेदाः' इत्यादि।

कोई-कोई कहते हैं कि वैद्यक शास्त्र के प्रति संस्कर्त्ता चरक कुशान वंशीय सम्राट् कनिष्क के राज्यवैद्य थे। उनका यह मत चीन देशीय बौद्ध ग्रन्थ त्रिपिटक पर आधारित है। पर राजतरङ्गिनीकार कल्हण ने अपने इस सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थ में कनिष्क का वृत्तान्त लिखते समय उसके राज्यवैद्य चरक का नाममात्र भी न ले, यह बड़े ही आश्चर्य की बात है; अतः यह मत भी संदिग्ध है।

क्या चरक और पतञ्जलि एक ही हैं ?

स्वर्गीय कविराज गणनाथ जी का मत है कि महाभाष्यकार पतञ्जलि और वैद्यक-प्रति-संस्कर्त्ता चरक, दोनों एक ही व्यक्ति हैं। अपने इस मत की पुष्टि में वे कई प्रमाण पेश करते हैं—

(अ) चरक-टीकाकार चक्रपाणिदत्त अपनी टीका के आरम्भ में लिखते हैं—

> पातञ्जल महाभाष्य-चरक प्रति संस्कृतैः।
> मनोवाक्कायदोषाणां हर्त्रेऽहिपतये नमः ॥

(आ) विज्ञान भिक्षु अपने योग वार्त्तिक के आरम्भ में लिखते हैं—

> योगेन चित्तस्यपदेन वाचां मलंशरीरस्य च वैद्यकेन।
> योऽपाकरोत्तं वरदं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि ॥

(इ) भोज अपनी पातञ्जल-सूत्र वृत्ति के प्रारम्भ में लिखते हैं—

शब्दानामनुशासनं विदधता पातञ्जले कुर्व्वता।
वृत्तिं राज मृगांक संज्ञकमपि व्यातन्वता वैद्यके॥
वाक् चेनोवपुषां मलः फणि भृतां भर्त्रेव येनोद्धृतः।
तस्य श्रीरणरङ्गमल्ल नृपतेर्वाचो जयंत्युज्ज्वलः॥

(ई) राम भद्र दीक्षित स्वरचित पतञ्जलि-चरित में लिखते हैं—

सूत्राणि योगशास्त्रे वैद्यक शास्त्रे च संहितामतुलाम्।
कृत्वा पतञ्जलि मुनिः प्रचारयामास जगदिदंत्रातुम्॥

विस्तार भय से उनके अन्य प्रमाण उद्धृत नहीं किये गये। जिन्हें सविस्तर देखना हो वे उनके 'प्रत्यक्ष-शारीरम्' का उपोद्घात (प्रथम पाद) पढ़ें। इन सब प्रमाणों का मुख्य भाव यही है कि शेष जी ने पतञ्जलि वा चरक का अवतार लेकर संसार के उपकार के लिए तीन कार्य किये। महाभाष्य लिखकर वाक् का, योग-सूत्र रचकर मन का और वैद्यक का प्रति-संस्कार कर शरीर का मल दूर किया।

पर इस मत पर भारी आक्षेप यह है कि चरक ने चरक-संहिता में कहीं भी अपने को पतञ्जलि नाम से अभिहित नहीं किया है। उन्होंने अपनी संहिता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में 'चरक-प्रति संस्कृते' ये ही वचन लिखे हैं। दृढ़बल ने भी चिकित्सा-स्थान के अन्त में 'चरक-प्रति.संस्कृते' ये ही शब्द लिखे हैं। 'पतञ्जलि-प्रति संस्कृते', यह कहीं भी नहीं लिखा मिलता।

चरक का समय

चरक-विषयक इस संक्षिप्त विवरण का सार यही है कि यदि चरक कनिष्क के राजवैद्य थे तो उनका प्रादुर्भाव आज से लगभग १८०० वर्ष पूर्व हुआ था और यदि वे ही पतञ्जलि भी थे तो, पुष्पमित्र और यवन-राज मिलिन्द के समकालीन होने के कारण वे आज से लग-भग २१०० वर्ष पूर्व हुए थे। किसी भी हालत में उनका होना प्रायः दो सहस्र वर्षों से कम नहीं समझना चाहिए।

हमारा मत यह है कि चरक और पतञ्जलि दोनों दो व्यक्ति हैं। केवल शेष के अवतार होने के कारण दोनों एक नहीं हो सकते। यदि ऐसा होने लगे तो रामचन्द्र के छोटे भाई लक्ष्मण, श्रीकृष्ण के बड़े भाई बलराम, एवं चरक और पतञ्जलि ये चारों ही समकालीन और एक ही व्यक्ति मानने पड़ेंगे, जो नितान्त असम्भव और अग्राह्य है। वस्तुतः वैद्यक-प्रतिसंस्कर्त्ता चरक वे ही हैं जो कनिष्क के राजवैद्य थे। इसे सभी मानते हैं कि आयुर्वेद की जैसी उन्नति बौद्धों के समय में हुई थी वैसी उन्नति कभी नहीं हुई और कनिष्क स्वयं बौद्ध धर्मावलम्बी होने के साथ-साथ एक बौद्ध कालीन सम्राट् भी था।

सुश्रुत और दिवोदास

अब महर्षि सुश्रुत-विषयक भी कुछ चर्चा करनी चाहिए। ये अपने पिता विश्वामित्र की आज्ञा से कतिपय ऋषिकुमारों के साथ काशिराज दिवोदास के यहाँ आयुर्वेद पढ़ने गए। स्वर्गीय कविराज श्री गणनाथ सेन जी ने सुश्रुत को विश्वामित्र के पुत्र होने के कारण परमार्थतः क्षत्रिय माना है। पर 'विश्वामित्र' नामधारी कई महर्षि हो गए हैं। पता नहीं कि सुश्रुत किस विश्वामित्र के पुत्र थे। यहाँ पर हमें यह भी विचारना होगा कि सुश्रुत के गुरु काशिराज दिवोदास कौन थे। श्रीमद्भागवत, स्कन्ध नवम, अध्याय १७ श्लोक १ से १० तक पढ़ने से मालूम होता है कि चन्द्रवंशीय नरेश पुरुरवा के पुत्र आयु की ८वीं पीढ़ी में धन्वन्तरि हुए हैं जो आयुर्वेद के प्रवर्त्तक तथा विष्णु के अंशावतार माने जाते हैं तथा इन्हीं धन्वन्तरि के प्रपौत्र दिवोदास थे। चन्द्रवंश की इस शाखा की राजधानी काशीपुरी थी। अवश्य ही यह धन्वन्तरि उस धन्वन्तरि से भिन्न हैं जो समुद्र-मन्थन से उत्पन्न हुए थे। और काशिराज दिवोदास जो सुश्रुत के गुरु थे अपने को ही धन्वन्तरि का अवतार वा स्वयं धन्वन्तरि ही मानते थे। यदि इतनी अड़चनों के रहते हुए भी हम इन्हीं दिवोदास को सुश्रुत का गुरु मान लें तो जो समय दिवोदास का होगा वही समय सुश्रुत का भी होगा। अब इन दिवोदास का समय निकालिए। द्वितीय परिच्छेद में राजा पुरुरवा का समय स्थूलतः ४४०० वर्ष ई० पू० निकाल चुके हैं। और दिवोदास, भागवत की वंशावली के अनुसार पुरुरवा से १२ पीढ़ियाँ बाद हुए हैं; अतः ४४००—१२×२५= ४४००—३००=४१०० वर्ष ई० पू० दिवोदास और सुश्रुत दोनों का समय हुआ।

नागार्जुन

अब पौराणिक संसार को छोड़कर ऐतिहासिक संसार में आइए। सुश्रुत-संहिता के प्रतिसंस्कर्त्ता नागार्जुन हैं। नागार्जुन का समय ज्ञात हो जाने पर सुश्रुत के समय का कुछ अन्दाज हो सकता है। पर अनेक नागार्जुन हो गए हैं। एक नागार्जुन वे हैं जो लौहशास्त्र के प्रवक्ता तथा रसेन्द्राचार्य हैं। दूसरे नागार्जुन वे हैं जो महायान नामक बौद्ध सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक एक बौद्धाचार्य हैं। तीसरे नागार्जुन वे हैं जो काश्मीर के इतिहास में प्रसिद्ध एक बौद्ध नरेश हैं। कतिपय विद्वानों का मत है कि प्रसिद्ध बौद्धधर्म्माचार्य नागार्जुन ही, जो महायान सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक थे, सुश्रुत-संहिता के प्रतिसंस्कर्त्ता हैं। यदि ऐसी बात है तो उक्त संहिता का रचनाकाल दो सहस्र वर्षों से अधिक मानना चाहिए। यह ही समय सुश्रुत के प्रादुर्भाव का भी समझना चाहिए।

वाग्भट, भाव मिश्रादिकों का समय

चरक और सुश्रुत के बाद चिकित्सा-शास्त्र पर ग्रन्थ लिखने वाले और भी बहुत से

विद्वान् हो गए हैं जिनमें वाग्भट, भावमिश्र, शार्ङ्गधर आदि प्रसिद्ध हैं जिनके ग्रन्थों का प्रचार आज तक चला आता है। इनके समयादि पर भी विचार होना चाहिए।

वाग्भट का समय

वाग्भट ने दो ग्रन्थ लिखे हैं—अष्टाङ्ग संग्रह और अष्टाङ्गहृदय। अष्टाङ्ग संग्रह से पता चलता है कि ये सिन्धु देश के रहने वाले थे। इन के पिता का नाम सिंह गुप्त और पुत्र का नाम तीसट था। इन्होंने अपने उक्त ग्रन्थ के उत्तर तंत्र, ४६ अध्याय में, पलाण्डु-रसायन पर विचार करते हुए शकांगनाओं की कपोल-कान्ति की भूरि-भूरि प्रशंसा की है जिससे जान पड़ता है कि ये भारत में शक नृपतियों के शासन-काल में हुए थे। इस देश में शकों ने ईसा की दूसरी शताब्दी से लेकर चौथी शताब्दी तक राज्य किया था। अतः लगभग चौथी शताब्दी वाग्भट का भी समय जानना चाहिए। स्वर्गीय श्री गणनाथ सेन वाग्भट का समय ईसा की पाँचवीं शताब्दी का प्रारंभ मानते हैं जो प्रायः हमारे अनुमान के आस-पास ही है।

भावमिश्र का समय

सम्राट् अकबर महान् के शासन-काल में, अर्थात् ईसा की सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों के सन्धिकाल में, वैद्यक शास्त्र के विख्यात संग्रहकार भावमिश्र हुए थे। ये कान्यकुब्ज देश के रहने वाले थे। भावमिश्र ने अपने ग्रन्थ भाव-प्रकाश में फिरङ्ग रोग की चिकित्सा लिखी है। यह 'फिरङ्ग' शब्द भारत में वाणिज्यार्थ आये हुए पोर्चुगीजों के लिए प्रयुक्त हुआ है, जिनके सम्पर्क से यह रोग यहाँ की वरांगनाओं में और बाद में उन्हीं वेश्याओं के सम्पर्क से अन्य लोगों में फैला। इससे भी उनका होना ईसा की सोलहवीं शताब्दी में ही सिद्ध होता है।

शार्ङ्गधर का समय

शार्ङ्गधर पद्धति, शार्ङ्गधर संहिता आदि ग्रन्थों के लिखने वाले शार्ङ्गधर का प्रादुर्भाव ईसा की चौदहवीं शताब्दी में हुआ था, यह शार्ङ्गधर पद्धति की प्रस्तावना से ही मालूम हो जाता है।

चरक-संहिता के प्रति संस्कर्त्ता दृढ़वल का समय निरूपित करते हैं। ये कपिलवल के पुत्र और काश्मीर देश के पंचनदपुर (आधुनिक पंज्यनोर) नामक स्थान के रहने वाले थे। ये वाग्भट से पहले हुए हैं, कारण कि वाग्भट ने अपने ग्रन्थ में इनके कतिपय विषयों को उद्धृत किया है। वाग्भट का समय ईसा की पाँचवीं शताब्दी निकाल चुके हैं। अतः दृढ़वल का समय ईसा की चौथी शताब्दी मानना कोई अनुचित नहीं है।

डल्लन और चक्रपाणि का समय

सुश्रुत-संहिता के टीकाकार आचार्य्य डल्लन का समय निकालिए। इन्होंने अपनी

निबन्ध-संग्रह नामक ठीका में अपने वंश तथा निवास-स्थान का परिचय स्वयं दे दिया है। ये मथुरा के समीप अंकोला नामक स्थान के रहने वाले थे। इनके पिता का नाम भरतपाल था तथा ये सहायपाल देव राजा के सत्कृत सभासद् थे। सहायपाल को कोई-कोई सहनपाल भी कहते हैं। इसी प्रकार चरक-संहिता के टीकाकार चक्रपाणिदत्त गौड़ देशाधिपति नयपाल देव के मंत्री नारायणदत्त के पुत्र थे जैसा कि उन्हीं की टीका आयुर्वेद दीपिका से मालूम होता है। इससे सिद्ध होता है कि ये दोनों टीकाकार पाल वंशीय राजाओं के शासन-काल में हुए थे, अतः वे एक दूसरे के समकालीन वा कम से कम समीप कालीन थे। नयपाल देव ईसा की ११वीं शताब्दी में हुए थे; अतः दोनों टीकाकारों का समय प्रायः ग्यारहवीं शताब्दी ही समझना चाहिए।

आयुर्वेद विषयक इस छोटे से निबन्ध में इससे अधिक लिखना असंभव है। केवल इतना ही कह कर इस निबन्ध को समाप्त करते हैं कि आयुर्वेद की जैसी उन्नति बौद्ध-काल में हुई थी वैसी उन्नति कभी न हुई और बौद्धों ने ही इसका प्रचार चीन, तिब्बत, जावा, सुमात्रा आदि द्वीपों तथा अरब आदि देशों में किया था।

धनुर्वेद का विषय

यह यजुर्वेद का उपवेद है। यह वह शास्त्र है जो न केवल धनुष् और बाण का निर्माण और उनका प्रयोग बतलावे; बल्कि यह वह शास्त्र है जो रणस्थली में व्यवहृत होने वाले निःशेष शस्त्रास्त्रों का बनाना और चलाना सिखलावे। इसके अतिरिक्त सैन्य-संगठन (Military Organisation) सैन्य-संचालन (Mobilisation of the Army) और व्यूह-रचना (Formation of Arrays) भी इसी शास्त्र के विषय हैं। विश्वकोष के अनुसार भी धनुर्वेद के ये ही सब विषय हैं; यथा—'धनुषि उपलक्षणेन धनुरादीनि अन्य शस्त्राणि विद्यन्ते ज्ञायन्ते अनेन इति धनुर्वेदः।' अर्थात् धनुष् के उपलक्षण (व्याज) से धनुष्, बाण, तोमर, शक्ति, भिन्दिपाल, लगुड़, मुद्गर, परशु आदि विविध शस्त्रास्त्रों का जो ज्ञान देवे वह धनुर्वेद है। 'प्रस्थान-भेद' नामक ग्रन्थ में 'धनुर्वेद' शब्द से उक्त अर्थ को ही लिया गया है—'अथ धनुः शब्दः चतुर्विधायुधे वर्ण्यते। तच्चतुर्विधम्—मुक्तम्, अमुक्तम्, मुक्तामुक्तम्, यंत्र मुक्तं च। मुक्तं चक्रादि, अमुक्तं खड्गादि, मुक्तामुक्तं शक्त्यवान्तर भेदादि, यंत्रमुक्तं शरादि। अर्थात् 'धनुष्' शब्द का प्रयोग चारों प्रकार के शस्त्रास्त्रों में किया जाता है। चार प्रकार के शस्त्रास्त्र ये हैं—(१) मुक्त (जिसे फेंक कर मारा जाय), जैसे चक्रादि, (२) अमुक्त (जिसे वार करते समय हाथ में ही पकड़े रहे), जैसे तलवार आदि, (३) मुक्तामुक्त जो फेंका भी जाय और नहीं भी फेंका जाय), जैसे शक्ति और उसके विविध अवांतर भेद और (४) यंत्र मुक्त (जो यंत्र द्वारा चलाया जाय), जैसे बाण, गोले आदि।

धनुष शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ

निरुक्तकार यास्क 'धनुष्' शब्द का निर्वचन यों करते हैं—"धनुर्धन्वतेर्गतिकर्म्मणो वधकर्म्मणो वा, धन्वन्त्यस्मादिषवः"; अर्थात् गत्यर्थक 'धवि' धातु से कर्त्ता में तथा वधार्थक 'धवि' धातु से करण में उस् प्रत्यय करने से 'धनुष्' शब्द सिद्ध होता है। 'धन्वन्ति गच्छन्ति अस्मादिषव इति धनुः'; तथा धन्व्यनेन इति धनुः' अर्थात् जिसके द्वारा बाण चलाये जाते हैं और जिससे शत्रुओं का बध किया जाता है, उसे धनुष् कहते हैं। इषु कहते हैं चलाये जाने वा बध करने वाले हथियार को। इसकी भी सिद्धि धन्वर्थक धातुओं से ही होती है। 'इषु ईशतेर्गतिकर्म्मणो वा'। उक्त निर्वचनों से यह मालूम होता है कि 'धनुर्बाण' शब्द रूढ़ि नहीं है; किन्तु इसका प्रयोग उपचार से 'तीर कमान' में होता है।

वासिष्ठ धनुर्वेद और शुक्र नीति

यहाँ तक तो धनुर्वेद का वह विषय बतलाया गया जो नाना प्रकार के अस्त्रों तथा शास्त्रों से सम्बन्ध रखता है। अब उसके सैन्य-संचालन आदि अन्य विषय भी बतलाये जाते हैं। वासिष्ठ धनुर्वेद में 'अथ व्यूहादिभिर्युद्ध कथनम्' यह शीर्षक देकर व्यूह-रचना, सैनापत्य, आश्वयुद्ध आदि की शिक्षा का, उत्तम प्रकार से, वर्णन किया गया है। शुक्रनीति में भी धनुर्वेद की पाँच कलाओं में कवायत, मल्ल-युद्ध, और बाजे के संकेत से सैन्य-संचालन को भी स्थान दिया गया है।

प्रसंग-वश अब यहाँ पर उन कतिपय अस्त्रों और शास्त्रों तथा यंत्रों का वर्णन किया जाता है जिनका प्रयोग प्राचीन काल में रण-भूमि में किया जाता था—

(१) परशु—इसका सूक्ष्म मूँठ, विशाल तथा आगे की ओर बढ़ा हुआ मुख, अर्द्ध चंद्राकार अग्रभाग, रंग मलिन और मुख चमकता हुआ होता था। इसकी लम्बाई बाहुमात्र होती थी। पातन और छेदन इसकी दो गतियाँ होती थीं।

(२) मुद्गर—सूक्ष्म पैर वाला, बिना सिर का, तीन हाथ लम्बा, मधु के समान वर्ण, चौड़े कन्धे और आठ बड़ी भारी होना था। इसकी मूँठ नीले रंग की, गोल और हाथ भर मोटी होती थी। इसको घुमाकर मारा जाता था। इसकी भ्रामण और पातन दो गतियाँ होती थीं।

(३) पिनाक—इसके तीन सिर, श्वेताग्र, कराल लोचन, काँस का शरीर, लौह-निर्मित सिर, ४ हाथ लम्बा, इस पर रीछ के बालों का गुच्छा और पीतल के छल्ले लटकते रहते थे। धूनन और त्रोटन इसकी दो गतियाँ होती थीं।

(४) भिन्दिपाल—भिन्दिपाल का टेढ़ा शरीर, झुका हुआ बड़ा सिर, एक हाथ ऊँचा और हाथ भर की परिधि का होता था। इसको बायाँ पैर आगे रखकर और तीन बार घुमाकर फेंका जाता था। इसको पदातिगण अपने पास रखते थे।

(५) तोमर—काठ का बना हुआ, सिर लोहे का, गले में घंटियों का गुच्छा, तीन हाथ ऊँचा, और इसके नीचे इसे पकड़ने के लिए लाल रंग का मुट्ठा भी लगा रहता था।

(६) मुसल—आँख, हाथ, पैर और सिर से विहीन होता था। दोनों सिरों पर खूब गढ़ा होता था। पातन और प्रोथन, इसकी दो गतियाँ हो थीं।

(७) प्रास—७ हाथ ऊँचा, बाँस का बना, लोहे के सिर और तीक्ष्ण पैरों वाला और रेशमी फूलों के गुच्छों से सुशोभित होता था। आकर्षण, विकर्षण, धूनन और वेधन, इसकी चार गतियाँ होती थीं।

(८) शक्ति—दो हाथ ऊँची, वक्र चाल वाली, सीधी, तीक्ष्ण धार, भयानक दाँतों से युक्त, घंटे के सदृश भयंकर नादकारी, वृहन्मुष्टिका से सुसज्जित, दूरगामी और पहाड़ों को भी तोड़ डालने वाली होती थीं। यह दोनों हाथों से चलाई जाती थी। इसकी तोलन, भ्रामण, बल्गन, नामन, मोचन और भेदन ये छः गतियाँ होती थीं।

(९) द्रुघ्ण—टेढ़ी गर्दन, बड़ा सिर, ५ अङ्गुल ऊँचा, मुट्ठी के बराबर घेरे वाला लोहे का पिण्ड होता था। इसकी उन्नामन, प्रपातन, स्फोटन और दारण, ये चार गतियाँ होती थीं।

(१०) लगुड़—पतले पैर, लम्बा मध्यदंड और सिर मोटा होता था। इसके अग्रभाग में लोहा मढ़ा रहता था। देह छोटी तथा मोटी होती थी। सारे शरीर पर दाने होते थे। यह दृढ़ और दो हाथ ऊँचा होता था। उत्तान, पातन, पेषण और पोथण; इसकी चार गतियाँ होती थीं।

(११) पट्टिश—एक मनुष्य-प्रमाण लम्बा, दुधारा, तीन शृंग, हस्त रक्षक मूँठ से युक्त तथा खड्ग का सहोदर होता था।

(१२) गोशीर्ष—गौ के सिर के सदृश, दो हाथ पसारे हुए, जिसके नीचे फेंकने के लिए दारुयंत्र लगा हो, ऊपर एक फल लगा हो, नील वर्ण का, तीन कानों का उत्तम मूँठ से युक्त, १६ अङ्गुल परिमाण वाला, आगे से तेज और मध्य में चौड़ा होता था। इसकी मुष्टि-ग्रह, परिक्षेप, परिधि और परिकुंठन, ये चार गतियाँ होती थीं।

(१३) परिघ—गोलाकार, ताड़ वृक्ष के सदृश लम्बायमान, दृढ़ और उत्तम काष्ठ निर्मित होता था। सारी सेना इसे उठाकर मारती थी।

(१४) कुन्त—इसका समग्र शरीर लौहनिर्मित, तीक्ष्ण शृंग, ६ धार, ५ हाथ लम्बा और पैर टेढ़ा होता था। उड्डीन, अवडीन, तिर्यगलीन और निखात, ये चार गतियाँ कुन्त की होती थीं।

इनके अतिरिक्त और भी कितने अस्त्र और शस्त्र प्राचीन काल में होते थे जिनका विवरण स्थानाभाव के कारण नहीं दिया गया। अब कुछ यंत्रों का भी विवरण लीजिए—

(१) सर्वतोभद्र—पहियों से युक्त एक गाड़ी होती थी जिसे बड़ी तेजी के साथ प्रयुक्त

किया जा सके। इसके घुमाने पर सब दिशाओं में पत्थरों की वर्षा होती थी। कुछ लोग इसे भूमरिक यंत्र भी कहते हैं।

(२) जामदग्न्य—तीर छोड़ने की यह एक बड़ी मशीन होती थी। इसे महाशर यंत्र भी कहते हैं।

(३) पर्जन्यक—यह आग बुझाने का यंत्र था। किसी-किसी के मन में पर्जन्यक नामक यंत्र ५० हाथ लम्बा होता था जिसे दुर्ग के बाहर रखकर आक्रमणकारी शत्रुओं पर छोड़ा जाता था।

असुर, देव और मनुष्य जातियाँ

रामायण महाभारत तथा पुराणों के अवलोकन से पता चलता है कि सुदूर प्राचीन काल में इस भूमंडल पर तीन ही जातियाँ मुख्य थीं—असुर जाति, देवजाति और मनुष्य जाति। असुर जाति एशिया के पश्चिम भाग (असीरिया और पारस) में, देव जाति एशिया के मध्य भाग (तिब्बत और चीन) में तथा मनुष्य जाति भारत में बसती थी। दैत्य, दानव, राक्षस, यातुधान, निशाचर आदि असुरों के, विद्याधर, किन्नर, यक्ष, गन्धर्व, सिद्ध आदि देवताओं के तथा भारतीय आर्य एवं उनकी संस्कृति को ग्रहण कर लेने वाले द्रविड़ आदि मनुष्यों के उपभेद थे। यों तो तीनों ही जातियाँ मनुष्य (Human beings) थीं; पर भारतीयों को विशेषकर मनुष्य इसलिए कहा जाता है कि इनके आदि शासक मनु (स्वयंभू) थे जिनकी प्रजा होने के कारण ये अपने को उनकी सन्तान मानते हैं। आगे चलकर यवन (Greeks) और म्लेच्छ (Moghuls, Tartars & Afghans) असुरों में ही सम्मिलित कर लिये गये।

भारत पर विदेशियों (असुरों) के आक्रमण

इतिहास हमें यह बता रहा है कि भारत पर जब-जब बाहरी शत्रुओं का आक्रमण हुआ वह पश्चिम से ही हुआ और वे आक्रमण पूर्वोक्त असुर जाति के किसी न किसी उपभेदों के ही द्वारा हुआ। श्री कृष्ण के समय में ही कालयवन मथुरा पर चढ़ आया था और वे स्वयं उसका सामना करने में अपने को असमर्थ समझकर उसे धोखा देकर राजा मुचुकुन्द से मरवा दिया था। श्री कृष्ण से भी पहले सूर्यवंशीय नरेश राजा सगर के समय में भी पश्चिम एशिया के रहने वाले कतिपय असुर जातियों ने कुछ उपद्रव मचाना चाहा था; पर सगर ने उन्हें दंड देकर शान्त किया था। ये तो हुईं प्रागैतिहासिक काल की बातें। अब ऐतिहासिक काल में आइए। असीरिया की रानी सेमीरैमिस ने ८०० वर्ष ईसा पूर्व में, पारस का बादशाह दारा ने ५०० वर्ष ई० पू० में तथा यूनान का बादशाह सिकन्दर ने ३२७ ई० पू० में भारत पर आक्रमण किया था और पंजाब का एक बहुत बड़ा भाग उन

लोगों ने अपने-अपने साम्राज्य में मिला लिया था। उस के बाद भारत में कतिपय बाहरी जातियाँ आईं और भारत में अपने अड्डे जमा लिए।

असुरों के विरुद्ध देवताओं और मनुष्यों में गुटबन्दी

रामायण आदि प्राचीन ग्रंथों के अध्ययन से मालूम पड़ता है कि असुरों के उपद्रवों से क्षुब्ध होकर भारतवासी देवताओं की शरण लेते थे और उन्हें यज्ञादिकों के द्वारा सदा सन्तुष्ट रखते थे ताकि वे असुरों के विरुद्ध उनकी सहायता करें और वे देवगण मनुष्यों की सहायता भी करते थे। अतः असुरगण मनुष्यों और असुरों के समान शत्रु (Common enemy) बन गए। पर असुरगण देवताओं और मनुष्यों दोनों की अपेक्षा, युद्ध विद्या में अधिक निपुण थे, जिसका फल कभी-कभी यह होता था कि देवगण भी असुरों की असह्य मार से 'त्राहि-त्राहि' पुकारते हुए ब्रह्मा जी के दरबार में अपना दुखड़ा सुनाने के लिए जा पहुँचते थे। असुर-राज बलि ने अपने शस्त्र-बल से इन्द्र की अमरावती छीन ली। बलि के साथ खुलकर लड़ने में अपने को असमर्थ जान इन्द्र ने उसे ठगने के लिए अपने छोटे भाई वामन को उसके पास भेजा। वामन ने जिस धूर्त्तता के साथ बलि का सारा राज्य हड़प कर और उसे रसातल में भेजकर अपने बड़े भाई इन्द्र को दे दिया, यह पुराण के पाठकों से छिपा नहीं है।

युद्धकला में असुर ही प्रवीणतम थे

कहने का तात्पर्य यह कि पूर्वोक्त तीनों जातियों में असुर ही युद्ध-विद्या में सब से अधिक दक्ष थे। दूसरा नम्बर देवताओं का था। मनुष्य तो किसी गिनती ही में नहीं थे। वे तो शस्त्रास्त्र का प्रयोग सीखने के लिए, असुरों के पास नहीं, क्योंकि वे उनके शत्रु थे बल्कि देवताओं के पास जाया करते थे। रामायणादि ग्रंथों में इसके कई प्रमाण हैं। अर्जुन को पाशुपत शस्त्र की शिक्षा देनेवाले महादेव थे। इसी प्रकार राजकुमार अज को सम्मोहन अस्त्र बतानेवाला प्रियम्वद नामक एक गंधर्व था। जिस धनुष, बाण, अक्षय तुणीर और तलवार को महर्षि अगस्त्य ने रामचन्द्र को दिया था, वे सबके सब देवनिर्मित थे और उन्होंने उन्हें इन्द्र से पाये थे। जिस बला और अतिबला नामक विद्या-द्वय का उपदेश महर्षि विश्वामित्र ने रामचन्द्र को दिया था उसे उन्होंने ब्रह्मा जी से पाया था। युद्ध कला में भारतवासी सदा पिछड़े रहे। विज्ञान और वास्तुविद्या में भी उनका यही हाल था। जब यूरोपीय जातियाँ भारत में आईं तो यहाँ के राजा और नवाब अपने यहाँ सैनिक शिक्षा देने के लिए फ्रेंचों तथा अँगरेजों को ही नियुक्त किया करते थे। सारांश यह कि जिन विविध अस्त्रों तथा शस्त्रों का वर्णन पहले कर आए हैं उनके विशेषज्ञ असुर वा नहीं तो देवगण ही थे। भारतवासी तो उनके चेले थे। इसी प्रकार यदि उस सुदूर पूर्व काल में

गोले और बारूद का आविष्कार हुआ भी होगा तो इसके आविष्कर्त्ता असुर वा देवगण ही होंगे। भारत में पहले-पहल तुर्क बाबर ने ही पानीपत की पहली लड़ाई में बारूद से छूटने वाली तोपों का प्रयोग किया था।

सेना के विविध विभाजन

अब सेना के विविध विभाजन तथा अक्षौहिणी का प्रमाण बतलाते हैं। *अमर-कोष (क्षत्रिय वर्ग में) लिखा है—

> एकेभैकरथा अश्वा पत्तिः पंच पदातिका।
> पत्त्यंगैस्त्रिगुणैः सर्वैः क्रमादाख्या यथोत्तरम् ॥८०॥
> सेनामुखं गुल्मगणौ वाहिनी पृतना चमूः।
> अनीकिनी दशानीकि, न्योऽक्षौहिण्यथ, संपदि ॥८१॥

अर्थ—जिसमें १ हाथी, १ रथ, ३ घोड़े और ५ पदाति (पैदल सैनिक) हों उसका नाम पत्ति है। पुनः पत्ति के इन अवयवों को उत्तरोत्तर ३ से गुणा करतेजाने से क्रमशः सेनामुख आदि के परिमाण निकलते हैं; यथा—३ पत्तियों का १ सेनामुख, ३ सेना मुखों का १ गुल्म, ३ गुल्मों का १ गण, ३ गणों की १ वाहिनी, ३ वाहिनियों की १ पृतना, ३ पृतनाओं की १ चमू ३ चमुओं की १ अनीकिनी, ३ अनीकिनियों की १ दशानीकिनी, और ३ दशानीकिनियों की १ अक्षौहिणी होती है। इस हिसाब से, अमरसिंह के मत में १ अक्षौहिणी में १६६८३ हाथीं, उतने ही रथ, ५६०४६ घोड़े और ६८४१५ पैदल सैनिक होते हैं, जिनकी संख्या कुल मिलाकर १६६८३० होती है।

पर महाभारत के अनुसार १ अक्षौहिणी की संख्या २१८७०० है जिसमें २१८७० हाथी, उतने ही रथ, ६५६१० घोड़े और १०६३५० पैदल सैनिक रहते हैं। ऐसी-ऐसी १८ अक्षौहिणियाँ कुरुक्षेत्र के युद्ध में लड़ी थीं, जिनमें ११ अक्षौहिणियाँ कौरवों की और ७ अक्षौहिणियाँ पाण्डवों की थीं।

महा अक्षौहिणी का परिमाण

महा अक्षौहिणी का परिमाण लीजिए—

> खद्वयं निधि वेदाक्षि चन्द्राक्ष्यग्नि हिमांशुभिः।
> महाक्षौहिणिका प्रोक्ता संख्या गणित कोविदैः ॥

अर्थ—खद्वय (दो शून्य) ००, निधि ६, वेद ४, अक्षि (आँख) २, चन्द्र १, अक्षि (आँख) २, अग्नि ३ और हिमांशु (चन्द्र) १ हुए। इनको उलटकर लिखा तो महा-अक्षौहिणी की संख्या १३२१२४६०० हुई।

(३) गान्धर्व वेद

सामवेद की उत्कृष्टता

यह सामवेद का उपवेद है। श्रीकृष्ण को सब वेदों में साम ही अति प्रिय है; क्योंकि भगवद्गीता में उन्होंने स्वयं कहा हैं—'वेदानां सामवेदोऽस्मि'। वे स्वयं एक निपुण-नर्त्तक, गायक और वंशी बजाने वाले थे। गोपियों के साथ उनका रास रचना ही इसका प्रमाण है।

संगीत शास्त्र के विषय

संगीत शास्त्र में गीत, वाद्य और नृत्य, इन तीनों कलाओं का ही समावेश होता है। लिखा भी है—'गीत वादित्र नृत्यानां त्रयं संगीत मुच्यते। यह वह विद्या है जो संसार-ताप-संतप्त हृदयों को भी अपना अलौकिक प्रभाव दिखाकर आनन्द-विभोर कर देता है।

सप्त स्वर

संगीत-शास्त्र-सम्बन्धी पूर्वोक्त श्लोक-खंड में सर्वप्रथम गीत का उल्लेख हुआ है; अतः सर्वप्रथम गीत तथा ताल-स्वर पर विचार किया जायगा। अमर-कोष (नाट्य वर्ग) में स्वर की विवेचना करते हुए लिखा है—

निषादर्षभ गान्धार षड्ज मध्यम धैवताः
पञ्चमश्चेत्यमी सप्त तंत्री कंठोत्थिताः स्वराः ॥१॥

अर्थ—निषाद, ऋषभ, गान्धार, षड्ज, मध्यम, धैवत और पञ्चम, वीणा और कंठ से उठे हुए ये सात स्वर होते हैं।

षड्ज स्वर का यह नाम क्यों पड़ा, इस पर विश्व कोष में लिखा है—

नासां कंठ मुरस्तालु जिह्वां दन्तांश्च संस्पृशन्।
षड्जः स जायते यस्मात्तस्मात्षड्ज इतिस्मृतः॥

अर्थ—षड्ज इसलिए कहा गया है कि यह स्वर नाक, कंठ, हृदय, तालु, जिह्वा और दाँतों को छूता हुआ उत्पन्न होता है।

कौन प्राणी किस स्वर में बोलता है

कौन प्राणी किस स्वर में शब्द करता है इस पर देवर्षि नारद कहते हैं—

षड्जं रौति मयूरस्तु, गावो नर्दति चर्षभम्।
अजाविकौ तु गान्धारं क्रौंचो नर्दति मध्यमम्॥१॥
पुष्प साधारणे काले कोकिलोरौति पंचमम्।
अश्वस्तु धैवतं रौतिनिषादं रौति कुंजरः॥२॥

अर्थ—मोर षड्ज स्वर में, गाय ऋषभ स्वर में, भेड़-बकरे गान्धार, क्रौंच पक्षी मध्यम

में, वसन्त काल में, कोयल पंचम में घोड़ा धैवत में, हाथी निषाद स्वर में, शब्द करते अर्थात् बोलते हैं।

चार प्रकार के वाद्य यंत्र

प्राचीनों के मतानुसार ४ प्रकार के वाद्य यंत्र (बाजे) होते हैं—(१) तत अर्थात् तंत्रीगत जिनमें धातुमय तार अथवा ताँत लगे रहते हैं; जैसे सितार, सारंगी आदि, (२) आबद्ध अर्थात् चर्मबद्ध जैसे तबला, ढोलक आदि; (३) सुषरि (शुषिर) अर्थात् रन्ध्र (छिद्र) युक्त जैसे वंशीय आदि और (४) घन अर्थात् धातुनिर्मित जैसे घंटा, झाल, मंजीरा आदि। अमर कोष (नाट्य वर्ग) में लिखा है—

ततं वीणादिकं वाद्य मानद्धं मुरजादिकम्।
वंश्यादिकं तु सुषिरं कांस्य तालादिकं घनम् ॥४॥
चतुर्विध मिदं वाद्यं वादित्रातोद्यनामकम्।

अर्थ—बाजे चार प्रकार के होते हैं—(१) तत, जैसे वीणा आदि; (२) आबद्ध जैसे मृदंग आदि; (३) सुषिर जैसे वंशी आदि और (४) घन जैसे काँसे के बने हुए घंटा आदि। वाद्य को वादित्र तथा आतोद्य भी कहते हैं। भरतमुनि भी वाद्ययंत्रों के ये ही भेद बतलाते हैं—

ततं चैवावनद्धंच सुषिरं घन मेव च।
चतुर्विधंतु विज्ञेय-मातोद्यं लक्षणान्वितम् ॥

वीणा के विविध भेद

तंत्रीगत वाद्ययंत्र का साधारण नाम वीणा है। 'संगीत दामोदर' नामक ग्रन्थ में वीणा के २९ भेद बतलाये गये हैं—(१) अलावणी; (२) ब्रह्मवीणा, (३) किन्नरी, (४) लघुकिन्नरी, (५) विपंची, (६) बल्लकी, (७) ज्येष्ठा, (८) चित्रा, (९) घोषवली, (१०) जया (११) हस्तिका, (१२) कुनिजका, (१३) कुर्मी, (१४) सारंगी, (१५) परिवादिनी, (१६) त्रिशवी, (१७) शतचन्द्री, (१८) नकलौष्ठी (१९) ढंसवी, (२०) ऊडम्बरी, (२१) पिनाकी, (२२) निःशंक, (२३) शुष्कल, (२४) गदावारण हस्त, (२५) रुद्र, (२६) स्वर मण्डल (२७) कपिलास, (२८) मधुस्यन्दी और (२९) घोण। हेमचन्द्र कोष में लिखा है—

शिवस्य वीणा नालम्वी सरस्वत्यास्तु कच्छपी।
नारदस्याथ महती गणानां तु प्रभावती ॥
विश्वावसोस्तु बृहती तुम्बरोस्तु कलावती ॥इत्यादि।

अर्थ—शिव की वीणा का नाम नालम्वी, सरस्वती की कच्छपी, नारद की महती, शिव के गणों की प्रभावती, विश्वावसु की बृहती और तुम्बुरु गन्धर्व की कलावती है।

चर्म्माच्छादित वाद्य के विविध भेद

प्राचीन काल में चर्माच्छादित वाद्य को आनद्ध वा अवनद्ध वाद्य कहते थे। संगीत-शास्त्र के विविध ग्रन्थों में इस वाद्य के कई भेदों का उल्लेख पाया जाता है जिनमें से कुछ एक नाम ये हैं—(१) मुरज (मृदंग) (२) पटह, (३) ढक्का, (४) विश्वक, (५) दर्पवाद्य, (६) घन, (७) पनव, (८) सरुहा, (६) लाव, (१०) जाहव, (११) त्रिवली, (१२) करठ, (१३) कमठ, (१४) भेरी (१५) कुडुक्का, (१६) हुडुक्का, (१७) झनस मुरली, (१८) झल्ली, (१६) ढुक्कली, (२०) दौण्डी, (२१) शान, (२२) डमरू, (२३) ढमुकि, (२४) मड्डू, (२५) कुंडली, (२६) स्तुंगु, (२७) दुन्दुभी, (२८) अंक (२६) मर्द्दल, और (३०) अणीकस्थ। पवन को पवन (मूर्द्धन्य णकार से) भी लिखते हैं।

सुषिर के विविध भेद

रन्ध्र युक्त वाद्य वंशी आदि को सुषिर कहा जाता है; अर्थात् जो वाद्ययंत्र मुंह से फूंक कर बजाया जाय वह सुषिर है; अतः शंख भी एक सुषिर है। संगीताचार्यों ने कई प्रकार के सुषिर बताये हैं जिनमें कुछ के नाम ये हैं—(१) वंशी, (२) प्यारी, (३) मुरली, (४) मधुरी, (५) तित्तिरी, (६) भृंग का हल, (७) तोरही (तुरही), (८) कक्का, (६) भृङ्गिका, (१०) स्वर नाभि, (११) भृङ्ग, (१२) कृपालिका इत्यादि। मातंग मुनि ने महानन्द, नन्द, विजय और जय, इन चार प्रकार के वंशियों को उत्तम बताया है।

धातु वाद्य के विविध भेद

धातु-निर्मित वाद्य यंत्रों को घन कहते हैं। इनके कई भेद हैं यथा—(१) करताल, (२) कांस्यवन, (३) जयघंटा, (४) शुक्तिका, (५) कुंठिका (६) पटवाद्य, (७) पट्टातोष, (८) घर्घर, (६) झझताल, (१०) मंजीर, (११) कर्त्तरी, (१२) उष्कूक इत्यादि।

२० प्रकार के प्रबन्ध

वाद्यविद्याविशारदों ने वाद्य के २० प्रकार के प्रबन्धों का उल्लेख किया है जिनके नाम ये हैं—(१) यति, (२) उभ, (३) ऊंठवली, (४) अवच्छेद, (५) जोड़नी, (६) चंडनी, (७) पद, (८) समहंस, (६) झंकार, (१०) पैसार, (११) तुट्कु, (१२) ऊत्वर, (१३) देङ्कार, (१४) मलप, (१५) मलपंक, (१६) प्रहरण, (१७) अन्तरा, (१८) दुष्करी, (१६) यवनिका, और (२०) पुष्पांजलि। प्रबन्ध भेद से ही वाद्यों के विविध स्वरों की उत्पत्ति हुई है।

सप्त स्वरों के संकेताक्षर

पूर्व में जिन षड्ज आदि सप्त स्वरों का उल्लेख कर आए हैं उनके क्रमशः सा, रे, ग, म, प, ध और नी, ये सात संकेताक्षर हैं जो उनके नामों के प्रथमाक्षर वा प्रथमाक्षरों के सदृशाक्षर हैं, जैसे—सा षड्ज का, रे ऋषभ का, ग गान्धार का म मध्यम का, प पंचम का, ध धैवत का और नी निषाद का संकेताक्षर है।

नाद के भेद

समग्र संगीत नाद के अधीन है और वह नाद आहत और अनाहत भेद से दो प्रकार का होता है, यथा—

> आहतोऽनाहतश्चेति द्विधा नादो निगद्यते।
> गीतं नादात्मकं वाद्यं नादव्यक्त्या प्रशस्यते ॥१॥
> तद्द्वयानुगतं नृत्यं नादा धीनमतस्त्रयम्।
> गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीत मुच्यते ॥२॥

अर्थ—आहत और अनाहत रूप से नाद दो प्रकार का होता है। जो नाद आघात से उत्पन्न होता है जैसे सितार-वीणा आदि वाद्यों के तार पर मिजराव आदि मारने से और मृदंग आदि वाद्यों पर हाथ मारने से एवं कंठ से जो नाद निकलता है वह आहत नाद है। तथा जो नाद बिना आघात के उत्पन्न होता है जैसे कान में उँगली देने से जो सांय-सांय सुनाई देता है वह अनाहत नाद है। संगीत-शास्त्र का सम्बन्ध आहत नाद से है, अनाहत नाद से नहीं। गीत की आत्मा नाद है। नाद को व्यक्त (प्रकट) करने से वाद्य यंत्र की प्रशंसा होती है। गीत और वाद्य, इन दोनों का अनुगामी नृत्य (नाच) होता है; अतः तीनों ही नाद के अधीन हैं और तीनों ही मिलकर संगीत कहलाते हैं।

नोट—कंठ से निकलने वाला भी नाद आहतनाद इसलिए कहलाता है कि वह मन के द्वारा प्रेरित की हुई शरीर के भीतर की वायु के, जिह्वा के द्वारा, कंठ आदि स्थानों पर आघात करने से उत्पन्न होता है।

राग और रागिनी

अब राग क्या है, यह बतलाया जाता है। संगीत शास्त्र के प्राचीन विद्वानों ने सांगीतिक-समाज के अनुरंजक जिन स्वर समुदाय विशेषों (स्वरों के आरोहावरोह-विशेषों) को नियत किया है, उन्हें राग कहते हैं। राग शब्द से रागिनी को भी ग्रहण करना चाहिये। विद्वानों ने राग के ये लक्षण कहे हैं—

> रंजकः स्वरसन्दर्भो राग इत्यभिधीयते।
> योऽसौ ध्वनि विशेषस्तु स्वर वर्ण विभूषितः।
> रंजको जन चित्तानां सरागः कथितो बुधैः ॥

अर्थ—ऐसे स्वर-समूह का नाम राग है जिससे मन प्रसन्न हो। स्वर-वर्णों से विभूषित ऐसे ध्वनि-विशेष को राग कहते हैं जो मनुष्यों के चित्त को प्रसन्न करे।

राग शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ

वस्तुतः 'राग' शब्द संस्कृत के रञ्ज् धातु से घञ् प्रत्यय करने पर व्युत्पन्न होता है। जिससे मनोरंजन (मनोविनोद) हो वह राग है। भरत मुनि ने ६ प्रकार के राग कहे हैं—

रागों के ६ भेद

भैरवः कौशिकश्चैव, हिन्दोलो दीपकस्तथा।
श्रीरागो मेघ रागश्च, रागः षड़िति कीर्त्तिताः॥

अर्थ—भैरव, कौशिक, हिन्दोल, दीपक, श्रीराग और मेघ, ये ६ राग कहे गये हैं।

रागों की स्त्रियाँ रागनियाँ हैं

प्रत्येक राग की ६ रागिनियाँ उनकी स्त्री-स्वरूप होती हैं जिनके मेल से नाना प्रकार के गाने के तर्ज उत्पन्न होते हैं। यथा—

(१) भैरव की—भैरवी, विभावरी, गूजरी, गुणकरी बिलावल और......
(२) कौशिक की—भठहारी, सरस्वती, रूप मंजरी, चतुरकदंवी, कौशिकी और......
(३) हिन्दोलकी—टोड़ी, जयश्री, आसावरी, बंगाली, सैंधवी और......
(४) दीपक की—कान्हड़ा, किदारा, अड़ाना, मारू, विहाग और......
(५) श्रीराग की—गौरी, गौरा, नीलावती, विहंगड़ा, विजयन्ती और पुरिया......
(६) मेघ की—सारंग, गौड़ गिरि, जै-जैवन्ती, धूरिया, सभावती।

रागों के पुत्र और पुत्र-वधू

नोट—प्रत्येक राग की जितनी स्त्रियाँ हैं उतने ही उनके पुत्र और उतनी ही उनकी पुत्रवधुएँ हैं, जिनके नाम विस्तार भय से नहीं दिये गये, कारण कि यह ग्रन्थ कुछ संगीत शास्त्र विषयक नहीं है कि संगीत के सभी विषय सविस्तार दिये जायँ।

रागों में जो पुंसत्व और रागिनियों में जो स्त्रीत्व है, इसे कोई भी स्पष्ट रूप से नहीं बता सकता। तथापि जैसे यदि दो बालक-बालिका बाल्यावस्था में एक ही तरह के वस्त्र तथा आभूषण पहना दिये जायँ तो स्थूल बुद्धि पुरुष उन्हें नहीं पहचान सकेगा कि इन दोनों में कौन बालक तथा कौन बालिका है; किन्तु सूक्ष्मदर्शी चतुर पुरुष उनके सौकुमार्य्यादि से तुरंत पहचान लेगा कि इन दोनों में अमुक बालक है तथा अमुक बालिका है। इसी प्रकार चतुर और अनुभवी सांगीतिक विद्वान् समझते हैं कि जिसमें कुछ ओज है वह राग है और जिसमें कुछ कोमलता है वह रागिनी है। यही राग और रागिनी में भेद है।

वाद्यों के पुनः भेद

पूर्व में वाद्य के जो तत आदि चार भेद कह आए हैं वे उनकी बनावट तथा बजाने

की दृष्टि से हैं। पर उन्हें उनसे निकले हुए शब्द (ध्वनि) के आधार केवल दो ही भेदों में बाँट सकते हैं—

(१) राग वाद्य

(१) राग वाद्य जिनसे राग निकलता है जैसे वंशी, सारंगी, सितार, इसराज, वीणा आदि।

(२) ताल वाद्य

(२) ताल वाद्य जिनसे केवल ताल निकलते हैं जैसे तबला, ढोलक, झाल, मंजीरा आदि। संक्षेपतः तत और सुषिर प्रथम भेद के तथा आनद्ध और घन द्वितीय भेद के समझने चाहिए।

ताल

अब ताल पर विचार किया जाता है। जिससे काल (Time) की गति (Speed, Motion) मापी जाय उसका नाम ताल है। अमरकोष (नाट्य वर्ग) में लिखा है—'तालः काल क्रिया मानम्'; अर्थात् ताल की क्रिया अर्थात् गति का मान ताल है। वस्तुतः अपने-अपने रूप से काल और कालगति दोनों ही अप्रत्यक्ष पदार्थ हैं। उनका ज्ञान किसी उपाधि के द्वारा ही हो सकता है; जैसे घड़ी की सुइयों के चलने से घंटों और मिनटों का, एवं सूर्य के उदयाचल से लेकर अस्ताचल तक चलने से दिन का, पुनः इसी प्रकार उसके अस्ताचल से चलकर उदयाचल पर लौट आने से रात का ज्ञान होता है। यह तो काल और उसकी गति का ज्ञान किसी पदार्थ के चलने से हुआ। इसके अतिरिक्त उनका ज्ञान एक दूसरी रीति से अर्थात् एक, दो, तीन आदि संख्या शब्दों के समानोच्चारण से भी होता है।

मात्राएँ

संगीत-शास्त्र में जिस ताल की अभिव्यक्ति के लिए जितनी संख्याओं का समानोच्चारण करना पड़ता है वे ही उसकी मात्राएँ कहलाती हैं। जैसे धीमे तिताले का काल सोलह मात्राओं का है। इसका यह अर्थ है कि एक से लेकर सोलह तक समान गति से गिनने पर जितना समय लगता है वही समय वा काल धीमे तिताले का है। इसी प्रकार बारह मात्राओं का काल चौताले का है। यही नियम सर्वत्र समझना चाहिए।

काल गति का ज्ञान संख्याओं के उच्चारण से न कर कतिपय सांकेतिक शब्दों के द्वारा भी करते हैं। यही संगीत-शास्त्र की विशेषता है। इस कार्य के लिए ताल वाद्य में 'धा-धा दिं ता' 'धिं धिं ताता' इत्यादि; एवं राग वाद्य में 'डा डिड़ डाड़ा' आदि शब्दों का उच्चारण किया जाता है। धीमे तिताले की जो सोलह मात्राएँ कही गई हैं उन्हें निम्नलिखित प्रकार से प्रकट करते हैं—

'धिं धिं ता ता धिं धिं ता ता धिं धिं ता ता तिं तिं ता ता'

इसी प्रकार चौताले की १२ मात्राएँ ये हैं—'धा धा दिंता किटि तक गिदि गिना धा-धा दिंता।' ये मृदंग में बजते हैं। वस्तुतः रागों की तरह ताल भी अनेक हैं। 'स्वर सागर' में लिखा है कि ५ हजार ६ सौ कतिपय ताल होते हैं जिनमें १६ प्रसिद्ध हैं।

लय

ताल ज्ञान के साथ-साथ 'लय' का भी ज्ञान होना चाहिए; अतः लय बतलाया जाता है। अमर-कोष (नाट्य वर्ग) पढ़िए :--

विलम्बितं द्रुतं मध्यं तत्त्व मोघो घनं क्रमात्।
तालः काल क्रिया मानं लयः साम्यमथास्त्रियाम ॥६॥

विलंवित (तत्त्व) द्रुत (ओघ) मध्य (घन)

इस श्लोक की माहेश्वरी संस्कृत टीका पढ़िए—"कर-चरणादिभिर्यद् विलम्बितं नृत्यादिकं तत् तत्त्वमित्युच्यते एकम्। यत् द्रुतं शीघ्रं नृत्यादिकं तत् ओघ इत्युच्यते एकम्। यन्मध्यं नविलम्बितं नापिद्रुतं तद्धन मित्युच्यते एकम्। काल क्रिययोर्मानं नियमहेतुस्ताल इत्युच्यते एकम्। गीत वाद्य पादादिन्यासानां क्रिया— कालयोःसाम्यं लयइत्युच्यते एकम्॥६॥

अर्थ—हाथ, पैर आदिकों के द्वारा जो नृत्यादि (नाचना बजाना और गाना) धीमी चाल से चलते हैं वे तत्त्व कहे जाते हैं; जो शीघ्र गति से चलते हैं वे ओघ कहे जाते हैं और जो मध्य (न धीमी, न तेज) चाल से चलते हैं वे धन कहे जाते हैं। काल और क्रिया का जो मान (नियम का कारण) है उसे लय कहते हैं। गाने, बजाने तथा हाथ, पैर आदिकों के विविध प्रकार के रखने का, क्रिया और काल के साथ, जो साम्य है उसे लय कहते हैं।

संगीत-शास्त्र के अंगभूत वाद्य और गीत, इन दो अंगों पर विचार हो चुका। अब इसके तीसरे अंग नृत्य पर विचार किया जाता है।

नृत्य

नृत्य एक कला है। प्राचीनकाल में उच्च कुलीन स्त्रियाँ और पुरुष भी इस कला को सीखने में तनिक भी संकोच नहीं करते थे। कहते हैं कि लास्य नृत्य की सर्वप्रथम करने वाली श्री पार्वती जी तथा ताण्डव नृत्य के सर्वप्रथम करने वाले महादेव जी थे। तृतीय पाण्डव अर्जुन भी एक कुशल संगीताचार्य थे। बृहन्नला के रूप में वे राजा विराट् की लड़कियों को संगीत (गाना, बजाना और नाचना) सिखलाने के लिए नियुक्त हुए थे। जब नृत्य करने में कुछ अप्रतिष्ठा मालूम होने लगी तो कुलीनों ने इसे त्याग कर वेश्याओं और स्त्री रूप धारी अकुलीन पुरुषों के हवाले कर दिया। भारत में स्त्री

रूप धारी पुरुषों का नाचना प्राचीनकाल से ही चला आता है। संस्कृत में ऐसे पुरुषों को भ्रकुंस, भ्रु कुंस वा भ्रू कुंस कहते थे। अमरकोष, नाट्य वर्ग, पढ़िए—

भ्रकुंस

भ्रकुंसश्च भ्रु कुंसश्च भ्रू कुंसश्चेति नर्त्तकः।
स्त्री वेष धारी पुरुषो नाट्योक्तौ गणिकाज्जुका ॥११॥

अर्थ—जो स्त्री वेषधारी पुरुष नर्त्तक है उसे भ्रकुंस, भ्रु कुंस, वा भ्रू कुंस कहते हैं। नाट्य के प्रकरण में ही वेश्या के लिए गणिका और अज्जुका शब्दों का प्रयोग होता है, अन्यत्र नहीं। भ्रुवो भ्रु वा कुंसो भाषणं शोभा वा यस्य इति भ्रकुंसादित्रयम्। जो अपनी भौंहों के द्वारा भाषण करे वा अपनी शोभा दिखलाये वह भ्रकुंसादि है।

'नृत्य' शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ

संस्कृत व्याकरणानुसार नृत् (गात्र विक्षेपे) धातु से यत् प्रत्यय करने पर 'नृत्य' शब्द व्युत्पन्न होता है। अतएव रसोद्भावक जो हस्तपादादि शरीरावयवों की विशेष चेष्टा है उसे ही नृत्य कहते हैं।

नर्त्तन के तीन भेद

नर्त्तन (नाच) तीन प्रकार का होता है—(१) नाट्य, जो दूसरे का अनुकरण है; जैसे 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में किसी पात्र (Actor) ने राजा दुष्यन्त का भाग (Part) लेकर उन्हीं का अनुकरण किया अर्थात् उन्हीं के जैसे वार्तालापादि व्यापार किये; (२) नृत्य, जो लय और ताल से रहित है; और (३) नृत्त जो लय और ताल से युक्त है।

पुनः नृत्य और नृत्त के दो भेद हैं—(१) लास्य, जो सुकुमार है और (२) तांडव, जो उद्धत है। पहले का प्रवर्त्तन पार्वती जी के और दूसरे का प्रवर्त्तन महादेव जी के द्वारा हुआ है।

संगीत शास्त्र की उत्पत्ति और प्रचार

संगीत-शास्त्र का विषय बहुत ही गंभीर और महान् है जिसका विस्तृण वर्णन इस ग्रन्थ का लक्ष्य नहीं है; अतः इस शास्त्र की उत्पत्ति और प्रचार पहले-पहल किसने किया, इसे बताकर गांधर्ववेद-विषयक इस संक्षिप्त विवरण का उपसंहार करते हैं। लिखा है—

नाट्य-वेदं ददौ पूर्वं भरताय चतुर्मुखः।
ततश्च भरतः सार्द्धं गन्धर्व्वाप्सरसां गणैः ॥
नाट्यं, नृत्यं तथा नृत्तं मग्ने शंभोः प्रयुक्तवान् ॥

अर्थ—पूर्वकाल में ब्रह्मा जी ने नाट्यवेद (संगीत शास्त्र) को भरत मुनि को दिया। और भरत मुनि ने गन्धर्वों और अप्सराओं के साथ महादेव जी के सामने इस विद्या का प्रयोग किया। अभिप्राय यह कि सर्वप्रथम ब्रह्मा जी ने नृत्य कला को भरत मुनि को

बतलाया और भरत मुनि ने गन्धर्वों और अप्सराओं को इसकी शिक्षा देकर महादेव जी के सामने उनसे नृत्य करवाया।

इस शास्त्र के कतिपय आचार्य

प्राचीनकाल में इस विद्या के विशाखिल, दन्तिल; कम्बल, अश्वतर, वायु, विश्वावसु, रंभा (अप्सरा), अर्जुन (पांडव), नारद (देवर्षि), तुम्बरु, आंजनेय, मातृगुप्त, रावण (लंकेश्वर), नन्दिकेश्वर, स्वातिगुण, विन्दुराज, क्षेत्रराज, राहुल, रुद्रसेन आदि कितने आचार्य हो गए हैं। मुसलमान और विशेष कर मुगल सम्राटों के समय में गान विद्या की खूब उन्नति हुई थी। अकबर के दरबारी मियाँ तानसेन एक जगद्विख्यात गवैये हो गए हैं।

(४) अर्थ-वेद

अर्थवेद के विविध नाम और विषय

अर्थवेद या स्थापत्यवेद, अथर्ववेद का उपवेद है। इसको स्थापत्य-शास्त्र, वास्तु-शास्त्र तथा शिल्प-शास्त्र भी कहते हैं। इसके अन्तर्गत केवल नगरों और भवनों के निर्माण नहीं है; बल्कि वापियों, कूपों तथा सरोवरों की खुदाई और निर्माण के साथ-साथ नाना प्रकार के आयुधों, यंत्रों तथा वाहनों का भी निर्माण है।

अर्थवेद की, अन्य उपवेदों के साथ, सहयोगिता

इस उपदेश की सहयोगिता अन्य सभी उपवेदों के साथ समझनी चाहिए; जैसे नाना प्रकार के चीर-फाड़ आदि सम्बन्धी शस्त्रों और यंत्रों के निर्माण-द्वारा आयुर्वेद के साथ; धनुष्, वाण, तोमर, भिन्दिपाल आदि युद्ध-सम्बन्धी आयुधों के निर्माण-द्वारा धनुर्वेद के साथ; एवं नाना प्रकार के वाद्य यंत्रों के निर्माण-द्वारा गान्धर्व-वेद के साथ इसकी अटूट सहयोगिता स्पष्टतः दीख पड़ती है। इस प्रकार की तर्क-शैली का अनुसरण करते हुए हम इस परिणाम पर भी पहुँच सकते हैं कि संसार में जितनी कारीगरियाँ तथा हुनर हैं वे सभी अर्थवेद के ही अन्तर्गत समझनी चाहिए। उदाहरणतः स्वर्णकार, लौहकार, कांस्यकार, सूत्रधार (बढ़ई), चर्म्मकार, चित्रकार, शिल्पकार (Sculptor), कुविन्द (Weaver) सूचीकार (Toilor), क्षौरकार (Barber) आदि के धन्धे अर्थवेद के ही विषय हैं।

विश्वकर्मा और मय दानव

पुराणों के अनुसार देव जाति में विश्वकर्मा (त्वष्टा) और असुर जाति में मय दानव इस उपवेद के विशेषज्ञ माने जाते हैं। पर मनुष्य जाति में इस शास्त्र का विशेषज्ञ कोई भी न था जैसा कि रामायण और महाभारत से हमें मालूम पड़ता है; कारण कि यदि मनुष्य जाति में भी विश्वकर्मा और मय दानव का समकक्ष कोई वास्तु-विशारद होता तो रामचन्द्र को समुद्र में सेतु-निर्माण के लिए वास्तु-विद्या-निपुण नल और नील नामधारी दो द्वीपान्तर-वासी वानरों की, श्रीकृष्ण को द्वारकापुरी की रचना के लिए विश्वकर्मा की,

एवं युधिष्ठिर को अपने सभा-भवन के निर्माणार्थ मय दानव की आवश्यकता ही क्यों पड़ती ? जिस प्रकार अन्य तीन उपवेदों की ज्ञान-प्राप्ति के लिए मनुष्य जाति अमनुष्यों का ऋणी है, उसी प्रकार वास्तु-वेद की ज्ञान-प्राप्ति के लिए भी वह उन्हीं का ऋणी है। यहाँ भी मनुष्य जाति से, जैसा कि हम पूर्व में कह आए हैं, भारतीय आर्य तथा उनकी सभ्यता और संस्कृति को अपनाने वाले द्रविड़ आदि अन्य भारत-वासियों को ही समझना चाहिए। जिस प्रकार यदुवंशियों की राजधानी द्वारकापुरी के निर्माता विश्वकर्मा थे, उसी प्रकार असुरों की राजधानी त्रिपुर का निर्माता मय दानव था।

वेदों में विमान का उल्लेख

वेदों में आकाश में चलने वाले रथों का वर्णन* मिलता है जिन्हें देखकर कितने आधुनिक विद्वान्, जो प्रायः दयानन्दी विचार के हैं, यह कह बैठते हैं कि वेद कालीन भारतीय आर्यों को हवाई जहाज बनाना और चलाना मालूम था। किन्तु सम्बद्ध मंत्रों पर जरा सूक्ष्मतापूर्वक विचार करने से यह साफ मालूम हो जाता है कि आकाश में चलने वाले रथों के निर्माता, यदि वे कवि की कल्पनाएँ न होकर कोई सत्य वस्तु भी हों तो, भारतीय आर्य नहीं, वरन् रैभव, ऋभु, अश्विन् आदि देवगण थे। भारतीय आर्य तो सादे रथ का ही निर्माण किया करते थे जिनमें घोड़े तथा गधे भी वे जोतते थे। ऋ० १।११६।२ देखिए।

पुराणोक्त विविध अस्त्र-शस्त्र

पुराण आदि प्राचीन ग्रन्थों में विविध अस्त्रों का भी वर्णन मिलता है जिनका प्रयोग रणभूमि में शत्रुओं पर किया जाता था। शत्रु-सेना पर धुआँधार वर्षा करने वाले आग्नेयास्त्र, जल की वृष्टि करने वाले वारुणास्त्र, झंझा उत्पन्न करने वाले वायव्यास्त्र आदि विविध अस्त्रों का उल्लेख उदाहरण-स्वरूप उक्त ग्रन्थों में मिलता है। पर सूक्ष्म अध्ययन से पता चलता है कि इनके निर्माता और शिक्षक भारतीय आर्यों से कोई भिन्न लोग थे। अर्ज्जुन को पाशुपतास्त्र की शिक्षा देने वाले महादेव थे। इसी प्रकार राजकुमार अज को सम्मोहनास्त्र बतलाने वाला प्रियम्बद नामक एक यक्ष था। जिस धनुष्, बाण, अक्षय तुणीर और तलवार को महर्षि अगस्त्य ने रामचन्द्र को दिया था, वे सबके सब देव-निर्मित थे और उक्त महर्षि को इन्द्र से मिले थे। जिस बला और अतिबला नामक विद्याद्वय का उपदेश महर्षि विश्वामित्र ने रामचन्द्र को दिया था, उसे उन्होंने ब्रह्मा जी से प्राप्त किया था। सारांश यह कि उस सुदूर भूतकाल में विज्ञान का इतना उन्नत होना यदि

---

*ऋ० ४।३६।१ और २; ऋ० १।११२।१२; ऋ० १०।१२०।१०; ऋ० १।४७।२; १।११८।२ इत्यादि।

सच भी माना जाय तो इस उन्नति को करने वाले विदेशी लोग थे जिन्हें भारतीय आर्य देव, दानव, असुर आदि विविध नामों से पुकारा करते थे और जिनके वंशधर आज भी कला-कौशल में हमसे बहुत आगे हैं।

वेदांग और उपवेद केवल विषय हैं

हम पहले कह आए हैं कि शिक्षा आदि ६ वेदाङ्ग तथा आयुर्वेद आदि ४ उपवेद, ये १० कुछ ग्रन्थों के नाम न होकर केवल विविध विषयों के नाम हैं। अतः यदि 'वेद' शब्द का व्यापक अर्थ केवल 'ज्ञान' लिया जाय तो संसार के उन विषयों पर लिखे गये सभी ग्रन्थ चाहे वे किसी भी देश, काल वा भाषा में लिखे गये हों, उक्त १० विषयों में से किसी न किसी विषय के ही अन्तर्गत आ सकते हैं। इस दृष्टि से नेस्फिल्ड (Nesfield) साहब का बनाया हुआ अंग्रेजी भाषा का व्याकरण (English Grammar) वैसा ही एक वेदाङ्ग है जैसा कि पाणिनि-कृत संस्कृत व्याकरण अष्टाध्यायी। पर इस ग्रन्थ का सम्बन्ध भारतीय आर्यों के वैदिक साहित्य से है; अतः उक्त विषयों पर विचार करते समय हमें उनकी ही कृतियों तक सीमित रहना पड़ेगा और यदि कुछ और भी उदारता दिखानी हुई तो भारत में ही रहने वा रह चुकने वाले अन्य लोगों की कृतियों पर विचार कर सन्तोष कर लेना पड़ेगा।

वेदकालीन स्थापत्य तथा शिल्प

अब उक्त प्रतिज्ञानुसार सर्वप्रथम वेदकालीन स्थापत्य तथा अन्य शिल्पों पर विचार कीजिए। ऋग्वेद के अध्ययन से तत्कालीन भारतीय आर्यों के निवास-गृहों तथा वस्त्रा-भूषणों पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है। मिट्टी के घरों में रहना उनकी रुचि के प्रतिकूल था। वरुण के मकान में सौ दरवाजे लगे थे (ऋ० ७।८८।५)। आर्यगण यंत्र गृह बनाते थे जिनमें शत्रुओं को फँसा कर कैद किया जाता था (ऋ० १।११६।८)। वे लोहे तथा सोने के भी हार बनाते थे (ऋ० ७।३।७; ऋ० ७।१५।१४)। उनके मकान पाएदार तथा दो तल्ले भी होते थे (ऋ० ५।६२।६) द्वार पर द्वारपाल रखने की प्रथा थी (ऋ० २।१५।६)। बाघ या सिंह पालने के लिए वे आजकल की तरह पिंजड़े बनाते थे (ऋ० १०।२८।१०)। पहनने के लिए वे ऊन के कपड़े बनाते थे (ऋ० १०।२६।६) तथा उनकी स्त्रियाँ सूत कातती थीं (ऋ० २।३।६)। आर्य हाथों में कड़े (ऋ० ५।५८।२) तथा गले में सोने की माला पहनते थे (ऋ० ५।५३।४)। सोनार निष्कं कृखान् कहे-जाते थे (ऋ० ८।४७।१५)। निष्क एक प्रकार का गहना है, जो पहले लेन-देन में रुपये की तरह सिक्के का भी काम करता था।

ऋग्वेदोक्त विविध चीजें

आर्यगण अपनी सवारी के लिए रथ बनाते थे, जिनमें वे घोड़े तथा कभी-कभी गधे

भी जोतते थे (ऋ० १।११६।२)। हैसियत के मुताबिक रथ सोने या काठ के होते थे (ऋ० ३।६१।२; ऋ० १०।८५।२०)। सेमल या पलाश की लकड़ी का भी रथ बनाया जाता था। भृगु तथा उनके वंशधर रथ बनाने में बड़े चतुर थे (ऋ० १०।३६।१४)। घोड़े सुवर्ण से सजाये जाते थे (ऋ० ४।२।८)। युद्ध में भी रथों से काम लिया जाता था। रथियों के धनुष्-बाण प्रधान अस्त्र थे। ये शरीर की रक्षा के लिए कवच और सिर की रक्षा के लिए लोहे या सोने का टोप भी लगाते थे। बाण की रगड़ से अंगुलियों की रक्षा करने के लिए वे हस्तघ्न या दस्ताना पहनते थे। बाण तरकस में रखे जाते थे। सैनिक गण तलवार और भाले से भी लड़ते थे (ऋ० ६।७५ सूक्त; ८।९६।३)। वे छूरी चलाने की भी कला को जानते थे (ऋ० ५।५७।२)। लोहे के अस्त्र जब भोथर हो जाते थे तो उनपर शान चढ़ाई जाती थी (ऋ० ६।३।५)। स्त्रियों के गहनों में कर्णफूल, बिछुआ, चूड़ी इत्यादि आभूषणों के नाम ऋग्वेद में आए हैं। अथर्ववेद में सौ दानों वाले कंघे का उल्लेख हुआ है। आर्यगण अपना भोजन बहुधा काठ के वर्त्तनों में किया करते थे; परन्तु पकाने वाले बर्त्तन किसी न किसी धातु के होते थे।

वेदकालीन स्थापत्य तथा अन्य शिल्पों पर विचार करते समय हमने तत्कालीन जिन वस्तुओं (जैसे आर्यों के गृहों, वस्त्रों, आभूषणों, अस्त्रों, शस्त्रों, सवारियों, वर्त्तनों आदि) का उल्लेख किया है, उनका वर्त्तमान काल में नितान्त अभाव होने के कारण, हम उन की रूप-रेखा वा कारीगरी का कुछ भी अनुमान नहीं कर सकते; अतः हमें उनका उक्त संक्षिप्त विवरण देकर ही सन्तोष कर लेना पड़ता है।

पुराणों और महाकाव्यों के स्थापत्य और शिल्प

ये तो हुईं वेद-काल की बातें। अब वेद-काल को छोड़कर पुराणों और महाकाव्यों के काल में आइए। यहाँ भी हम अपनी वही असमर्थता अनुभव करते हैं। स्फुरत्प्रभापरिधि सुदर्शनचक्र पर विश्वकर्मा द्वारा निर्मित वह द्वारकापुरी, मय दानव का बनाया हुआ पाण्डवों का लोकोत्तर वह सभा-भवन तथा उत्ताल-तरंग एवं महागंभीर लवण-पयोधि के सुविस्तृण वक्षःस्थल पर नल-नील-निर्मित वह पाषाण सेतु, अब हमारे लिए स्वप्न, नहीं, गूलर के फूल हो गए। अब उनके स्मारक-स्वरूप कोई ध्वंसावशेष भी नहीं जो उनके बनाने वालों की स्थापत्य-प्रतिभा का अनुमान करने में हमारी सहायता कर सके। अतः इस काल को भी छोड़कर हम लोग आगे बढ़ें। याद रहे कि यहाँ वेदों, पुराणों और महाकाव्यों के काल से हमारा प्रयोजन उस काल से नहीं है जिसमें उक्त ग्रन्थ रचे या लिखे गये; बल्कि उस काल से है जिसकी घटनाओं का वे वर्णन करते हैं।

पुरातत्त्व-सम्बन्धी अनुसंधान

पूर्वोक्त काल को छोड़कर अब हम एक ऐसे काल में आते हैं जिसके स्थापत्य आदि

विविध शिल्पों के नमूने हमें मोहन जोदड़ो (सिन्ध), हरप्पा (पंजाब), तक्षशिला, सारनाथ (बनारस), पाटलिपुत्र (पटना), नालन्दा (विहार) आदि भारत के विविध स्थानों के खंडहरों में प्रत्यक्ष देखने को मिलते हैं। प्रसंग में उक्त खंडहरों में पाई गई वस्तुओं का एक संक्षिप्त विवरण यहाँ दे देना उचित जान पड़ता है।

मोहन जोदड़ो और हरप्पा

भारतीय आर्यों की स्थापत्य-कला की अपेक्षा अन्य जातियों की स्थापत्य-कला कितनी चढ़ी-बढ़ी हुई थी, इसके प्रमाण हमें हरप्पा और मोहन जोदड़ो की खोदाइयों में मिले हैं। हरप्पा की खोदाइयों से ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओं वाली एक विशाल नगरी का पता चला है। इमारतों पर इमारतें बनी पाई गई हैं। मोहन जोदड़ो के ध्वंसावशेष में मिली हुई वस्तुएँ, पुरातत्व की दृष्टि से, हरप्पा की अपेक्षा अधिक मूल्यवान् सिद्ध हुई हैं। वहाँ की मुहरों, सीलों, मुद्राओं और मूर्त्तियों से पता चलता है कि वे सुमेरियनों की प्राचीन सभ्यता से बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं जो ईस्वी सन् से ३००० वर्ष पूर्व की मानी जाती हैं। सुमेरियनों की संस्कृति वहाँ के नागरिक जीवन में ओत-प्रोत है। कुछ लोगों का अनुमान है कि यह सुमेरियन जाति मेसोपोटामिया के आस-पास से आई। खोदाई में मिली हुई वस्तुओं की जाँच करने से पता चलता है कि सुमेरियन जाति ऋग्वेद कालीन भारतीय आर्यों से बिलकुल भिन्न जाति थी। इनसे उनका कुछ भी सम्बन्ध न था। ऋग्वेद के सूक्तों से पता चलता है कि सिन्धु-उपत्यका के जिन प्राचीन वासियों के साथ नवागत आर्यों का घोर संघर्ष हुआ था वे इन आर्यों से भौतिक सभ्यता में कहीं चढ़े-बढ़े थे और आर्यों ने उनके नगर-दुर्गादि को ध्वस्त कर डाला था और उनके विनाश के कारण बने थे।

मोहन जोदड़ो के मकान

मोहन जोदड़ो में जो मकान देख पड़े हैं वे तीन नवीनतम मकानों के अंश हैं। इनमें तीसरा जो इन तीनों में प्राचीनतम है सबसे अधिक सुन्दर है। इनमें अधिकांश रहने के मकान अथवा दूकानें हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो मन्दिर के समान मालूम होते हैं। एक विशालकाय मकान है जो स्नानागार सा मालूम पड़ता है। इसमें चारों ओर झरोखे वाली सीढ़ीदार बैठक और सभा-भवन (Hall) हैं। ये अच्छी रीति से पकी ईंटों के बने हुए हैं। इनमें से अधिकांश दो-तल्ले मकान थे जिनपर चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ बनी हुई थीं। कुछ ऐसे भी मकान हैं जो शौचगृह से जान पड़ते हैं। मोहन जोदड़ो की खोदाई में सोने और चाँदी के आभूषण, पत्थल और हाथी-दाँत की खोदी हुई मुहरें, ताँबे के औजार और बर्त्तन, पकी मिट्टी और खिलौने, हड्डी और घोंघे के गहने तथा मिट्टी के सादे और रंगदार बर्त्तन आदि मिले हैं। कितने घरों के भीतर कूपों, स्नानागारों तथा नालियों के होने के कारण इस बात का प्रमाण मिलता है कि किसी समय यहाँ का सामाजिक जीवन उसी

प्रकार का था जिस प्रकार सुमेर देश में था, जो मिस्र और बाबूल के तत्कालीन जीवन से उत्कृष्ट समझा जाता था।

मोहन जोदड़ो का स्नानागार

अभी मोहन जोदड़ो के जिस विशाल-काय स्नानागार का उल्लेख कर आये हैं उसके विषय में कुछ और रोचक बातें कहनी हैं। इस स्नानागार का क्षेत्रफल १८०×१०८ फीट है। इसके भीतर ३९ फीट लम्बा, २३ फीट चौड़ा तथा ८ फीट गहरा एक जल-कुंड बना है, जिसके ऊपर में, चारों ओर, बरामदे बने हुए हैं। गन्दे जल को जमीन के भीतर से ही बाहर निकालने के लिए एक बड़ी नाली बनी है।

मोहन जोदड़ो का गर्म घर

इस विशाल स्नानागार के दक्षिण-पश्चिम की ओर गर्म हवा सेवन के लिए, विचित्र ढंग के मकान, कोठरियाँ और बरामदे बने हैं। यहाँ भस्म (राख) और लकड़ी के कोयले पाये गये हैं। जान पड़ता है, उस समय के लोगों को गर्म घर (Hypocaust) का ज्ञान था।

मोहन जोदड़ो की निर्माण-शैली

मोहन जोदड़ो के निरीक्षण से स्पष्ट है कि उन दिनों वास्तु-विद्या में बहुत उन्नति हो चुकी थी। भारत के आधुनिक नगरों के देखने से मालूम होता है कि ये नगर किसी विशेष शैली से नहीं बनाये गये हैं। जैसे-जैसे जनसंख्या बढ़ती गई, वैसे-वैसे मनमाने स्थानों पर, व्यक्तिगत सुभीते के अनुसार दूकान, घर आदि बनते गये; टेढ़ी-मेढ़ी गलियों का जन्म होता गया। किन्तु मोहन जोदड़ो नगर की स्थापना एक विधि-विशेष के अनुसार हुई थी। मध्य में राजपथ था। यह बहुत चौड़ा था। इसकी दोनों तरफ बड़ी-बड़ी दूकानें थीं। उन दूकानों के ऊपर परिवारों के रहने के लिए चौबारे बने हुए थे। ऊपर जाने के लिए सीढ़ियाँ थीं जो बाजार में आती थीं। उक्त राजपथ के उत्तर और दक्षिण में गलियाँ थीं जो एक-दूसरी के समानान्तर थीं। पुनः इन गलियों से छोटी-छोटी गलियाँ फूट कर उन बड़ी गलियों के साथ समकोण पर मिली थीं। इस प्रकार इस नगर में सीधी पंक्तियों में मकान बनाये गये थे। भारत के नगरों की तो बात ही क्या, यूरोप में भी जहाँ वास्तु-विद्या का बहुत प्रचार है, वास्तु-विद्या के अनुसार नगर-निर्माण नहीं हुआ है। केवल अमेरिका के हाल के बने हुए नगरों में यह बात दिखाई देती है। जिस विद्या का प्रयोग मोहन जोदड़ो के निर्माण में किया गया था वह विद्या ५,००० वर्ष पीछे केवल अमेरिका के कुछ नगरों में ही देख पड़ती है। इससे शायद पाठकगण वास्तु-विद्या के तत्कालीन उन्नति का कुछ अन्दाज लगा सकेंगे।

मोहन जोदड़ो का तालाब

मोहन जोदड़ो में एक बड़ा तालाब भी मिला है, जो ३६ फीट लम्बा और २३ फीट चौड़ा है। यह एक आलीशान मकान के बीच में बना है। इस तालाब के चारों तरफ पक्का चबूतरा था। चारों कोनों पर परदेदार गोल प्राङ्गण बने थे जिनके चारों तरफ पक्की दीवारें थीं। जल में उतरने के लिए दो तरफ चौड़ी-चौड़ी सीढ़ियाँ बनी थीं।

मोहन जोदड़ो की मुद्राएँ

मोहन जोदड़ो में पाई गईं मुद्राएँ बड़े महत्त्व की हैं। जैसी मुद्राएँ यहाँ और हरप्पा में मिली हैं ठीक वैसी ही मुद्राएँ सुमेर (Sumer) और एलम (Elum) में भी मिली हैं जिससे मालूम होता है कि इन चारों नगरों के रहने वाले परस्पर सजाति और समकालीन (ई० पू० ३००० वर्ष के) थे।

मोहन जोदड़ो की घरेलू चीजें

यहाँ की खोदाई में घरेलू तथा गृहस्थी के काम में आने वाली बहुत सी चीजें भी मिली हैं जिनसे मोहन जोदड़ो-निवासियों की स्थापत्य-प्रतिभा का बहुमुखी होना सिद्ध होता है। छोटी-छोटी डिबियों से लेकर बड़े-बड़े माट भी मिले हैं। प्याला, थाली, चमचा, कलछी आदि भी प्राप्त हुए हैं। इनपर काले, लाल आदि रंगों के अनेक डिजाइन बने हैं। ऊखल, मूसल, चक्की आदि भी मिले हैं। सोने, चाँदी, ताँबे तथा कीमती पत्थरों के हार पाये गये हैं। ताँबे के कितने ही औजार, चाँदी का एक डब्बा जिसमें गहने रखे हुए थे और रुई के कपड़े भी प्राप्त हुए हैं। खिलौनों, वर्त्तनों, मुद्राओं, मूर्त्तियों आदि पर वे नाना प्रकार के चित्र बनाते थे जिससे मालूम होता है कि उनमें चित्रकला अपनी प्रौढ़ावस्था को पहुँच चुकी थी। सबसे विचित्र बात तो यह है कि मोहन जोदड़ो की खोदाई में आजकल की तरह ही शिवलिंग मिले हैं जिनसे वहाँ के निवासियों का शिव-पूजक होना सिद्ध होता है। शिव पहले दानवों के ही उपास्य देव थे। बाद में वे पौराणिक हिन्दुओं के भी देवाधिदेव महादेव बन बैठे।

हरप्पा में मिली चीजें

मोहन जोदड़ो से ४५० मील दूर पंजाब के मौंट गोमरी जिले में 'हरप्पा' नामक स्थान है। वहाँ भी खोदाई हुई है। वहाँ भी ऐसी ही निराली चीजें मिली हैं। ये चीजें मोहन जोदड़ो में मिली हुई चीजों से भी प्राचीन हैं। वहाँ भी एक ताम्र-पत्र तथा ताम्र के सिक्के एवं कुछ अस्त्र-शस्त्र, जैसे कुल्हाड़ियाँ, तलवारें, भाले आदि मिले हैं। मोहन जोदड़ो और हरप्पा वालों को लिपि-ज्ञान भी था, जैसा कि उनके सीलों, मुहरों आदि पर लिखे हुए अक्षरों से मालूम पड़ता है। पर ये अक्षर अभी तक पढ़े नहीं गये हैं। इन दोनों

स्थानों का पता पहले-पहल श्रीमान् आर० डी० बैनर्जी महोदय (Mr. R. D. Banerjee) को, जो पश्चिम मंडल के पुरातत्त्व विभाग के सुरिन्टेन्डेन्ट थे, ईसवी सन् १९२२ में लगा था और ईसवी सन् १९२५-२६ में खूब जोरों की खोदाइयाँ हुई थीं। पर ये खोदाइयाँ अभी तक समाप्त नहीं हुई हैं।

बौद्धों, जैनों और हिन्दुओं की स्थापत्य-कला

मोहन जोदड़ो और हरप्पा के स्थापत्य-वैभव का सम्बन्ध प्रागैतिहासिक काल से है, अर्थात् उस काल से है जिसका इतिहास हमें मालूम नहीं है। अतः अब इस अनैतिहासिक काल को छोड़कर भारत के इतिहासिक काल में आइए और बौद्धों, जैनों और पौराणिक हिन्दुओं (वेदकालीन आर्यों नहीं) की स्थापत्य-कला का दर्शन कीजिए।

गान्धार-शैली

इस प्रसंग में सर्वप्रथम हम अपने पाठकों से यह कह देना चाहते हैं कि भारतवर्ष पर यूनान देश की स्थापत्य-कला का प्रभाव अवश्य पड़ा है, जिसका सबूत सीमाप्रान्त में पाये गये कुछ विशेष प्रकार के भग्नावशेष हैं, जिन्हें प्राचीनकाल में 'गान्धार' नाम से पुकारा जाता था। ये भग्नावशेष बौद्ध विहारों और स्तूपों के अंश हैं। इनमें बौद्ध मन्दिर (चैत्य-एवं विहार) तथा बुद्धदेव की प्रतिमाएँ हैं। कोरिन्थ-देशीय एरोटस् के हाथ में एक बड़ी-सी पुष्प माला लिये हुए पूर्णतः नग्न चित्र, पक्ष वाले एटलांटस के अनेक चित्र तथा और भी अनेक चित्रकारी के नमूने स्थापत्य-विशारदों तथा पुरातत्व के पंडितों की उक्त धारणा को पुष्ठ करते हैं। ईसवी सन् १९०९ में पेशावर में स्तूपाकार मिट्टी की एक ढेर की खोदाई हुई थी, जिसे लोग 'शाहजी की ढेरी' कहते हैं। इस खोदाई से गान्धार काल की गृह-कला के कितने ही नमूने, जैसे राँगे के छोटे-छोटे बक्स आदि, मिले हैं, जिनपर के लेख से स्पष्ट मालूम होता है कि उक्त स्तूप को सम्राट् कनिष्क ने स्मारक-स्वरूप बनवाया था। कितने ही अन्य स्तूपों में कनिष्क के सिक्के मिले हैं जो भारत को गान्धार कला का ऋणी होना घोषित कर रहे हैं।

तक्षशिला

भारतीय शिल्प-कला का अध्ययन करने के लिए हम लोग अपना पहला पाठ तक्षशिला को बनावें; तत्पश्चात् महत्त्वानुसार अन्य स्थानों का अवलोकन करें। तक्षशिला या 'टेकशिला' पंजाब में है जो सिकन्दर महान् के समय तक एक बड़ा ही प्रसिद्ध नगर था। वहाँ भी खोदाई हुई है और कुशान-वंशीय नरपतियों के सिक्के स्तूप-समूहों में मिले हैं जिनसे महाराज कनिष्क का इतिहास निश्चित-प्राय हो गया है। प्रसिद्ध संस्कृत-व्याकरणकार पाणिनि ने तक्षशिला में शिक्षा पाई थी। अपने समय में तक्षशिला ही शिक्षा-प्राप्ति का सार्वभौम केन्द्र था।

सारनाथ

संसार-प्रसिद्ध सारनाथ, जिसका शुद्ध नाम सारंगनाथ है, काशी से चार मील, वरुणा नदी के उस पार है। इसे बौद्ध साहित्य में इस पत्तन (ऋषि-पत्तन) और मृगदाव भी कहते हैं। अशोक के समय में सारनाथ का सितारा चमका। कितने बौद्ध मठ और विहार बनाये गये जिन्हें विधर्मियों ने बाहर से आकर नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। यहाँ पर भी ईसवी सन् १८३४-३६ में कनिंघम साहब ने खोदाई की और 'धमेख स्तूप' और 'चौखंडी स्तूप' को बाहर निकाला। तब से यहाँ की खोदाई जारी है और पाई हुई चीजें यहाँ के 'अजायब-घर' में रख दी गई हैं। मार्शल साहब ने १९२५-२६ में 'चत्वारी आर्य-सत्याति' का उपदेश एक पत्थर पर खुदा हुआ, प्रधान मन्दिर के पश्चिम की ओर पाया था। यहाँ पर चौखंडी-स्तूप, धमेख (धर्मेच्च) स्तूप, प्रधान मन्दिर, कनिष्क के शिला-लेख आदि बौद्धों की स्थापत्य-कला की उत्कृष्टता कर रहे हैं मूलगन्धकुटी-विहार तथा चक्रमुक्त और चारसिंहों की मूर्ति वाला सर्वोत्तम अशोक स्तंभ देखने के लायक हैं।

नालन्दा

छठी शताब्दी के आते-आते विहार के नालन्दा नामक स्थान तक्षशिला का उत्तरा-धिकारी बन बैठा और तत्कालीन जगत् का विद्या-केन्द्र बन गया। प्रसिद्ध चीनी यात्री हुएनसांग ने सातवीं शताब्दी में इसका विस्तृत वर्णन किया है। यहाँ प्रसिद्ध बौद्ध-विश्व-विद्यालय था। नालन्दा की खोदाई में अब तक दस भवन मिले हैं; ग्यारहवाँ मठ भी दिखाई देता है। यहाँ की खोदाई से भी बहुत सी बातों का पता लगा है। नालन्दा का यह नाम जैनों के सूत्र-कृतांग, बौद्धों के निकाय, ताम्रपत्रों और शिला-लेखों में पाया जाता है। इसका यह नाम क्यों पड़ा, इसपर कितनी ही किम्वदन्तियाँ प्रचलित हैं—

(१) चीनी परिब्राजक हुएनसांग ने लिखा है कि तथागत (बुद्धदेव) अपनी वृद्धावस्था में इसी जगह बोधिसत्त्व-जीवन व्यतीत करते थे। वे एक बड़े प्रान्त के राजा हो गये। उन्होंने अपनी राजधानी यहीं बनाई। संसारी जीवों के दुःख से व्यथित होकर उन्होंने अनवरत-रूप से दान देना प्रारंभ किया। फलस्वरूप इस जगह का नाम 'नालन्द' (जिसका अर्थ है दान का अन्त नहीं) पड़ गया।

(२) इत्सिंग के कथनानुसार नालन्द का पहला नाम 'नागानन्द' था जो किसी नाग जाति के व्यक्ति के नाम पर, जिसे नन्द कहते थे, रखा गया था।

(३) यह भी संभव है कि चूँकि यहाँ पर 'नल' अर्थात् कमल के फूलों की प्रचुरता थी जो अभी है, इसलिए इसका नाम नालन्द पड़ा।

उक्त तीनों ही कल्पनाएँ नालन्दा के नामकरण का पता लगाने के लिए निस्सार तथा बे सिर-पैर की हैं। जिस स्थान पर प्राचीन काल में नालन्दा की स्थिति थी उस स्थान का

नाम अर्वाचीनकाल में बड़गाम पड़ गया था जैसा कि कतिपय जैन ग्रन्थों से पता चलता है। 'बड़गाम' शब्द 'बटग्राम' शब्द का अपभ्रंश है; चूँकि उक्त स्थान में वटवृक्षों की भरमार थी, अतः उसका नाम 'वटग्राम' पड़ा जो बाद में बिगड़ कर 'बड़गाम' हो गया।

नालन्दा ईसा के शताब्दियों पूर्व तथा पश्चात् भी एक उन्नतिशील नगर था। दो महान् धर्मगुरुओं (महावीर और बुद्ध देव) की चरण-धूलि, सौन्दर्यमयी झील, पद्म परिपूर्ण सरोवर तथा जैन और बौद्ध धर्मों के इन्द्र भूति एवं सारिपुत्र नामक दो प्रधान शिष्यों के सम्बन्ध से इस स्थान ने प्राचीन काल में पवित्रता और प्रसिद्धि की चरम सीमा को प्राप्त कर लिया था। हुएनसांग के समय, जिसने ईसवी सनों ६३० और ६४५ के बीच भारत-भ्रमण किया था, यह स्थान अपनी गौरव-श्री के उच्चतम स्तर पर आरूढ़ हो चुका था।

पाटलिपुत्र

पाटलिपुत्र (वर्त्तमान पटना) की खोदाई से, जिसे मि० स्पूनर ने सँभाली थी, काठ के बने हुए उस प्राचीर (घेरा fence) के भग्नांश मिले हैं, जो ईसा-पूर्व चौथी शताब्दी में, उक्त नगर के चारों ओर बना हुआ था। अशोक के बनवाए हुए पाटलिपुत्र के सभा भवन के स्तंभ का भग्नावशेष तथा कितने ही ईंट स्तूप भी मिले हैं। उसके बनवाए हुए कुल १२ स्तम्भों का पता चला है। जिनमें लौरिया-नन्दन गढ़ का स्तम्भ, जो चम्पारन जिले में है, वस्तुतः सुरक्षित है। प्रत्येक स्तम्भ का प्रधान भाग, जो शहतीर के समान था, एक ही टुकड़े का था। इसके तीन भाग थे—ऊपर का भाग, नीचे का भाग और मध्य भाग, जिनमें दस्तकारी की सफाई थी। पाटलिपुत्र की खोदाई से मौर्य-सभ्यता और पारसी-सभ्यता का सम्बन्ध मालूम हुआ है। इन खोजों से चाणक्य के अर्थशास्त्र और मेगास्थनीज के लेखों का समर्थन हुआ है।

बसाढ़

अब पटने से बसाढ़ की खोदाई देखने चलिए। बसाढ़ मुजफ्फरपुर जिले में एक गाँव है जो हाजीपुर से १८ मील उत्तर है। जहाँ आजकल बसाढ़ बसा है वहीं पर अथवा उसी के आस-पास बौद्ध काल में विश्वविदित वैशाली नगरी बसी थी; क्योंकि उसी के निकटस्थ बखरा गाँव में एक अशोक स्तंभ है। यह वैशाली वज्जी (वृज्जी) देश की राजधानी थी और वहाँ पर लिच्छवि नामक एक व्रात्य क्षत्रिय जाति गण-तन्त्र (प्रजातन्त्र) के द्वारा शासन करती थी। यह जाति कई उपजातियों में विभक्त थी जिनमें से एक का नाम ज्ञातृ था, जिसे जैन धर्म के प्रवर्त्तक महावीर स्वामी का जन्म देने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। इसी कारण उन्हें नातपुत्त (ज्ञातृ-पुत्र) भी कहते हैं। उक्त वज्जी देश में सारन, चम्पारन, मुजफ्फरपुर और दरभंगा, इन चार जिलों के थोड़े-थोड़े भाग सम्मिलित समझने चाहिए।

बसाढ़ के लोग कहा करते थे कि उनका गाँव राजा विशाल की राजधानी थी। ई० सन् १६०३-४ में तथा १६१३-१४ में राजा विशाल के गढ़ पर ही खोदाइयाँ हुईं जिनमें मिले हुए गुप्त, कुष्ण तथा प्राक्कुषण मुहरों के देखने से मालूम होता है कि यह राज्याधिकारियों का ही केन्द्र रहा है। गढ़ से पश्चिम तरफ बावन पोखरे के उत्तरी भाग पर, आपको मध्यकालीन कितनी ही मूर्त्तियाँ बुद्ध, बोधि-सत्त्व, विष्णु, हरगौरी, गणेश, सप्त मातृका, एवं जैन तीर्थंकरों की मिलेंगी।

विशाल गढ़ की खोदाई में जो सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण चीजें मिली हैं, वे हैं महाराजाओं महारानियों तथा दूसरे राज्याधिकारियों की अंकित कई सौ मुहरें, जिनमें महाराज चन्द्रगुप्त द्वितीय (ई० सन् ३८०-४१३) की धर्मपत्नी महादेवी श्री ध्रुव स्वामिनी, महाक्षत्रप रुद्र सेन की बहन महादेवी प्रभुदमा, वैशाली के अनुसयानक आदि की मुहरें मुख्य हैं।

जैन धर्म के लिए वैशाली का कितना महत्त्व है, यह तो उसके प्रवर्त्तक महावीर स्वामी के वहाँ जन्म लेने से ही स्पष्ट है। बौद्ध धर्म में भी वैशाली का कम महत्त्व नहीं है। वैशाली में ही बुद्ध ने, ई० पू० ५२५-५२४ में स्त्रियों को भिक्षुणी बनने का अधिकार दिया था और अपना अन्तिम वर्षावास किया था। यहीं पर उनके निर्वाण के सौ वर्ष पश्चात् उनके उपदेशों की छान-बीन के लिए ई० पू० ३८३ में बौद्ध भिक्षुओं ने अपना द्वितीय धर्म सम्मेलन (Buddhistic Council) किया था।

पहाड़पुर

यों तो बंगाल प्रान्त में कई स्थानों में अन्वेषण का कार्य हुआ है; किन्तु 'पहाड़पुर' की खोदाई विशेष महत्त्व रखती है। पहाड़पुर राजशाही जिले के अन्तर्गत इस्टर्न बंगाल रेलवे लाइन पर स्थित जमालगंज स्टेशन से लगभग तीन मील की दूरी पर है। खोदाई के पहले खँडहर की आकृति छोटे-छोटे टीलों की श्रृंखला से परिवेष्ठित एक पहाड़ी जैसी थी; संभवतः इसी कारण इस स्थान का नाम पहाड़पुर पड़ा। ग्राम का प्राचीन नाम 'सोमपुर' था, जैसा कि खँडहर से प्राप्त एक मुद्रा से, जिस पर 'सोमपुर धर्मपाल विहार' शब्द अंकित है प्रकट होता है। वोधगया में प्राप्त एक शिलालेख भी इस बात को पुष्ट करता है कि बंगाल में इस नाम का एक प्रसिद्ध बिहार था।

सर्व प्रथम ई० सन् १६२३ की १ली मार्च को पहाड़पुर के सुविस्तृत स्तूप की खोदाई प्रारम्भ हुई और क्रमशः बढ़ती गई। कुदाली की पहली चोट मारनेवाले 'वारेन्द्र-अनुसन्धान समिति' के अध्यक्ष बाबू अक्षय कुमार मैत्रेय थे।

पहाड़पुर के मन्दिर

पहाड़पुर में एक ऐसा अच्छा मन्दिर मिला है जो समस्त भारत में अपना जोड़ नहीं रखता। इस मन्दिर में हिन्दू-बौद्ध-संस्कृति का अच्छा सम्मिश्रण किया गया है। 'भूमिस्पर्श

मुद्रा' तथा 'व्याख्यान-मुद्रा' की अवस्थामें भगवान् बुद्ध की मूर्त्तियाँ मिली हैं। गोवर्द्धन-धारी चतुर्बाहु कृष्ण और बलराम की मूर्त्तियाँ, यम और यमुना की मूर्त्तियाँ, बालि, सुग्रीव तारा, बोधिसत्व पद्मपाणि आदि की मूर्त्तियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। कला और इतिहास, दोनों दृष्टियों से पहाड़पुर प्रसिद्ध है। इस मन्दिर की स्थापत्य शैली (Style of architecture) उत्तर भारत और दक्षिण भारत दोनों से सर्वथा भिन्न है। जो शिल्प-शैली ब्रह्मदेश, जावा और प्राच्य द्वीप-समूह के प्राचीन मन्दिरों में देख पड़ती है, उनकी नींव सम्भवतः इस पहाड़पुर के मन्दिर में डाली गई थी। इस मन्दिर में उक्त देव-देवियों के चित्रों के अतिरिक्त कितने ऐसे भी चित्र हैं जिनके द्वारा पंचतंत्र की कहानियाँ दिखाई गई हैं; जैसे कीलोत्पाटी वानर तथा शशाद-वंचित कुएँ में झाँकते हुए सिंह के चित्र प्रभृति।

भुवनेश्वर का मन्दिर

भुवनेश्वर का मन्दिर कला और साहित्य की दृष्टि से समस्त भारत में निराला है। इस मन्दिर का निर्माण इतनी अच्छी शैली से हुआ है कि इसके अध्ययन द्वारा वंगीय कला और स्थापत्य-शास्त्र का मार्मिक रहस्य मालूम हो सकता है। अधिक न कहकर इतना ही कहना पर्याप्त है कि इस स्थान पर हिन्दू धर्म और तांत्रिक बौद्ध धर्म का संयोग मालूम पड़ता है। चार मूर्त्तियाँ (बोधिसत्व पद्मपाणि, चामुण्डा देवी, इन्द्राणी और वाराही की) देखने योग्य हैं।

भारत के प्राचीन मन्दिर दो श्रेणियों में विभक्त किये जा सकते हैं—(१) आर्य-श्रेणी और (२) द्राविड़ श्रेणी। उड़ीसा में भुवनेश्वर का, बुन्देलखंड में खजुराहो का, जोधपुर में ओसिया का, आबू पहाड़ पर दिलवरा का मन्दिर आर्य श्रेणी के मुख्य उदाहरण हैं। इसी तरह मद्रास के दक्षिण समुद्र के तट पर 'मल्लारपुरम्-रथ' कांजीवरम् में कैलाश नाथ का, बीजापुर के 'अएहोले और पत्तदकल' के, त्रिचनापली में श्री रङ्गम् का तथा एलोरा का कैलास-मन्दिर और तंजोर का मन्दिर द्राविड़-श्रेणी के नमूने हैं। दोनों श्रेणियों की रचना शैली में यह भेद है कि पहली श्रेणी के मन्दिरों का अधोभाग अधिक विस्तृत तो नहीं होता पर उसकी ऊँचाई अधिक होती है; पर दूसरी श्रेणी के मन्दिरों का अधोभाग विस्तृत और ऊँचाई कम होती है जिससे देखने में वे पिरैमिड की तरह लगते हैं।

गुफाएँ

गुफाएँ तीन श्रेणियों में विभक्त की जा सकती हैं—(१) बौद्ध, (२) हिन्दू और(३)जैन।

बौद्ध गुफाएँ दो प्रकार की हैं; चैत्य और विहार। चैत्य साधारण मन्दिर के समान होता है जो देखने में गिरजा-घर सा जान पड़ता है और विहार भिक्षुओं के रहने का स्थल है। शायद ही कोई ऐसा चैत्य मिलेगा जिसके समीप विहार न हो।

हिन्दुओं के गुफा-मन्दिरों का नमूना बम्बई के निकट एलिफेन्टा में है। यह शिवार्पित

किया हुआ है और ७वीं शताब्दी से पूर्व का नहीं है। परन्तु इन सबों से कहीं अधिक प्रसिद्ध मन्दिर एलोरा का कैलास-मन्दिर है। यह ठीक मन्दिर-सा प्रतीत होता है। परन्तु यथार्थ में यह एक चट्टान को ही खोद कर बनाया गया है। यह भी शिवार्पित है। यह राष्ट्रकूट के राजा कृष्ण द्वारा ई० सन् ७६८ में खोदा गया था।

जैनों की गुफाओं में खंड गिरि और उदय गिरि के खोह प्राचीनतम हैं। मध्यकालीन खोह का नमूना इन्द्र-सभा है जो एलोरा में प्राप्त है और नवीनतम खोह नासिक का है जो अनकाई में है। इस प्रकार के सुरक्षित खोहों में अजन्ता का भी खोह है। इसकी प्रशंसा कला की दृष्टि से बहुत अधिक है।

बौद्धों, जैनों और हिन्दुओं की चित्रकला

चित्रकला भी स्थापत्य-शास्त्र का एक मुख्य अंग है। अतः इस प्रसंग में भारतीय चित्र-कला पर भी कुछ प्रकाश डाल देना अनुचित न होगा। भारतीय चित्र-कला के सबसे अच्छे नमूने अजन्ता की गुफाओं में पाये जाते हैं। इनका समय ई० पू० १०० से लेकर ई० सन् ६०० तक है। अजन्ता की चित्रावली बौद्ध चित्रकला का उत्कृष्ट नमूना है, जो आज तक बचा है। बौद्धधर्म की महायान शाखा ने अपनी मध्य एशिया, वैक्ट्रिया, तिब्बत, चीन तथा जापान की यात्रा में वहाँ वालों से बहुत सी बातें सीखीं और उन्हें बहुत सी बातें सिखाईं भी। इन अन्योन्य आदान-प्रदानों से उभय पक्ष को लाभ हुआ। यदि बौद्धों ने उन विदेशियों को धर्म सिखलाया तो उन विदेशियों ने भी कला-कौशल की उन्नति में बौद्धों की सहायता की।

सातवीं शताब्दी के बाद भारतीय चित्रकला का ह्रास हो चला। एलोरा के गुफाओं के चित्र इस बात के प्रमाण हैं। इन चित्रों में परम्परा तो अजन्ता की ही कला की है, पर चित्र निर्जीव से हैं।

मुस्लिम शिल्प-कला

बौद्धों, जैनों तथा पौराणिक हिन्दुओं की शिल्प-कला का दिग्दर्शन पाठकों को करा अब हम ऐतिहासिक काल में मुसलमानी शिल्प-कला का दिग्दर्शन कराते हैं। मुसलमानी स्थापत्य कला का कार्य, भारतवर्ष में, १३वीं शताब्दी में प्रारम्भ हुआ। मुसलमानों की प्रथम मसजिद हिन्दू और जैन मन्दिरों की ही सामग्री से बनी है। कभी-कभी ऐसा भी हुआ है कि मंदिर में बिना कुछ परिवर्त्तन किये ही उसे मसजिद बना दी गई है। अजमेर की 'अढ़ाई दिन का झोपड़ा' नामवाली मसजिद तथा कुतुब मीनार के समीप की मसजिद इस बात के प्रमाण हैं। भारतवर्ष में मुस्लिम स्थापत्य-कला भिन्न-भिन्न समय में, भिन्न-भिन्न वंशों की अधीनता में, भिन्न-भिन्न रूप में देख पड़ती है। पठान बादशाहों के समय की इमारतों में यह खूबी है कि वे बड़ी लम्बी-चौड़ी और कामदार होती थीं। कुतुबमीनार तथा अलतमश और अला-

उद्दीन खिलजी के मकबरे इसके नमूने हैं। मंडू (धार स्टेट) में एक तीसरे प्रकार का नमूना निकल पड़ा, जिसके उदाहरण हुसंग का मकबरा, जामा मसजिद, जहाजमहल, हिंडोला महल आदि हैं। बंगाल के मुसलमानों की गृह निर्माण-शैली एक विचित्र ही ढंग की होती थी, जो स्वतन्त्र थी। इस शैली में बने जदीना मसजिद, एक लाखी मसजिद, कदम्ब रसूल मसजिद आदि प्रसिद्ध इमारतें हैं। बहमनी वंश के मुस्लिम शासकों द्वारा बनवाई हुई गुलबर्गा की मसजिद में यह विशेषता है कि इसमें ६३ गुम्बद बने हैं। अहमदाबाद की इमारतें मुस्लिम इमारतों में सबसे अधिक खूबसूरत हैं। सिदी सैयद की मसजिद का जोड़ा कहीं भी तथा कभी मिलना असम्भव सा जान पड़ता है। मुस्लिम कारीगरी में इतना हिन्दूपन कहीं भी नहीं है। इसके ठीक विपरीत, बीजापुर में आदिलशाही शासकों के द्वारा बनवाई हुई इमारतें हैं, जिनमें हिन्दूपन कुछ भी नहीं है। इसके नमूने वहाँ की जामा मसजिद, गंगा महल और गोल गुम्बज हैं।

मुगल सम्राटों की इमारतें

पठानों की तरह मुगल बादशाह इमारतों के बड़े शौकीन थे। इनकी शैली में हिन्दू और मुस्लिम कला का संमिश्रण था। मुगल बादशाहों की इमारतों में हुमायूँ की कब्र, फतहपुर सिकरी का मकबरा, जहाँगीर के समय की लाहौर की मसजिद, आगरे की इत्तमाद-उद्-दौला की कब्र, शाहजहाँ के समय का ताज महल और मोती मसजिद आदि प्रसिद्ध हैं।

मुगल चित्र-कला

मुगलों की गृह निर्माण कला का अध्ययन कर अब उनकी चित्र-कला का अध्ययन कीजिए। सोलहवीं शताब्दी से मुगलों का राज्य आरम्भ होता है। तभी से फारस की चित्र-कला का असर भारत की चित्र कला पर पड़ा। बहुत दिनों तक पन्द्रहवीं शताब्दी के बाद के चित्र इन्डोपर्शियन (Indo Persian) चित्रों के नाम से प्रसिद्ध थे। डाक्टर कुमार स्वामी ने स्वरचित "राजपूत पेंटिंग" (Rajput Panting) नामक पुस्तक में राजपूताने के चित्रों और मुगल चित्रों को अलग-अलग किया। ई० सन् १९१२ में आपकी 'राजपूत पेंटिंग' प्रकाशित हुई।

अथर्ववेद से संबद्ध अर्थ-वेद या वास्तु-वेद नामक उपवेद पर यहाँ तक जो कुछ लिखा गया है वह भारत के प्रागैतिहासिक काल किम्वा ऐतिहासिक काल की वास्तु-रचना शैली से बनी वस्तुओं के वास्तविक नमूनों से सम्बन्ध रखता है, चाहे वह शैली शुद्ध हो या मिश्रित। अब यहाँ पर हिन्दुओं की खास रचना-शैली पर कुछ प्रकाश डाल कर इस परिच्छेद का उपसंहार करते हैं।

हिन्दू-स्थापत्य शैली

हिन्दुओं के विश्वासानुसार स्थापत्य-शास्त्र का ज्योतिष-शास्त्र के साथ एक अटूट

सम्बन्ध है। फलतः ज्यौतिष-शास्त्र के कतिपय आचार्यों ने अपनी-अपनी कृतियों में आवास-गृहों, कूपों, देवालयों आदि के निर्माण-नियम बतलाए हैं। उदाहरण के लिए आचार्य वाराह-मिहिर-कृत 'वाराही (बृहत्) संहिता' को लीजिए।

वाराही (बृहत) संहिता

आचार्य ने उक्त संहिता में राजा, सेनापति, मंत्री, युवराज, सामन्त तथा इतर श्रेष्ठ राजपुरुषों एवं कंचुकी, वेश्या, नर्त्तक आदि के घरों की निर्माण-विधि बतलाते हुए उनकी लम्बाई और चौड़ाई विषयक भिन्न-भिन्न हस्तात्मक माप निर्धारित किये हैं। यह तो हुई पद (Position) के अनुसार माप-व्यवस्था। इसी प्रकार ब्राह्मण आदि चार वर्णों (Castes) तथा चांडालादि अंत्यजों (Out castes) के घरों के लिए भी अलग-अलग माप-भेद बतलाये गये हैं। उक्त संहिता का त्रिपंचाशत्तम (५३वाँ) अध्याय पढ़िये—

उत्तममष्टाभ्यधिकं हस्त-शतं नृप गृहं पृथुत्वेन।
अष्टाष्टोनान्येवं पंच सपादानि दैर्घ्येण ॥४॥

अर्थ—राजा के लिए सबसे उत्तम घर वह है जिसकी चौड़ाई १०८ और लम्बाई इसकी सवागुणी अर्थात् १०८+२७=१३५ हाथ हो। पुनः उत्तम श्रेणी के घर की चौड़ाई में से ८ और लम्बाई में से ८+२, अर्थात् १० घटा देने से दूसरी श्रेणी का घर होता है। इसी प्रकार की क्रिया और तीन बार करते जाने से उत्तम आदि पाँच श्रेणियों के घर के माप निकालते हैं ॥ ४ ॥ अब मंत्री का घर कितना लंबा-चौड़ा होना चाहिए यह भी जान लीजिए—

षष्टिश्चतुर्विहीना वेश्मानि भवन्तिपञ्च सचिवस्य।
स्वाष्टांशयुता दैर्घ्यं तदर्धतोराजमहिषीणाम् ॥६॥

अर्थ—मंत्री का उत्तम घर ६० हाथ चौड़ा होता है। पुनः इसमें से चार-चार हाथ क्रमशः घटाते जाने से अन्य चार प्रकार के मंत्री-गृहों की चौड़ाई आती है। चौड़ाई में आठवाँ भाग जोड़ देने से लम्बाई मालूम हो जाती है। रानियों के घर के माप इनके आधे होते हैं।

जो इस विषय को सुविस्तृत-रूप से जानना चाहें वे उक्त संहिता को पढ़ें।

———

अथ षष्ठ परिच्छेद

वेदोपाङ्ग

कोई-कोई वेदों के छः अंगों की तरह उनके छः उपांग भी मानते हैं और ये छः उपांग षड् दर्शन ही हैं जिनके नाम ये हैं—(१) सांख्य, (२) योग, (३) वैशेषिक, (४) न्याय, (५) पूर्व मीमांसा और (६) उत्तम मीमांसा या वेदान्त। इन छओं पर भी इस ग्रंथ में प्रकाश डाला जायगा। यहाँ पर भी हम अपने पाठकों को बता देना चाहते हैं कि ये छः केवल विषयों के नाम हैं, ग्रंथों के नहीं। इनमें एक-एक विषय पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं।

सांख्य दर्शन वा कापिल-दर्शन

सांख्य-दर्शन के आदि प्रवर्त्तक महर्षि कपिल हैं; अतः इसे कापिल-दर्शन भी कहते हैं। इस दर्शन का नाम 'सांख्य' इस कारण पड़ा कि इसमें पच्चीस तत्त्वों की 'संख्या' निश्चित की गई है। इस दर्शन के अनुसार प्रकृत से लेकर पुरुष तक सभी सूक्ष्म किम्वा स्थूल तत्त्व इन्हीं २५ तत्त्वों के अन्तर्गत आ जाते हैं।

२५ तत्वों के नाम

उन २५ तत्त्वों के नाम क्रमशः ये हैं—प्रकृति, महत्, अहङ्कार, पञ्चतन्मात्र, एकादश इन्द्रिय, पञ्च महाभूत और पुरुष।

प्रकृति और विकृति

प्रकृति उसको कहते हैं जिससे कोई वस्तु बने और जो वस्तु बने उसको विकृति (विकार) कहते हैं; जैसे सुवर्ण से कुंडल बनता है तो यहाँ सुवर्ण प्रकृति और कुण्डल विकृति है।

प्रकृति और विकृति ये आपेक्षिक संज्ञाएँ हैं। एक ही तत्त्व अपने उत्पादक की दृष्टि से विकृति और अपने उत्पाद्य की दृष्टि से प्रकृति हो सकती है, जैसा कि आगे के उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा।

सत्व, रजस् और तमस्, ये तीन गुण

सत्व, रजस् और तमस् ये तीन गुण हैं। गुणों के साम्यावस्था का नाम प्रकृति है। यही साम्यावस्था असली अवस्था है। इसी असली अवस्था का नाम प्रकृति है। यही प्रलयावस्था है; क्योंकि इस अवस्था में सारी रचना अपने असली रूप में लीन हो जाती है और कार्य जगत् अव्यक्त हो जाता है। अतः प्रकृति को अव्यक्त भी कहते हैं।

प्रलय और सृष्टि

प्रकृति में सृष्टि के लिए जब क्षोभ (हलचल) उत्पन्न होता है तब गुणों की उक्त साम्यावस्था नष्ट होकर उनमें विषमता उत्पन्न कर देती है। गुणों की यही वैषम्यावस्था ही सृष्टि की अवस्था है।

२५ तत्वों का उत्पत्ति-क्रम

प्रकृति में जब सृष्टि के लिए क्षोभ उत्पन्न होता है तो पहले पहल जो तत्त्व उससे उत्पन्न होता है उसका नाम है महत्, फिर महत् से जो उत्पन्न होता है उसका नाम है अहंकार, फिर अहंकार से पंचतन्मात्र और ग्यारह इन्द्रियाँ, और पंचतन्मात्रों से क्रमशः पंच महाभूत उत्पन्न होते हैं।

पंचतन्मात्र

पंचतन्मात्र ये हैं—रूप-तन्मात्र, रस-तन्मात्र, गन्ध-तन्मात्र, स्पर्श-तन्मात्र और शब्द-तन्मात्र।

पंचभूत

पंचभूत वे हैं जो उक्त तन्मात्राओं से क्रमशः उत्पन्न होते हैं—तेज (अग्नि), जल पृथ्वी, वायु और आकाश।

ग्यारह इन्द्रियाँ

ग्यारह इन्द्रियाँ ये हैं—पाँच कर्मेन्द्रिय (मुख, हस्त, पाद, गुदा और जननेन्द्रिय), पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (नेत्र, श्रोत्र, घ्राण, रसना और त्वचा), ये दस और ग्यारहवाँ मन।

सांख्य-दर्शन में वर्णित पूर्वोक्त तत्वों को भलीभाँति समझने के लिए उनके अंगरेजी प्रतिशब्द नीचे दिये जाते हैं। आशा है कि इससे अंगरेजी जानने वालों को विषय समझने में विशेष सुविधा होगी।

तत्वों के अंगरेजी प्रतिशब्द

प्रकृति = Nature as distinguished from पुरुष। महत् = The intellect as distinguished from मनस्। इसे बुद्धि-तत्व भी कहते हैं। अहंकार = The conception of inviduality; Self-consciousness। अपनी सत्ता वा व्यक्तित्व का ज्ञान कि 'मैं हूँ।' तन्मात्र = The subtle and primary elements, such as, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द। Literally it means 'a very small quantity'. सत्व = The quality of goodness and purity regarded as the highest of the three 'Gunas'. रजस् = The quality which causes too much activity in created beings'

तमस् = Darkness or ignorance. सत्त्व predominates in gods, रजस्, in men and तमस् in demons. पुरुष = The soul as opposed to प्रकृति। विकृति = a change from the natural form or condition of anything.

२५ तत्वों में केवल प्रकृति आदि भेद

पूर्वोक्त पच्चीस तत्वों में से कोई केवल प्रकृति है, कोई प्रकृति-विकृति है, कोई केवल विकृति है और कोई प्रकृति-विकृति कुछ भी नहीं है। जो मूल प्रकृति है अर्थात् जिससे आगे बनना आरम्भ हुआ, पर वह आप किसी से नहीं बनी, वह केवल प्रकृति है। वही मुख्य प्रकृति है। मुख्य प्रकृति होने से ही उसको प्रधान कहते हैं। अव्यक्त भी उसी का नाम है। प्रकृति से महत् और महत् से अहंकार उत्पन्न होता है; अतः महत् अहंकार की प्रकृति और प्रधान की विकृति है। इसी प्रकार अहंकार तन्मात्र और इन्द्रियों की प्रकृति तथा महत् की विकृति है। और पंचतन्मात्र पंच महाभूतों की प्रकृति, पर अहंकार की विकृति है। इसलिए महत्, अहंकार, और पंचतन्मात्र, ये प्रकृति-विकृति हैं और ग्यारह इन्द्रियाँ तथा पंचमहाभूत केवल विकृति हैं, क्योंकि ये उत्पन्न हुए हैं ; पर इनसे आगे कुछ उत्पन्न नहीं होता। पुरुष न प्रकृति है, न विकृति ; क्योंकि न उससे कुछ बनता है, न वह किसी से बना है। इस पर सांख्यकारिका का वचन पढ़िए—

मूल प्रकृति रविकृति महदाद्याः प्रकृति-विकृतयः सप्त।
षोड़शकस्त्वविकारो न प्रकृतिर्नविकृतिः पुरुषः ॥३॥

अर्थ—मूल प्रकृति किसी की विकृति नहीं है। महत् आदि सात (महत्, अहंकार और पंचतन्मात्र) प्रकृति-विकृति हैं। सोलह (पंचमहाभूत और ग्यारह इन्द्रियाँ केवल विकृति हैं और पुरुष न प्रकृति है, न विकृति।

सांख्य-शास्त्र में तीन ही प्रमाण माने जाते हैं। सांख्य-कारिका पढ़िए—

तीन प्रमाण

दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाण-सिद्धत्वात्।
त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेय-सिद्धिः प्रमाणाद्धिः ॥४॥

अर्थ—प्रमेय की सिद्धि प्रमाणाधीन है ; अतः तीन प्रकार के प्रमाण होते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्त वचन (शाब्द)। शेष प्रमाण इन तीनों के ही अन्तर्गत आ जाते हैं।

सत्य कार्य-वाद और कार्य-कारण में अभेद

अब सत्कार्यवाद और कार्य-कारण का अभेद बतलाते हैं। सांख्य का सिद्धान्त है—"नासत आत्मा लाभो न सत आत्महानम्" ; अर्थात् जो नहीं है उसको स्वरूप लाभ नहीं

होता, और जो है उसका स्वरूप नाश नहीं होता। जो कुछ इस जगत् में है वह सदा से है और जो नहीं है वह कभी भी नहीं होता। जो हमें नया कार्य उत्पन्न होता हुआ प्रतीत होता है, वह नया नहीं है, बल्कि पहले से ही है। अन्तर केवल इतना ही है कि पहले वह अव्यक्त था, अब वह व्यक्त हुआ। जैसे दूध मथने से मक्खन कुछ उत्पन्न नहीं होता; वह तो पहले से ही दूध में वर्त्तमान था; मथने से वह केवल व्यक्त अर्थात् प्रकट हुआ। मथने से पूर्व वह अव्यक्त रूप से दूध में विद्यमान था। इस तरह कार्य को उत्पत्ति के पहले से ही सत् अर्थात् विद्यमान मानना सत्कार्यवाद है। इसमें कार्य-कारण का अभेद माना जाता है; क्योंकि प्रत्येक कार्य अपने कारण की विविध अवस्थाओं में से एक अवस्था-विशेष है। और नाश भी कार्य का अभाव नहीं है; वह तो उसका अपने कारण में लीन हो जाना है; जैसे बर्फ का पिघल कर पानी हो जाना, पुनः पानी का वाष्प हो जाना इत्यादि। पानी का अत्यंताभाव कभी भी नहीं होता; वह किसी न किसी रूप में विद्यमान रहता है।

आत्मा के १३ करण

अब आत्मा के त्रयोदश करण कहते हैं। पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार, ये तेरह पदार्थ आत्मा के करण अर्थात् साधन हैं। इनमें मन, बुद्धि और अहंकार ये तीन अन्तःकरण और शेष दस (पाँच कर्मेन्द्रिय और पाँच ज्ञानेन्द्रिय) बाह्य-करण हैं। बाह्यकरण अपने-अपने विषय को बाहर से भीतर पहुँचाते हैं। बुद्धि, मन और अहंकार के साथ मिलकर, उनका निश्चय करती है; अतः अन्तःकरणों में बुद्धि प्रधान है। बाह्य इन्द्रिय विषय का ग्रहण करके मन को समर्पण कर देते हैं; मन संकल्प करके अहंकार को, अहंकार अभिमत करके बुद्धि को और बुद्धि उसको पुरुष के सामने रखती है। अन्त में बुद्धि ही प्रकृति और पुरुष का विवेक कराती है; अतः बुद्धि ही पुरुष का प्रधान मंत्री है।

सूक्ष्म शरीर

सूक्ष्म शरीर क्या है, इसे भी जान लेना चाहिए। बुद्धि, अहंकार, एकादश इन्द्रिय और पंचतन्मात्र, इन अट्ठारह तत्त्वों का समुदाय सूक्ष्म शरीर है, जिसे लिंग शरीर भी कहते हैं। यह कर्म, ज्ञान और भोग का आधार है। स्थूल शरीर के नाश होने पर भी इसका नाश नहीं होता; बल्कि स्थूल शरीर के नष्ट हो जाने पर यह सूक्ष्म शरीर कर्म और ज्ञान की वासनाओं से वासित हुआ स्थूल शरीर से निकल कर उक्त वासनाओं के अनुसार नया जन्म धारण करता है। यह नट की तरह अपने रूप को बार-बार बदलता हुआ प्रलयावस्था में प्रकृति में लीन हो जाता है और पुनः सृष्टिकाल में नया उत्पन्न हो जाता है।

पुरुष एक नहीं अनेक हैं

पुरुष एक है वा अनेक इस पर विचार करना चाहिए। यदि सृष्टिमात्र में एक ही पुरुष सभी शरीरों में विद्यमान रहता, जैसा कि अद्वैतवादी मानते हैं, तो किसी भी एक व्यक्ति के सुखी वा दुःखी होने पर संसार के सभी व्यक्ति ठीक उसी प्रकार सुखी वा दुखी हो जाते। पर हम प्रत्यक्षतः देखते हैं कि विश्व में सभी प्राणियों के सुख वा दुख की व्यवस्था अलग-अलग है ; अतः यही मानना पड़ेगा कि पुरुष एक नहीं ; बल्कि अनेक हैं।

बन्ध और मोक्ष

अब पुरुष के बन्ध और मोक्ष पर विचार करते हैं। पंचशिखाचार्य का सूत्र है—

"बुद्धितः परं पुरुषमाकारशील विद्यादिभिर्विभक्तमपश्यन् कुर्य्यात् तत्रात्मबुद्धिं मोहेन;" अर्थात् बुद्धि से भिन्न पुरुष को स्वरूप (नित्य शुद्धता), स्वभाव (उदासीनता और चेतनता आदि द्वारा भिन्न न देखता हुआ जीव मोहवश उसी बुद्धि में ही जो आत्म बुद्धि कर लेना है वही 'चिद्चिद् ग्रन्थि' वा जड़ (बुद्धि) की चेतन (पुरुष) के साथ गाँठ कही जाती है। और यही गाँठ संसार वा दुःख वा बन्ध का कारण है। कहने का अभिप्राय यह है कि पुरुष शुद्ध, उदासीन और चेतन है और बुद्धि अशुद्ध अनुदासीन तथा जड़ है, यह भेद न देखने वाला ही जीव बुद्धि को अपने आप समझ लेता है और इसी से बन्धन में पड़ जाता है।

उक्त गाँठ को खोलना ही बन्धन रूपी रोग की दवा है। अविवेक ही दुःख का कारण है और विवेक ही उस दुःख का पूरा इलाज है। जब पुरुष बुद्धि से अपने को भिन्न समझ लेता है तब दुःख का हेतु मिट जाता है।

कैवल्य

"तत्संयोग हेतु विवर्जनात् स्यादयमात्यन्ति को दुःख प्रतीकारः;" अर्थात् बुद्धि का संयोग, जो दुःख का हेतु है, जब छूट जाता है तब दुःख का आत्यन्तिक प्रतीकार (पूरा इलाज) हो जाता है। इस अवस्था में पुरुष की बुद्धि में आत्मभावना निवृत्त हो जाती है और वह बुद्धिगत सन्ताप से सन्तप्त नहीं होता। इस प्रकार बुद्धि से निखर जाना ही 'कैवल्य' है।

जब पुरुष को आत्म-स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो जाता है तो यह माया की फांसों से सर्वथा छूट जाता है और इस प्रकृति को एक तमाशा देखने वाले की नाईं आराम से बैठा हुआ देखता रहता है जैसा कि लिखा है—"प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः सुस्थः।" अर्थ-प्रेक्षक की तरह चैन से बैठा हुआ पुरुष प्रकृति को देखता है।

जीवन्मुक्त

ऐसा ही पुरुष जीवन्मुक्त होकर जिज्ञासुओं का गुरू बनता है जिसका उपदेश बन्धन

से छुड़ा देता है। ऐसे जीवन्मुक्त के लिए प्रकृति अपना काम बन्द कर देती है। यद्यपि बद्ध पुरुषों की नाईं प्रकृति का सम्बन्ध उसके साथ भी है, पर वह प्रकृति के ऊपर हो गया है। उसके लिए प्रकृति की रचना का कोई प्रयोजन नहीं। इस प्रसंग में सांख्य-दर्शन, तृतीय अध्याय, सूत्र ६९ और ७० पढ़िए—

"नर्त्तकीवत् प्रवृत्तस्यापि निवृत्तिश्चारितार्थ्यात्" ॥६९॥

अर्थ—प्रकृति प्रवृत्ति-स्वभाव-वाली होने पर भी कृतकार्य होने से नर्त्तकी के समान निवृत्त हो जाती है। अभिप्राय यह कि जिस प्रकार नर्त्तकी अपने शृंगार तथा हाव-भाव से पुरुष को मोहित करके निवृत्त हो जाती है उसी प्रकार प्रकृति भी कृतकार्य होने से निवृत्त हो जाती है। पुनश्च

"दोष बोधेऽपि नोपसर्पणं प्रधानस्य कुलवधूवत्" ॥७०॥

अर्थ—कुलीन स्त्री के समान दोष के बोध होने पर प्रकृति पुरुष के बन्धन का हेतु (कारण) नहीं होती। अर्थात् जिस प्रकार कुलीन स्त्री अपने दोषों के जानने वाले पुरुष के सन्मुख नहीं होती, उसी प्रकार प्रकृति भी परिणामित्व, दुखित्व आदि अपने दोषों के जानने वाले पुरुष के लिए बन्धन का कारण नहीं होती।

तत्त्व ज्ञान के पश्चात् शरीर की हालत

तत्त्व ज्ञान के पश्चात् शरीर की क्या गति होती है, इस पर सांख्य-कारिका ६९ पढ़िए—

"सम्यग् ज्ञानाधिगमाद् धर्मादी नाम कारण प्राप्तौ।
संस्कार वशाच्चक्र भ्रमिवद् धृत शरीरः" ॥६७॥

अर्थ—तत्त्व ज्ञान की प्राप्ति होने से धर्मादि अकारण बन जाते हैं, अर्थात् कर्म का बीज नष्ट हो जाता है; तथापि संस्कार के वश से, कुम्हार के चलाए हुए चक्र के आप से आप घूमते रहने की तरह ज्ञानी का शरीर बना रहता है। पुनश्च—

विदेह मोक्ष

"प्राप्ते शरीर भेदे चरितार्थत्वात् प्रधान-निवृत्तौ।
ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति ॥६८॥

अर्थ—संस्कार के समाप्त होने पर जब शरीर गिर जाता है तो प्रकृति चरितार्थ हो जाती है; अर्थात् पुरुष के लिए वह नया शरीर नहीं बनाती और वह अवश्यंभावी तथा अविनाशी कैवल्य को प्राप्त होता है।

सांख्य का विषय संक्षेपतः वर्णन कर इसे समाप्त करते हैं।

योग-दर्शन के प्रवर्त्तक और नामकरण

इस दर्शन के आदि प्रवर्त्तक महर्षि पतंजलि हैं; अतः इसे पातंजल दर्शन भी कहते

हैं। चूँकि इसमें योग का वर्णन है; अतः इसका नाम योग-दर्शन पड़ा। किन्हीं लोगों का यह भी मत है कि महर्षि पतंजलि योग-सिद्धान्त के आद्य प्रवर्त्तक नहीं हैं, क्योंकि उनसे भी पहले इस शास्त्र के अनेक आचार्य हो गये हैं, जैसे हिरण्य-गर्भ, वार्षगण्य, याज्ञवल्क्य आदि। पतंजलि तो योग-शास्त्र के केवल सम्पादक हैं, जिन्होंने प्राचीन योग-सिद्धान्तों का क्रमबद्ध संग्रह अपने योग-सूत्रों में कर दिया है और यही संग्रह वर्त्तमान काल में योग-दर्शन नाम से प्रसिद्ध है। पर यों तो कोई भी विषय नवीन नहीं होता; उसे क्रमबद्ध रूप देने वाला ही उस विषय का आद्य आचार्य माना जाता है।

अनेक पतंजलियों में योग-दर्शन के रचयिता का निर्णय

पतंजलि नाम के कई आचार्य प्राचीन काल में हो गये हैं; अतः उनमें कौन से पतंजलि योग-सूत्रों के रचयिता हैं, इसका पता लगाना चाहिए। किन्हीं लोगों की धारणा है, जैसा हम पूर्व में, आयुर्वेद नामक उपवेद पर विचार करते हुए पंचम परिच्छेद में कह आए हैं, कि सुप्रसिद्ध चिकित्सा-ग्रन्थ चरक-संहिता के प्रणेता, पाणिनि-व्याकरण के महाभाष्य-कार और योग-सूत्रों के रचयिता, तीनों तीन व्यक्ति न होकर एक ही व्यक्ति हैं। पर खोज करने वाले विद्वानों ने खूब छान-बीन करके इस बात का पता लगा लिया है कि भले ही चरक भिन्न व्यक्ति हों, पर भाष्यकार और योग सूत्रकार दोनों एक ही व्यक्ति (पतंजलि) हैं। पतंजलि नाम वाले अन्य आचार्यों का योग-सूत्रों से कोई सम्बन्ध नहीं है।

पतंजलि के जन्म-स्थान आदि का निरूपण

योग सूत्रकार पतंजलि किस समय में हुए थे और अपने जन्म से भारत-भूमि के किस खंड की महिमा बढ़ाई थी इस पर भी विचार करना चाहिए। जब महाभाष्यकार और योग सूत्रकार एक ही व्यक्ति हैं तो जो समय महाभाष्यकार का होगा वही समय योग सूत्रकार का होना चाहिए। महाभाष्य में चन्द्रगुप्त-सभा, पुष्पमित्र-सभा तथा पुष्पमित्र कृत यज्ञ का भी उल्लेख है और पुष्पमित्र शुंगवंशीय राजा था जिसका समय ईसा से १७८ वर्ष पूर्व था; अतः पतंजलि ई० पू० १७८ से पूर्व के नहीं हो सकते।

यह तो हुआ पतंजलि के समय का निरूपण। अब उनके जन्म-स्थान आदि का पता लगाइए। ऐतिहासिक खोजों से पता चला है कि पतंजलि का जन्म-स्थान गोनर्द था, जो काश्मीर देश में था। इनकी माता का नाम गोणिका था। महाभाष्य में पतंजलि ने अपना परिचय 'गोनर्दीय' तथा 'गोणिका-पुत्र' इन दोनों ही नामों से दिया है।

सांख्य और योग का पारस्परिक सम्बन्ध

सांख्य और योग का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है, इस पर दो मत हैं—एक तो यह है कि दोनों प्राचीन काल से सम्मिलित हैं; अथवा दोनों एक ही हैं; उनमें कुछ भी अन्तर नहीं है। दूसरा मत यह है कि प्राचीन काल में योग-साधन पृथक् था; उसका सांख्य-

सिद्धान्त से कोई भी सम्बन्ध नहीं था। उस प्राचीन योग-साधन का झुकाव शैव और शाक्त मत की ओर था और वह मंत्र-योग के रूप में था। पतंजलि मुनि ने प्राचीन योग सिद्धान्तों को अपने योग-दर्शन में सांख्य के दार्शनिक विचारों पर अवलंबित कर दिया है। यदि सांख्य और योग में समता देख पड़ती है, तो वह पतंजलि की की हुई है। पर दोनों के एकीकरण की प्रवृत्ति भगवद्गीता के समय में ही प्रारंभ हो चुकी थी और आते-आते अन्त में वह पतंजलि द्वारा पूर्णतः सफल हुई। भगवद्गीता, पाँचवाँ अध्याय, श्लोक ४-५ देखिए—

> सांख्य-योगौ पृथक् वालाः प्रवदन्ति न पंडिताः।
> एक मप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥४॥
> यत् सांख्यैः प्राप्यतेस्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
> एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पंडितः ॥५॥

अर्थ—जिनकी बुद्धि बालकों की सी है वे ही, न कि पंडित-गण, सांख्य और योग में भिन्नता मानते हैं। इन दोनों में से किसी एक का समुचित आश्रय लेने से दोनों का फल प्राप्त होता है ॥४॥ जो स्थान सांख्य के द्वारा प्राप्त होता है वही स्थान योग के द्वारा भी प्राप्त होता है। जो सांख्य और योग को एक करके मानते हैं, यथार्थ में वे ही पंडित हैं ॥५॥

पाँचवें श्लोक के चतुर्थ चरण का पाठान्तर भी मिलता है, यथा—'यः पश्यति पश्यति'; अर्थात् जो सांख्य और योग को एकसा देखता है, वास्तव में वही देखता है। भाव यह कि वही आँख वाला है।

'योग' शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ

अब 'योग' शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ पर भी विचार कीजिए। वेदों, ब्राह्मण-ग्रन्थों, उपनिषदों आदि ग्रन्थों में चाहे जिस किसी भी अर्थ में 'योग' शब्द व्यवहृत हुआ हो, यहाँ हमें उन अर्थों से कोई मतलब नहीं। हमें केवल उसी अर्थ से काम है जिसमें पतंजलि ने अपने योग-सूत्रों में योग-शब्द का व्यवहार किया है। पाणिनि के मतानुसार युज् (समाधौ) धातु घञ् प्रत्यय लगाने पर 'योग' शब्द सिद्ध होता है जिसका अर्थ केवल ध्यान वा समाधि होता है। पतंजलि ने भी अपने इस सूत्र (योगश्चित्तवृत्ति निरोधः) में योग शब्द का अर्थ स्पष्ट कर दिया है; जिसका अर्थ है—'चित्त की वृत्तियों को रोकना ही योग है', जो दूसरे शब्दों में ध्यान वा समाधि है। योग-सूत्रों पर भाष्यकार व्यास और वृत्तिकार वाचस्पति मिश्र का भी यही मत है। अतः योग का अर्थ है, चित्त-वृत्तियों को रोकना अथवा समाधि लगाना।

द्रष्टा, दृश्य और दृष्टि

पुरुष द्रष्टा है और प्रकृति के सारे कार्य, चाहे वे भीतर के हों अथवा बाहर के, दृश्य हैं। पर द्रष्टा का साक्षात् दृष्य केवल चित्त है और इसी को माध्यम बनाकर वह अन्य दृश्यों को देखता है। वस्तुतः चित्त ही अन्य दृश्यों का प्रकाशक वा दर्पण है। जब कोई बाहर का दृश्य आकर चित्त पर पड़ता है तो वह तदाकार हो जाता है अर्थात् अपने आकार को उसके आकार में बदल लेता है। इसी आकार को वृत्ति (Conception; idea) कहते हैं। जब दूसरा दृश्य प्रवेश करता है तो चित्त इस दूसरे दृश्य का आकार धारण कर लेता है। जब बाहर का दृश्य नहीं भी आता तो भी पूर्व संस्कारों के वश से ही वृत्तियाँ बदलती रहती हैं। इन सभी प्रकार की वृत्तियों का अनुभव आत्मा करता रहता है। इस अनुभव को बोध वा दृष्टि कहते हैं और आत्मा को बोद्धा वा द्रष्टा कहते हैं।

वृत्तियों के पाँच भेद

चित्त की वृत्तियाँ प्रतिक्षण नई-नई बदलती रहती हैं। जागृति किम्वा निद्रित अवस्था इस वृत्ति-परिवर्त्तन में कोई भिन्नता नहीं उपस्थित करती। चित्त-वृत्तियों के एक दिन के भी परिवर्त्तन असंख्य हैं। तथापि समस्त वृत्ति-परिवर्त्तन पाँच भेदों में ही आ जाते हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति।

जिस वृत्ति से यथार्थ बोध हो उसे प्रमाण कहते हैं। प्रमाण तीन प्रकार के होते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम, जिसे आप्त भी कहते हैं।

जिससे यथार्थ बोध हो, वह विपर्य्यय, अर्थात् भ्रान्ति, मिथ्या ज्ञान वा अविद्या है।

जो कहने की चाल में तो ठीक हो, पर वस्तु से शून्य हो उसे विकल्प कहते हैं; जैसे "पानी से हाथ जल गया", यह वृत्ति वस्तु से शून्य इसलिए है कि हाथ पानी से नहीं; बल्कि पानी में जो आग है उससे जला है। पर कहने की चाल ऐसी ही है और समझ-बूझ वाले भी ऐसा ही कहते हैं; अतः यह अज्ञान भी नहीं।

निद्रा वृत्ति वह है जिसके द्वारा प्रगाढ़ निद्रा में सोकर जगा हुआ व्यक्ति यह कहने में समर्थ होता है कि वह ऐसा बेसुध सोया कि उसे कोई सुध नहीं रही। यह निद्रा भी चित्त की एक वृत्ति है; अतएव जागने पर इसका स्मरण होता है।

पूर्वोक्त विविध वृत्तियों के अनुभव से जो संस्कार उत्पन्न होते हैं, उन संस्कारों से जो फिर वृत्ति उत्पन्न होती है वह स्मृति है।

चित्त की पाँच अवस्थाएँ

चित्त की पाँच अवस्थाएँ या भूमियाँ होती हैं—क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। जब चित्त अत्यन्त अस्थिर (चंचल) होता है तो वह उसकी क्षिप्तावस्था है। जब चित्त ज्ञान की ओर झुकता ही नहीं तो वह उसकी मूढ़ावस्था है। जब चित्त कुछ (थोड़ा-

सा) टिकता भी है, पर जल्दी घबड़ाकर विचल जाता है तो वह उसकी विक्षिप्तावस्था है। जब चित्त एक ही अर्थ में पूरा टिक जाता है, तो उसी अर्थ में ध्यान की एक तान बँध जाती है। चित्त की इस अवस्था का नाम एकाग्रावस्था है। इन चार अवस्थाओं के आगे चित्त की एक और भी अवस्था है जिसमें चित्त को यहाँ तक रोक दिया जाता है कि उसमें कोई भी वृत्ति उदय नहीं होती, न कोई नई वृत्ति, न कोई स्मृति और न निद्रा ही होती है। चित्त की इस अवस्था का नाम निरुद्धावस्था है। इस अवस्था में चित्त बिल्कुल स्थिर और चेष्टा-शून्य हो जाता है।

संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात समाधि

योग-समाधि चित्त की एकाग्र और निरुद्ध अवस्थाओं में होती है। एकाग्रचित्त की समाधि का नाम सम्प्रज्ञात समाधि और निरुद्ध चित्र की समाधि का नाम असम्प्रज्ञात समाधि है। सम्प्रज्ञात समाधि और असम्प्रज्ञात समाधि को क्रमशः सम्प्रज्ञात योग और असम्प्रज्ञात योग भी कहते हैं। मुख्य योग असम्प्रज्ञात योग ही है; कारण कि इसमें चित्त बिल्कुल रुक जाता है; उसमें कोई वृत्ति बनती ही नहीं।

निरुद्धावस्था में चित्त में कोई भी वृत्ति नहीं होती; अतः उस अवस्था में द्रष्टा की स्थिति अपने ही स्वरूप में होती है; अर्थात् अन्य दृश्य के न होने से वह अपने स्वरूप में ठहरा हुआ आत्मदर्शी होता है।

अभ्यास और वैराग्य

चित्त की वृत्तियों का निरोध अभ्यास, अर्थात् बार-बार प्रयत्न करने और वैराग्य, अर्थात् लौकिक किम्वा पारलौकिक सभी प्रकार की कामनाओं का परित्याग करने से होता है।

चित्त के विविध विक्षेप

चित्त के विक्षेप वा योग-साधन के विघ्न अनेक हैं—व्याधि (रोग), स्थान (अयोग्यता), संशय (योग-सिद्ध में सन्देह करना), प्रमाद (असावधानता वा योग-साधन में मन का न लगना), आलस्य (आलसी वा काहिल होना), अविरति (विषयों में तृष्णा का बना रहना), भ्रान्ति-दर्शन (मिथ्या-ज्ञान), अलब्ध-भूमिकत्व (समाधि की अप्राप्ति) और अनवस्थितत्व (समाधि की अवस्था को पाकर भी उसमें चित्त का नहीं ठहरना)।

चित्त की शुद्धि

जब तक चित्त में ईर्ष्या, असूया आदि बने रहते हैं तब तक वह टिकता नहीं। चित्त के इन मलों को धोने के ये उपाय हैं—

"मैत्री-करुणा-मुदितोपेक्षाणां सुख-दुःख-पुण्यापुण्यं विषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्" (१।३३ योग-सूत्र)

अर्थ—सुखियों में मैत्री की भावना से, दुःखियों में दया की भावना से, पुण्यात्माओं में

प्रसन्नता की भावना से और पापियों में उदासीनता की भावना से चित्त निर्मल होता है।

समापत्ति

चित्त की निर्मलता के कारण दृश्य की तदाकारत्व-प्राप्ति समापत्ति है।

क्रिया-योग

अब क्रिया-योग और उसका प्रयोजन बतलाते हैं। तप (सहिष्णुता), स्वाध्याय (अध्यात्म-विद्या को सिखलाने वाले ग्रन्थों का अध्ययन) और ईश्वर चिन्तन, क्रियायोग है। समाधि लगाने तथा क्लेशों को दूर करने के लिए यह क्रिया-योग किया जाता है।

पाँच क्लेश

क्लेश पाँच हैं—"अविद्याऽस्मिता-राग-द्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः" (योगसूत्र २।३); अर्थात् अविद्या (अनित्य, अपवित्र आदि को ठीक उनके प्रतिकूल नित्य, पवित्रादि समझ लेना), अस्मिता (आत्मा और बुद्धि को अभिन्न मान लेना), राग (सुखावह वस्तु में अनुरक्त हो जाना), द्वेष (दुखःदायी वस्तु से घृणा करना) और अभिनिवेश (सदैव जीते रहने की इच्छा अथवा मरण-भय जो प्राणि-मात्र में स्वाभाविक है); ये पाँच क्लेश हैं।

योग के आठ अङ्ग

योग के आठ अंग होते हैं—यम-नियमासन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यानसमाधयोऽष्टावंगानि (योगसूत्र २। २९); अर्थात् यम (अहिंसा, सत्य, चोरी नहीं करना, ब्रह्मचर्य और ममता का त्याग), नियम (शारीरिक शुद्धि, सन्तोष, सहिष्णुता, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान), आसन (बैठने का ढंग जिससे देर तक आसानी से बैठा रह सके), प्राणायाम (श्वास सम्बन्धी व्यायाम), प्रत्याहार (इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से हटाकर चित्त में टिका देना), धारणा (चित्त का किसी एक स्थान या वस्तु पर जम जाना), ध्यान (धारणा का निरन्तर बना रहना और उसमें ध्येय पदार्थ के ज्ञान का प्रवाह-रूप से बहता रहना जिससे किसी अन्य वृत्ति का उदय न होने पाये) और समाधि (ध्यान में ध्येय का ही प्रकाश-मात्र देख पड़ना और अपने स्वरूप का लोप हो जाना), ये योग के आठ अंग हैं।

बहिरंग और अन्तरंग

यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार, ये योग के पाँच बहिरंग हैं और शेष तीन अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि, ये योग के अंतरंग हैं। इन तीनों के एक होने का नाम संयम है। यह जो अंग भेद (बहिरंग और अंतरंग नामक) कहा गया है वह केवल संप्रज्ञात योग की दृष्टि से है; अन्यथा असंप्रज्ञात योग में तो शेष तीन भी बहिरंग ही रहते हैं; क्योंकि यह योग इनके अभाव में ही होता है।

संयम

अभी पूर्व में कह आए हैं कि धारणा, ध्यान और समाधि, योग के इन तीन अंगों के

एक होने का नाम संयम है। इसका अर्थ यह है कि जब ये तीनों एक ही विषय में होते हैं, अर्थात् जिस विषय में धारणा हुई हो, उसी में ध्यान और समाधि भी हो तो चित्त की इस अवस्था-विशेष को योग शास्त्र में लाघवार्थ संयम कहते हैं। भिन्न-भिन्न विषयों में संयम करने का फल भिन्न-भिन्न सिद्धियाँ होती हैं; यथा—

संयम से प्राप्य विविध सिद्धियाँ

संस्कारों पर संयम करने से पूर्वजन्म का हाल मालूम होता है। काया के रूप पर संयम करने से योगी अन्तर्द्धान हो जाता है। आयु पर संयम करने से मृत्यु का ज्ञान होता है। मैत्री, करुणा और मुदिता, इन भावनाओं पर संयम करने से मैत्री-करुणा-मुदिता रूपी बल प्राप्त होता है; अर्थात् योगी मैत्री-बल से दूसरों को सुखी बना सकता है; करुणा-बल से दूसरों का दुःख दूर कर सकता है तथा मुदिता-बल से दूसरों के साथ आनन्द-भाव प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार सूर्य पर संयम करने से भुवन-ज्ञान, चन्द्र पर संयम करने से तारा-व्यूह का ज्ञान, ध्रुव पर संयम करने से ताराओं की गति का ज्ञान होता है, इत्यादि।

पृथ्वी आदि भूतों के पाँच रूप

पृथ्वी, आप्, तेजस्, वायु और आकाश, ये भूतों के स्थूल रूप हैं। गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द जो इनके विशेष रूप हैं वे उनके स्थूलरूप में ही समाविष्ट हैं। यह भूतों का पहला रूप हुआ। पुनः पृथ्वी में आकार, जल में स्निग्धता (चिकनापन) तेजस् में उष्णता, वायु में प्रेरकत्व और आकाश में सर्वगतित्व, ये भूतों के दूसरे रूप हैं जिन्हें स्वरूप कहते हैं। पंच तन्मात्र उनके सूक्ष्म रूप हैं। सत्व, रजस् और तमस्, ये तीन गुण उनके अन्वय-संज्ञक रूप हैं गुणों और उनके कार्यों का भोग और मोक्ष के लिए होना उनका अर्थ तत्त्वरूपी पाँचवाँ रूप है।

योगी का भूत विजयित्व

पाँचों तत्त्वों और उनके पूर्वोक्त पाँच रूपों पर संयम करने से योगी भूत-विजयी हो जाता है और जैसे गौएँ अपने बच्चों के पीछे-पीछे जाती हैं, वैसे ही भूतों की शक्तियाँ योगी के मन के पीछे-पीछे दौड़ती हैं और उसे सिद्धियाँ, कायसम्पत् और धर्मानभिघात प्राप्त हो जाते हैं।

अणिमा आदि ८ सिद्धियाँ

सिद्धियाँ ८ हैं—(१) अणिमा (परमाणु के समान छोटा होना), (२) लघिमा (हल्का होना), (३) महिमा (बड़ा होना), (४) प्राप्ति (चन्द्रमा तक को उँगली के अग्र भाग से पृथ्वी पर बैठे हुए स्पर्श करना), (५) प्राकाम्य (इच्छानुसार काम करना जैसे जल में गोता लगाने के समान पृथ्वी के भीतर प्रवेश करना), (६) वशित्व (भूत और भूत-निर्मित पदार्थों पर विजय और शासन प्राप्त करना, (७) ईशित्व

(भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति, नाश और रचना करने में समर्थ होना और (८) कामावसायित्व (अपनी इच्छानुसार पंचभूतों से काम लेना। इसी का दूसरा नाम है सत्य-संकल्प होना अर्थात् जो संकल्प करे उसे सत्य करके दिखा देना; जैसे, यदि योगी चाहे कि विष अमृत का काम दे तो ऐसा ही होगा। वह विष खाने पर भी जीता रहेगा)।

कायसम्पत्

कायसम्पत् का अर्थ है—शरीर में रूप, लावण्य, बल और वज्र के समान शरीरावयवों की काठोरता अर्थात् दृढ़ता का होना।

धर्मानभिघात

धर्मानभिघात का यह अर्थ है कि भूतों के जो धर्म हैं उनसे योगी को किसी प्रकार की बाधा नहीं होती; जैसे पत्थर का धर्म कठोरता है। वह अपने भीतर किसी वस्तु को प्रवेश करने नहीं देता। पर योगी उसमें भी बिना किसी रुकावट के प्रवेश कर सकता है। इसी प्रकार जल उसको भिगा नहीं सकता, आग उसको जला नहीं सकता, वायु उसको उड़ा नहीं सकता और आकाश में भी, जो किसी वस्तु को छिपा नहीं सकता, वह अति सूक्ष्म होकर छिप सकता है।

कैवल्य

अब कैवल्य अर्थात् मोक्ष के विषय में कुछ कहकर इस योग-वार्त्ता को समाप्त करते हैं। पूर्व में असम्प्रज्ञात समाधि की चर्चा कर आए हैं। जब योगी चित्त-विक्षेप के व्याधि आदि विविध विघ्नों का उच्छेद कर और मैत्री-करुणा आदि उपायों के द्वारा चित्तका मालिन्य हटा कर कर्म-योग से नाना प्रकार के क्लेशों का निराकरण करता हुआ अभ्यास और वैराग्य के बल से अपने चित्त की निःशेष वृत्तियों को पूर्णतः निरुद्ध कर देने में सफल हो जाता है तो उसे असंप्रज्ञात समाधि प्राप्त हो जाती है। इस अवस्था में उसकी आत्मा अपने स्वरूप में लीन हो जाती है। पहले वह बन्धनों में थी; अब उसे छुटकारा मिल गया है। यही मोक्ष वा मुक्ति है। पहले वह प्रकृति के साथ एक हो रही थी; अब उससे अलग होकर केवल-स्वरूप हुई है। इसी का नाम कैवल्य है।

(३) न्याय-दर्शन

न्याय-दर्शन के प्रवर्त्तक और नाम-करण

इस दर्शन के प्रवर्त्तक गौतम मुनि हैं, अतः इसे गौतम दर्शन भी कहते हैं। गौतम मुनि के अपर नाम अक्षपाद, अक्षचरण, प्रशस्त-पाद, प्रशस्त-चरण आदि भी हैं। इस न्याय-दर्शन नामक ग्रन्थ में पाँच अध्याय तथा प्रत्येक अध्याय में दो-दो आह्निक हैं। विद्याओं में इस दर्शन का नाम 'आन्वीक्षिकी' है। इस विद्या के विषय में कहा गया है—

प्रदीपः सर्व विद्यानामुपायः सर्व कर्मणाम् ।
आश्रयः सर्व धर्माणां विद्योद्देशे प्रकीर्तिता ॥

अर्थ—आन्वीक्षिकी विद्या, विद्या के उद्देश्य में, सारी विद्याओं का प्रदीप (प्रकाशिका), सारे कर्मों का उपाय और सारे धर्मों का सहारा है ।

न्याय शास्त्र का उद्देश्य क्या है, यह न्याय-दर्शन के प्रथम सूत्र में बतलाया गया है—

प्रमाण आदि १६ पदार्थ

"प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्तावयव-तर्क-निर्णय-वाद जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-च्छल-जाति-निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसामधिगमः" (न्याय-सूत्र १।१।१) ।

अर्थ—प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान, इन १६ पदार्थों के तत्त्व ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

प्रमाण प्रमेय

अब प्रमाण आदि क्या हैं, वह बतलाया जाता है । जिसके द्वारा यथार्थ ज्ञान हो उसे प्रमाण और जो प्रमाण से जाना जाय उसे प्रमेय कहते हैं । इनके विशेष विवरण आगे चल कर देंगे ।

संशय

दो वा दो से अधिक पदार्थों के समान धर्मों को जान कर उनके विशेष धर्मों को जानने की इच्छा इसलिए करना जिसमें उन पदार्थों में से किसी एक का निश्चयात्मक ज्ञान हो, पर उनमें से किसी एक का निश्चय नहीं कर सकना संशय है ।

प्रयोजन

जिस पदार्थ को पाने अथवा छोड़ने योग्य समझ कर उसे पाने वा छोड़ने के उपाय में प्रवृत्ति होती है वह प्रयोजन है ।

दृष्टान्त

लौकिक (साधारण लोग जिन्होंने शास्त्र नहीं पढ़ा है) और परीक्षक (जो प्रमाणों के द्वारा अर्थ की परीक्षा कर सकते हैं), इन दोनों के ज्ञान की समता, अर्थात् जिस वस्तु को लौकिक जैसा समझते हैं, परीक्षक भी उसे वैसा ही समझते हैं, यह समता दृष्टान्त है ।

सिद्धान्त

शास्त्र के अर्थ की संस्थिति (निर्णीतावस्था) का नाम सिद्धान्त है ।

अवयव

अवयव कहते हैं अंग वा भाग को । किसी भी वाद (Discussion) के पाँच अवयव

होते हैं, यथा—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। इनका विवरण आगे चलकर देंगे।

तर्क

नहीं जाना है तत्त्व जिसका, ऐसे अविज्ञात पदार्थ में हेतु की उपपत्ति से तत्त्वज्ञान के लिए किये हुए विचार को तर्क कहते हैं।

निर्णय

साधन (मंडन) और निषेध (खंडन) पूर्वक विचार करके अर्थ का निश्चय करना निर्णय है।

वाद

जिसमें अपने पक्ष का स्थापन प्रमाण द्वारा और प्रतिपक्ष का निषेध तर्क द्वारा हो, जो सिद्धान्त का विरोधी न हो और जो पूर्वोक्त पाँच अवयवों से सम्पन्न हो उसे वाद कहते हैं।

जल्प

पूर्वोक्त लक्षणों से युक्त किसी भी वाद में यदि छल, जाति और निग्रहस्थान के द्वारा, जिनका विवरण आगे दिया है, साधन और निषेध किये जायँ तो ऐसे वाद को जल्प कहते हैं।

वितण्डा

जिसमें प्रतिपक्ष का स्थापन न हो, ऐसे जल्प को वितण्डा कहते हैं। अभिप्राय यह कि जिसमें प्रतिपक्षी अपने पक्ष का तो स्थापन नहीं करता; केवल दूसरे के पक्ष का खंडन करता है, वैसे जल्प को वितण्डा कहते हैं।

हेत्वाभास

जो हेतु से दीख पड़ें, परन्तु वस्तुतः हेतु के लक्षणों से रहित हों उन्हें हेत्वाभास कहते हैं। हेत्वाभास पाँच प्रकार का होता है, यथा—सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम और अतीत काल। इनके लक्षण आगे कहेंगे।

छल

वक्ता के अर्थ को बदल कर वचन का विघात करना छल है।

जाति

साधर्म्य और वैधर्म्य से प्रत्यवस्थान (खंडन) करना जाति कहलाता है। वस्तुतः असत् उत्तर जाति है। जब कोई सच्चा उत्तर न स्फुरित हो, तो साधर्म्य वा वैधर्म्य लेकर ही जो समय टाला जाय, वही जाति है।

निग्रह-स्थान

उत्तर का न स्फुरित होना वा उल्टा स्फुरित होना निग्रह स्थान अर्थात् पराजय की

जगहें है। विपरीत अथवा निन्दित प्रवृत्ति को विप्रतिपत्ति, और दूसरे से सिद्ध किये हुए पक्ष का खंडन न करना अथवा अपने पक्ष पर किये हुए आक्षेपों का समाधान न करना अप्रतिपत्ति है। विप्रतिपत्ति अथवा अप्रतिपत्ति करने से पराजय (हार) होती है।

अब प्रमाणादि सोलहों पदार्थों पर विशेष रूप से विचार किया जाता है।

प्रमाण

प्रमाण की परिभाषा पहले कह आए हैं। न्याय शास्त्र में चार प्रमाण माने गये हैं, यथा—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शाब्द जिसे आप्त तथा आगम भी कहते हैं।

प्रत्यक्ष

इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह प्रत्यक्ष है; जैसे नेत्र से सूर्य का ज्ञान।

अनुमान

लिंग (चिह्न) को देखकर लिंगी (चिह्न वाले पदार्थ) का ज्ञान होना अनुमान है; जैसे धुएँ को देखकर आग का, वा कारीगरी को देखकर कारीगर का ज्ञान होना अनुमान है। प्रत्यक्ष पूर्वक अनुमान तीन प्रकार का होता है—पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतो दृष्ट। कारण से कार्य का अनुमान होना पूर्ववत् है; जैसे उठते हुए बादलों को देखकर भावी वृष्टि का अनुमान पूर्ववत् है। कार्य से कारण का अनुमान शेषवत् है; जैसे नदी में बाढ़ देखकर प्रथम हुई वृष्टि का अनुमान शेषवत् है। किसी एक पदार्थ को बार-बार अन्यत्र देखकर उसके द्वारा किसी दूसरे अप्रत्यक्ष पदार्थ का अनुमान होना सामान्य तो दृष्ट है। जैसे देवदत्त को दूसरे-दूसरे स्थानों में बार-बार देखकर उसकी गति का अनुमान-सामान्यतो दृष्ट है।

उपमान

प्रसिद्ध पदार्थ के सादृश्य से साध्य का साधन करना उपमान है; जैसे प्रसिद्ध पदार्थ गाय के सादृश्य से नीलगाय को पहचान जाना उपमान प्रमाण है।

शाब्द

आप्त के उपदेश को शाब्द प्रमाण कहते हैं। आप्त वे हैं जिन्होंने अर्थ का साक्षात्कार कर लिया है। शाब्द प्रमाण दो प्रकार का होता है—दृष्टार्थ और अदृष्टार्थ। जिस शब्द का अर्थ इस लोक में देख पड़े वह दृष्टार्थ, जैसे घट, पट आदि और जिस शब्द का अर्थ प्रत्यक्ष में प्रतीत न हो वह अदृष्टार्थ है, जैसे ईश्वर, परलोक आदि।

आत्मा आदि १२ प्रमेय

आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख, और अपवर्ग, ये १२ प्रमेय हैं। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान, ये आत्मा के लिंग

(चिह्न) हैं; अर्थात् ये पाँच चिह्न जिस वस्तु में पाये जाएँ वह आत्मा है। क्रिया, इन्द्रिय और अर्थ के आधार को शरीर कहते हैं। अभिप्राय यह कि जो इन्द्रियों से युक्त हो, नाना क्रियाओं का आश्रय बना हो तथा बाह्य पदार्थों (अर्थों) के संयोग से सुख-दुःखादिकों का जिसमें ज्ञान हो वह शरीर है। नासिका, रसना आदि इन्द्रियाँ पृथ्वी, जल आदि पंच भूतों से उत्पन्न हुई हैं और गन्ध, रस आदि उक्त पंच भूतों के गुण और उक्त इन्द्रियों के अर्थ (विषय) हैं। बुद्धि, उपलब्धि और ज्ञान, ये समानार्थक (पर्याय) हैं; अर्थात् जो बुद्धि है उसे ही उपलब्धि और ज्ञान भी कहते हैं।

एक साथ अनेक ज्ञान का न होना मन की पहचान है। भले ही पाँचों इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में लगी हों; पर ज्ञान होगा केवल उसी विषय का जिसके साथ मन का संयोग है; अन्य विषयों का नहीं। वाणी, बुद्धि और शरीर से काम करने को प्रवृत्ति कहते हैं। राग, द्वेष और मोह को दोष कहते हैं। ये ही तीनों जीव को किसी काम में प्रवृत्त कराते हैं। मर कर फिर जन्म लेने को प्रेत्यभाव कहते हैं। प्रवृत्ति और दोषों से उत्पन्न अर्थ का नाम फल है। दुःख वह है जो बाधा, पीड़ा वा ताप से पहचाना जाय। उस दुःख से अत्यन्त विमुक्ति का नाम मोक्ष है। मोक्ष ही अपवर्ग है।

संशय के ४ भेद

संशय क्या है, इसे पूर्व में कह आए हैं। संशय चार प्रकार से उत्पन्न होता है—(१) समान धर्म के ज्ञान से; जैसे किसी ने दूर से ठूँठा वृक्ष देखा जिसमें पुरुष के समान धर्म ऊँचाई और मोटापन तो विद्यमान हैं; पर उसमें ऐसा कोई विशेष धर्म नहीं है जो ठूँठे वृक्ष और पुरुष में भेद बतलावे, तो यहाँ दूरस्थ पदार्थ की पहचान में जो शंका हुई वह समान धर्म के ज्ञान से हुई। वह पदार्थ यदि पुरुष होता तो उसमें उसके विशेष धर्म हाथ, पाँव आदि होते और यदि यह वृक्ष रहता तो उसमें डाल पत्ते आदि होते, जो मालूम नहीं पड़ते। यही संशय का कारण हुआ। (२) विप्रतिपत्ति अर्थात् परस्पर विरोधी पदार्थों के सहभाव देखने से; जैसे एक कहता है कि आत्मा है और दूसरा कहता है कि आत्मा नहीं है। सत्ता और असत्ता इकट्ठी नहीं रह सकतीं और इन दोनों में से किसी एक का निश्चय कराने वाला कोई हेतु मिलता नहीं, अतः यहाँ तत्त्व के निश्चय में सन्देह हुआ। (३) उपलब्धि की अव्यवस्था (अनियम) से, जैसे सत्य जल तालाब आदि में और असत्य जल मरु-मरीचिका में रहता है। पुनः कहीं जल की उपलब्धि (प्राप्ति) हुई; पर यथार्थ के निश्चय कराने वाले प्रमाण के अभाव से सत्, असत् का कुछ भी ज्ञान नहीं होता। यही संशय है। (४) अनुपलब्धि की अव्यवस्था से भी संशय होता है।

सिद्धान्त के ४ भेद

सिद्धान्त ४ प्रकार के होते हैं—(१) सर्वतंत्र, जिसे सब शास्त्र मानें, जैसे घ्राण आदि पाँच इन्द्रियाँ जो ज्ञानकी हैं; (२) प्रतितंत्र, शास्त्रों का अपना-अपना सिद्धान्त; जैसे कोई शास्त्र कहता है कि आत्मा है और कोई कहता है कि आत्मा नहीं है। (३) अधिकरण, जिसके सिद्ध होने से अन्य अर्थ भी नियम से सिद्ध हो जायँ; जैसे इन्द्रियाँ नाना हैं, उनके विषय नियत हैं और वे आत्मा के ज्ञान की साधक हैं, इन अर्थों के सिद्ध होते ही आत्मा का शरीर और इन्द्रियों से भिन्न होना आपसे आप सिद्ध हो जाता है। (४) अभ्युपगम जो परीक्षा के बिना किसी वस्तु को अंगीकार करके भी उक्त वस्तु की विशेष परीक्षा करता है; जैसे मान लिया कि शब्द द्रव्य है, पर वह नित्य है कि अनित्य यह विशेष परीक्षा हुई। वादी के कथन को स्वीकार करके भी उसके पक्ष को गिरा देना ही अभ्युपगम सिद्धान्त है।

वाद के ५ अवयव १. प्रतिज्ञा

(१) प्रतिज्ञा, जो साध्य का कथन है; जैसे घट अनित्य है;

२. हेतु

(२) हेतु, जो उदाहरण की तुल्यता से साध्य का साधन है; जैसे उत्पत्ति धर्मवान् होने से पट अनित्य है जैसे घट भी अनित्य। उदाहरण के वैधर्म्य से भी साध्य के साधन को हेतु कहते हैं; जैसे उत्पत्ति धर्मवान् नहीं होने से आत्मा नित्य है। पर घट का आत्मा के साथ वैधर्म है, क्योंकि वह उत्पत्ति धर्मवान् है, अतः वह आत्मा की तरह नित्य नहीं हो सकता।

३. उदाहरण

(३) उदाहरण। साध्य के साथ तुल्य धर्मता से साध्य का धर्म जिसमें हो, ऐसे दृष्टान्त को उदाहरण कहते हैं; जैसे उत्पत्ति धर्म वाला उत्पन्न होकर नष्ट हो जाता है, इसलिए वह अनित्य है। इस प्रकार उत्पत्ति धर्म वाला होना साधन और अनित्य होना साध्य हुआ। इन दो धर्मों का साध्य साधन भाव एक वस्तु में निश्चित पाया जाता है। उसे दृष्टांत में देख घट में भी अनुमान करना कि पट उत्पत्ति वाला है, अतः वह भी घट की नाईं अनित्य है। यहाँ पट दृष्टान्त (उदाहरण) हुआ। अथवा साध्य के विरुद्ध धर्म से विपरीत उदाहरण होता है, जैसे घट अनित्य है उत्पत्ति धर्मवाला होने से। जो उत्पत्ति धर्मवाला नहीं है वह नित्य देखा गया है जैसे आकासादि। यहाँ दृष्टान्त में उत्पत्ति धर्म के अभाव से नित्यत्व देख कर घट में विपरीत अनुमान किया जाता है; क्योंकि घट में उत्पत्ति धर्म है, उसका अभाव नहीं; अतः घट अनित्य है।

४. उपनय

(४) उपनय उदहरणाधीन "तथा" (उसी प्रकार) अथवा "न त था" (उस प्रकार नहीं) इस रूप से साध्य के उपसंहार (Conclusion) करने को उपनय कहते हैं।

उदाहरण दो प्रकार के होते हैं; अतः उपनय भी दो प्रकार के हुए। जैसे पट आदि पदार्थ उत्पत्ति वाले होने से अनित्य देखे गये हैं वैसे घट भी उत्पत्तिमान् है। यह घट के उत्पत्ति धर्मवत्व का उपसंहार हुआ। साध्य के विरुद्ध उदाहरण में आत्मादि पदार्थ उत्पत्तिमान् न होने से नित्य हैं और घट तो उत्पत्ति धर्म वाला है। यह उत्पत्ति धर्म के निशेध से उत्पत्ति धर्मवत्व का उपसंहार हुआ। तात्पर्य यह कि जहाँ साधर्म का दृष्टान्त होगा वहाँ "तथा" ऐसा और जहाँ वैधर्म का दृष्टान्त होगा वहाँ "न तथा" ऐसा, उपनय होगा।

५. निगमन

(५) निगमन। इसलिए उत्पत्ति धर्मवाला होने से घट अनित्य है, इस प्रकार के वाक्य को निगमन कहते हैं। अर्थात् जिस वाक्य में प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण और उपनय एक साथ समर्थन किये जाएँ, उसे निगमन कहते हैं।

सुगमता के लिए पूर्वोक्त सभी अवयव एकत्र दिखलाये जाते हैं—घट अनित्य है (*प्रतिज्ञा*); उत्पत्ति धर्मवान् होने से (हेतु); उत्पत्ति धर्मवान् पदार्थ पटादि अनित्य देखने में आते हैं। (उदाहरण); ऐसा ही घट भी उत्पत्ति धर्मवान् है (उपनय) अतः उत्पत्ति धर्मवान् होने से घट अनित्य सिद्ध हुआ।

तर्क, निर्णय, वाद, जल्प और वितण्डा पर विशेष विचार करना नहीं है।

हेत्वाभास के ५ भेद

हेत्वाभास का लक्षण पहले कह आए हैं। वह पाँच प्रकार का होता है—

१ सव्यभिचार

(१) सव्यभिचार। अव्यवस्था को व्यभिचार कहते हैं। जिस हेत्वाभास के दोनों ओर अव्यवस्था हो उसे सव्यभिचार हेतु कहते हैं। जैसे किसी ने कहा, शब्द नित्य है, स्पर्शवान न होने से; स्पर्शवाला घट अनित्य देखा जाता है, वैसा शब्द स्पर्शवाला नहीं है; अतः वह नित्य है। यहाँ दृष्टान्त में स्पर्शतत्व और अनित्यत्व रूप धर्म साध्य-साधनभूत नहीं है; क्योंकि परमाणु स्पर्शवान् होते हुए भी अनित्य नहीं, प्रत्युत नित्य हैं। ऐसे ही यदि कहें कि जो स्पर्शवान् नहीं वह नित्य है जैसे आत्मा; तो यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि बुद्धि अस्पृश्य होती हुई भी नित्य नहीं, अनित्य है। इस प्रकार दोनों दृष्टान्तों में व्यभिचार आने से स्पर्शवत्त्व का न होना, यह हेतु सव्यभिचार हुआ।

२. विरुद्ध

(२) विरुद्ध। जिस सिद्धान्त को मानकर प्रवृत्त हो, उसी सिद्धान्त के विरोधी हेतु को विरुद्ध कहते हैं। जैसे किसी ने कहा, शब्द नित्य है, क्योंकि वह कार्य है। पर कार्य होना नित्यता का विरोधी है न कि साधक।

३. प्रकरणसम

(३) प्रकरणसम। जिससे प्रकरण चल रहा हो, उसको हेतु के तौर पर कहना प्रकरणसम है। जैसे किसी ने कहा, शब्द अनित्य है; क्योंकि उसमें नित्य का धर्म उपलब्ध नहीं होता। यहाँ इसी से तो विचार चल रहा है कि शब्द में नित्य वा अनित्य किसी का भी धर्म उपलब्ध नहीं होता। यदि शब्द में नित्य वा अनित्य, किसी का भी धर्म उपलब्ध हो जाता, तो प्रकरण ही निवृत्त हो जाता। यह हेतु दोनों पक्षों को प्रवृत्त कराने वाला है; क्योंकि ऐसी जगह दूसरा विरोधी हेतु भी साथ हो जाता है।

४. साध्यसम

(४) साध्यसम। जहाँ हेतु भी स्वयं साध्य होने के कारण साध्य के समान हो, वहाँ साध्यसम हेत्वाभास होता है; जैसे किसी ने कहा—छाया द्रव्य है (साध्य); गतिशील होने से (हेतु) यहाँ पर जिस प्रकार छाया का द्रव्यत्व साध्य है, उसी प्रकार उसकी गतिशीलता भी साध्य है; अतः यहाँ साध्यसम हेत्वाभास है।

५. कालातीत

(५) अतीतकाल वा कालातीत। जो हेतु साध्य के काल में न हो उसे कालातीत कहते हैं। जैसे किसी ने कहा—शब्द नित्य है (साध्य); संयोग द्वारा व्यक्त होने से (हेतु) रूप की नाईं (उदाहरण)। जिस प्रकार घट और दीपक के संयोग से रूप (घट का) व्यक्त होता है, उसी प्रकार भेरी और दंड के संयोग से शब्द व्यक्त होता है। यहाँ हेतु कालातीत है; क्योंकि व्यंग्य पदार्थ का व्यक्त होना व्यंजक के काल में ही होता है, जैसे रूप का व्यक्त होना घट और दीपक के संयोग काल में ही होता है और उनके वियोग-काल में वह अव्यक्त हो जाता है। पर शब्द तो भेरी और दंड के संयोग काल के बीत जाने पर भी दूरस्थ पुरुष से सुना जाता है। अतः शब्द का संयोग से व्यक्त मानना केवल हेत्वाभास है।

१. वाक्छल

छल क्या है इसे पहले बतला आए हैं। वह तीन प्रकार का होता है—(१) वाक्छल साधारण रूप से कहे अर्थ में वक्ता के अभिप्राय के विरुद्ध अन्य अर्थ की कल्पना को वाक्छल कहते हैं। जैसे किसी ने कहा—यह बालक नव कम्बलवान् है। यहाँ वक्ता का 'नव कम्बल' से 'नए कम्बल' का अभिप्राय था। छलवादी, वक्ता के इस अभिप्राय के विरुद्ध, 'नव' शब्द से ९ संख्या की कल्पना कर उसके कथन पर यह कह कर आक्षेप करना है कि इस लड़के के पास तो एक ही कम्बल है, ९ कहाँ से आए?

२. सामान्यच्छल

(२) सामान्यच्छल। प्रशंसावाद वा प्रायोवाद से कहे हुए वचन को हेतु परक वा नियम परक ले जाना सामान्यच्छल है। जैसे किसी ने कहा—अहो! वह ब्राह्मण-पुत्र कैसा विद्या-

विनय-सम्पन्न है। इस पर यदि कोई दूसरा कहे कि देवदत्त भी तो ब्राह्मण-पुत्र है; अतः वह भी विद्या-विनय-सम्पन्न है। पर ऐसा कहना केवल सामान्यच्छल है; कारण कि ब्राह्मण पुत्र होना कुछ विद्या-विनय-सम्पन्न होने का हेतु नहीं है। यहाँ जो ब्राह्मण-पुत्र को विद्या-विनय-सम्पन्न कहा गया है, वह केवल प्रशंसावाद है। इसी प्रकार यह कहना कि रात प्राणियों को सोने के लिए और दिन काम करने के लिए है तो यह केवल प्रायोवाद है न कि यह कोई नियम है। अतः इस पर यह कह कर आक्षेप नहीं कर सकते कि कितने प्राणी जैसे उल्लू, चमगादड़ आदि ठीक इसके विपरीत चलते हैं, अर्थात् दिन को ही सोते और रात को ही काम करते है। ऐसा आक्षेप करना सामान्यच्छल है।

४. उपचारच्छल

उपचारच्छल। उपचार से कहे हुए शब्द को मुख्य अर्थ में लेकर दूषण देना उपचारच्छल है। जैसे किसी ने कहा—मँचान चिल्ला रहे हैं। यहाँ वक्ता ने 'मँचान' शब्द को उसके गौड़ अर्थ, अर्थात् मँचान पर बैठे हुए मनुष्यों के अर्थ, में प्रयुक्त किया है, न कि उसके मुख्य अर्थ, अर्थात् किसानों के द्वारा खेत की रक्षा के लिए बनाए हुए लकड़ी के ऊँचे बैठक के अर्थ में। वक्ता के उक्त कथन पर यह दूषण देना कि मचानों पर बैठे हुए मनुष्य चिल्ला रहे हैं न कि मँचान, उपचारच्छल है। वक्ता का खंडन उसके अभिप्रेत अर्थ को लेकर ही करना चाहिए। यही न्याय है अन्यथा छल।

जाति के २४ भेद

पहले कह आए हैं कि साधर्म्य और वैधर्म्य से प्रत्यवस्थान (खंडन) करना जाति कहलाता है। जाति के साधर्मसम वैधर्मसम आदि २४ भेद होते है। इस ग्रन्थ में सबों का विवरण देना स्थानाभाव से अशक्य है; अतः यहाँ पहले दो का ही विवरण दिया जाता है। जिससे पाठकों को जाति-विषयक कुछ ज्ञान हो जाय। न्याय-सूत्र है—

"सा धर्म्य-वैधर्म्यभ्यामुपसंहारे तद्धर्म विपर्ययोः साधर्म्य वैधर्म्य समौ" (५।१।२)।

अर्थ—साधर्म्य तथा वैधर्म से साध्य का उपसंहार करने पर उस धर्म के व्यतिक्रम से क्रमशः साधर्म्यसम और वैधर्म्यसम नाम जातिभेद उत्पन्न होते हैं; यथा (साधर्म्यसम)—

साधर्म्यसम

जैसे किसी ने कहा—आत्मा क्रियावान् है (प्रतिज्ञा); क्रिया और गुण के संयोग होने से (हेतु); मृत्पिण्ड की नाईं (उदाहरण); जैसे मृत्पिण्ड द्रव्य होने से क्रियावान् है, उसी प्रकार आत्मा भी द्रव्य होने से क्रियावान् है (उपसंहार)। दूसरा साधर्म्य से ही इसका खंडन करता है; यथा—आत्मा निष्क्रिय है (प्रतिज्ञा); विभु होने से (हेतु); आकाश की नाईं (उदाहरण); जैसे आकाश विभु होने से निष्क्रिय है, वैसे ही आत्मा भी विभु होने से निष्क्रिय है। पहले निदर्शन में क्रियावान् मृत्पिण्ड के साधर्म्य से आत्मा को भी क्रियावान्

होना चाहिए, और दूसरे में निष्क्रिय आकाश के साधर्म्य से आत्मा को भी निष्क्रिय होना चाहिए। इन दोनों में विशेष हेतु के अभाव से साधर्म्यसम नामक प्रतिषेध होता है।

वैधर्म्यसम

अब वैधर्म्यसम का दृष्टान्त देते है, जैसे किसी ने कहा—क्रिया-गुण युक्त होने से मृत्पिंड परिच्छिन्न देखा जाता है पर आत्मा वैसा नहीं; इसलिए मृत्पिण्ड के समान आत्मा क्रियावान् नहीं है। ऐसा उपसंहार करने पर दूसरा वैधर्म्य से ही इसका प्रत्यवस्थान करता है, यथा—विभु आकाश क्रियाहीन देखा जाता है पर आत्मा वैसा नहीं है; अतः आकाश के समान आत्मा निष्क्रिय नहीं है। यहाँ दोनों में विशेष हेतु के न होने से वैधर्म्यसम प्रतिषेध हुआ।

निग्रह स्थान के २६ भेद

विप्रतिपत्ति (विरुद्ध समझना) और अप्रतिपत्ति (न समझना) इन दोनों के विकल्प से अनेक पराजय-सूचक निग्रह-स्थान उत्पन्न होते है जिनकी संख्या ५ हेत्वाभास मिलाकर २६ होती है। हेत्वाभासों के विषय में कह चुके हैं शेष २१ निग्रह स्थानों में से केवल कुछों के ही लक्षण बतलाकर इस विषय को समाप्त करेंगे।

प्रतिज्ञा हानि

स्वपक्ष में परपक्ष के धर्म का स्वीकार करना प्रतिज्ञा हानि है। अपना पक्ष जिसका स्थापन किया था, छोड़कर परपक्ष को स्वीकार कर लेना प्रतिज्ञा हानि नामक निग्रह स्थान कहलाता है। जैसे किसी ने प्रतिज्ञा की "कि इन्द्रिय का विषय होने से घट के समान शब्द अनित्य है।" इस पर प्रतिपक्षी कहता है "सामान्य (जाति) भी इन्द्रिय का विषय है, पर वह नित्य है; ऐसे ही शब्द भी नित्य रहेगा।" इस पर यदि वादी कहने लगे कि "यदि जाति नित्य है तो घट भी नित्य हो"। यहाँ प्रतिपक्षी के पक्ष का स्वीकार कर अपने पक्ष का त्याग करने से प्रतिज्ञा हानि नामक निग्रह स्थान होता है।

प्रतिज्ञान्तर

प्रतिज्ञान्तर। प्रतिज्ञात अर्थ के प्रतिषेध होने पर धर्म के विकल्प से उसके अर्थ के निर्देश को प्रतिज्ञान्तर कहते हैं। जैसे किसी ने कहा—"शब्द अनित्य है, घट के समान, इन्द्रिय का विषय होने से", यह प्रतिज्ञात अर्थ है। इसका जब प्रतिवादी ने निषेध किया कि जाति भी इन्द्रिय का विषय है, पर वह नित्य है। इस प्रकार प्रतिज्ञात अर्थ के निषेध होने पर धर्म के विकल्प से उसके अर्थ का निर्देश करना, अर्थात् इन्द्रिय विषय जाति सर्वगत है, पर इन्द्रिय-विषय घट सर्वगत नहीं; ऐसे ही शब्द भी सर्वगत न होने से घट की भाँति अनित्य है, यह कहना प्रतिज्ञान्तर है। यहाँ पर "शब्द अनित्य है", यह पहली प्रतिज्ञा थी। अब "शब्द सर्वगत नहीं", यह दूसरी प्रतिज्ञा हुई; बस इसी को प्रतिज्ञान्तर कहते हैं। प्रतिज्ञा के साधक हेतु और दृष्टान्त होते हैं, न कि दूसरी प्रतिज्ञा। अतः अपनी

पूर्व प्रतिज्ञा को हेतु और दृष्टान्त से सिद्ध न कर दूसरी प्रतिज्ञा करने वाला व्यक्ति प्रतिज्ञान्तर-रूप निग्रह स्थान में जा गिरता है।

ये दो निग्रह-स्थान बतलाए गए। इसी प्रकार प्रतिज्ञा-विरोध, प्रतिज्ञा-सन्यास, हेत्व-न्तर आदि अनेक निग्रह-स्थान होते हैं जिन सबों का विवरण देना स्थानाभाव से अशक्य है।

मोक्ष-प्राप्ति का क्रम

न्याय सूत्र १।१।१ में कहा गया है कि प्रमाण आदि १६ पदार्थों के तत्त्व ज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है। वह किस क्रम से प्राप्त होता है, यह आगे के सूत्र १।१।२ में बतलाया गया है—

"दुःख-जन्म-प्रवृत्ति-दोष-मिथ्या ज्ञानानामुत्तरोत्तरा पाये तदनन्तरा पायादपवर्गः" (न्याय-सूत्र १।१।२)। अर्थ—दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञान के उत्तरोत्तर नाश होने पर सब दुःखों का अत्यन्त नाश हो जाना मोक्ष है। उत्तरोत्तर नाश होने का अभिप्राय यह है कि तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान का नाश होता है; मिथ्याज्ञान के नाश से दोषों का नाश, दोषों के नाश से प्रवृत्ति का नाश, प्रवृत्ति के नाश से जन्म का अभाव और जन्म के न होने पर निःशेष दुःखों का नाश होता है। बस दुःखों का अत्यन्त नाश ही मोक्ष है।

वैशेषिक दर्शन के प्रवर्त्तक और नाम-करण

इस दर्शन के प्रवर्त्तक कणादि मुनि हैं; अतः उनके नाम पर इसे काणाद दर्शन भी कहते हैं। चूँकि इसमें विशेष पदार्थ का (जो पहले अविदित था) पता लगाकर निरूपण किया गया है, इसलिए इसको वैशेषिक दर्शन कहते हैं।

इस दर्शन का उद्देश्य

यह दर्शन उपदेश देता है कि सारे पदार्थों को अलग-अलग करके जान लेने से ही मोक्ष प्राप्त होता है।

६ पदार्थ

निःशेष पदार्थ ६ हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय।

तीन अर्थ

६ पदार्थों में से पहले तीन (द्रव्य, गुण और कर्म) अर्थ कहलाते हैं। मुख्य पदार्थ ये ही हैं। इन्हीं से अर्थ क्रिया (प्रयोजन) सिद्ध होती है। यही धर्माधर्म के निमित्त होते हैं।

तीन उपपदार्थ

शेष तीन (सामान्य, विशेष और समवाय) उपपदार्थ हैं। इनसे कोई अर्थ क्रिया सिद्ध नहीं होती। पर ये शब्द व्यवहार के लिए उपयोगी हैं।

अर्थों का अलग-अलग स्वरूप

अर्थों का अलग-अलग स्वरूप एक उदाहरण द्वारा बतलाते हैं। आम एक फल है,

जिसका रंग पीला और रस मीठा है। ये पीलापन और मिठास, इसके गुण हैं और वह पदार्थ जिसके ये गुण हैं, द्रव्य है तथा इसका हिलना, चलना आदि इसके कर्म हैं।

द्रव्यों का निरूपण

६ द्रव्य पृथ्वी का निरूपण

द्रव्य ६ हैं—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन। गंध पृथ्वी की पहचान है। जिसमें गन्ध पाई जाए वह पृथ्वी है। गन्ध कहीं स्पष्ट है और कहीं स्पष्ट नहीं है। वह फूलों में स्पष्ट, पर मिट्टी में अस्पष्ट है। पर फूल उसी मिट्टी से बनते हैं; अतएव फूलों की गन्ध भी उसी मिट्टी की ही गन्ध है।

पृथ्वी के २ भेद

पृथ्वी दो प्रकार की है, नित्य और अनित्य। एक मिट्टी का ढेला बहुत से कणकों के मिलने से बना है; अतः वह अनित्य है। पर वे कणक भी और सूक्ष्म कणकों के मिलने से बने हैं; अतः वे भी अनित्य हैं। इसी प्रकार उन सूक्ष्म कणकों के भी सूक्ष्मतर कणक होते-होते अन्त में वे कणक आ जाएँगे जिनसे सूक्ष्मतर कणक होते नहीं और जो आदि मूल कणक हैं; अर्थात् वे कणक हैं जिनसे आगे बनना आरम्भ हुआ है, पर वे स्वयं किसी से नहीं बने हैं, तो ऐसे कणकों को परमाणु कहते हैं। चूँकि परमाणु किसी से बने नहीं हैं; अतः वे टूटेंगे भी नहीं। यदि वेदों के मेल से बने होते तो वे अवश्य टूट कर दो हो जाते; क्योंकि टूटना बिछुड़ना है। एक में कौन किससे बिछुड़े। अतएव परमाणु जैसे अनादि काल से है, वैसे ही अनन्त काल तक रहेंगे। इसी से परमाणु-संज्ञक परम सूक्ष्म कणक नित्य हैं।

निरूपण पूर्वक जल के २ भेद

शीतस्पर्श जल की पहचान है। उष्ण जल में जो उष्णता प्रतीत होती है, वह तेज की है। जल को गर्म करके रख देने पर भी ज्यों-ज्यों उसमें से तेज निकलता जाता है त्यों-त्यों वह ठंडा होता जाता है। जल भी दो प्रकार का होता है—नित्य और अनित्य। परमाणु रूप जल नित्य और कार्यरूप जल अनित्य है।

निरूपण-पूर्वक तेज के दो भेद

उष्ण स्पर्श तेज की पहचान है। जहाँ उष्ण स्पर्श है, वहाँ अवश्य किसी न किसी रूप में तेज विद्यमान है। तेज भी दो प्रकार का है—नित्य और अनित्य। परमाणु रूप तेज नित्य और कार्यरूप तेज अनित्य है।

निरूपणपूर्वक वायु के २ भेद

वायु की पहचान एक विलक्षण प्रकार का स्पर्श है। पृथ्वी, जल और तेज का स्पर्श रूप

के साथ होता है; अर्थात् जिस पार्थिव, जलीय और तेजस वस्तु को हम छू सकते हैं, उसे हम देख भी सकते हैं, पर वायु का स्पर्श रूप के साथ कभी नहीं होता। वायु को हम छूते हैं, पर देखते कभी नहीं। वायु भी दो प्रकार का है—नित्य और अनित्य। परमाणु रूप वायु नित्य और कार्यरूप वायु अनित्य है।

पृथिव्यादि से बनी वस्तुओं के ३ भेद

पृथ्वी, जल, तेज और वायु से तीन प्रकार की वस्तु बनी हैं—शरीर, इन्द्रिय और विषय। मनुष्यों, पशुओं और पक्षियों के शरीर पार्थिव हैं—घ्राणेन्द्रिय पार्थिव है। शरीर और इन्द्रिय के अतिरिक्त जितनी मिट्टी, पत्थर आदि रूपों में विद्यमान पृथ्वी है वह सब पार्थिव विषय है। इसी प्रकार जलान्तर्गत जीवों के शरीर जलीय और इन्द्रियों में रसना (रस अनुभव करने वाली इन्द्रिय) जलीय है। नदी, समुद्र, बर्फ, ओले आदि जलीय विषय हैं। तेजोऽन्तर्गत जीवों के शरीर और इन्द्रियों में नेत्र तेजस हैं। अग्नि, सूर्य, बड़वानल, जठराग्नि आदि तेजस विषय हैं। वायु-मंडलगत जीवों के शरीर और इन्द्रियों में त्वचा वायवीय हैं। बाहर के वृक्षादिकों को कँपाने वाली वायु और भीतर की प्राण-रूप वायु वायवीय विषय हैं।

शरीर के २ भेद

शरीर दो प्रकार के हैं—योनिज और अयोनिज। जलीय, तेजस और वायवीय शरीर अयोनिज हैं। पार्थिव शरीर योनिज और अयोनिज दोनों प्रकार के हैं। योनिज भी दो प्रकार के हैं—जरायुज, जैसे—मनुष्य, पशु आदि के और अंडज, जैसे—पक्षियों और सर्पादिकों के क्षुद्र जन्तुओं के शरीर अयोनिज हैं।

आकाश का निरूपण

आकाश की पहचान शब्द है। जहाँ शब्द है वहाँ आकाश है। शब्द सर्वत्र है; अतएव आकाश भी विभु (व्यापक) है। विभु द्रव्य नित्य होता है; क्योंकि वह अवयवों से बना नहीं होता। अतः विभु होने से आकाश नित्य और एक है। आकाश का कोई शरीर नहीं; पर इन्द्रिय श्रोत्र है। कर्णरन्ध्र के भीतर का आकाश श्रोत्र है।

पञ्च भूत और उनके गुण

पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश, ये पाँच द्रव्य पंच भूत कहलाते हैं। इन भूतों के क्रमशः ये प्रसिद्ध गुण हैं—गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द। पर भूतों में अपने-अपने प्रसिद्ध गुणों के अतिरिक्त अन्य गुण भी पाए जाते हैं; यथा—पृथ्वी में गन्ध, रस, रूप और स्पर्श, ये चार; जल में रस, रूप और स्पर्श, ये तीन; तेज में रूप और स्पर्श, ये दो और वायु में केवल स्पर्श, एक गुण है। आकाश में भी केवल शब्द ही एक गुण है।

पञ्च इन्द्रिय और पञ्च-विषय

घ्राण, रसना, नेत्र, त्वचा और श्रोत्र, ये पाँच इन्द्रिय हैं और क्रमशः उनके गन्ध रस, रूप, स्पर्श और शब्द, ये पाँच विषय हैं। घ्राण नासिका के अग्रवर्त्ती है और पार्थिव होने से पृथ्वी के गुण गन्ध का ही ग्राहक है। रसना जिह्वाग्रवर्त्ती है और जलीय होने से जल से गुण रस का ही ग्राहक है। नेत्र काली पुतली के अग्रवर्त्ती है और तेजस होने से रूप का ही ग्राहक है। त्वचा सर्व-शरीर-गत है और वायवीय होने से स्पर्श का ही ग्राहक है। श्रौत्र कर्णरन्ध्रवर्त्ती है और आकाशीय होने से शब्द का ही ग्राहक है।

काल का निरूपण

यह उससे छोटा है और वह इससे बड़ा है; यह शीघ्र हो गया है और वह देर से हुआ है, इस प्रकार की जो प्रतीतियाँ हम लोगों को हुआ करती हैं, वे सब काल निमित्तक हैं; अर्थात् काल के कारण ही वैसी प्रतीतियाँ करती हैं। सारे कार्यों की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश में काल निमित्त होता है। काल अनादि और अनन्त है। वह एक और विभु है। पर व्यवहार के लिए पल, घटी, दिन, रात, पक्ष, मास, वर्ष, युग आदि उसके अनेक टुकड़े कल्पित कर लिये जाते हैं।

दिशा का निरूपण

यह इससे पूर्व है, दक्षिण है, पश्चिम है, उत्तर है, पूर्व-दक्षिण है, दक्षिण पश्चिम है, पश्चिमोत्तर है, उत्तर-पूर्व है, ऊपर है, नीचे है, ये दस प्रतीतियाँ जिससे होती [illegible] दिशा है; क्योंकि यहाँ भी कोई और निमित्त नहीं बन सकता। सारे कार्यों की [illegible] स्थिति और नाश में कालवत् दिशा भी निमित्त होती है। दिशा विभु है, एक है [illegible] व्यवहार के लिए उसके भी पूर्वादि भेद मान लिये गए हैं।

आत्मा का निरूपण

आत्मा की पहचान चैतन्य (ज्ञान) है। ज्ञान शरीर का धर्म नहीं हो सकता; क्योंकि शरीर के कारण जो पृथ्वी आदि भूत हैं, उनमें ज्ञान नहीं है। यदि उनमें ज्ञान होता, तो उनसे बने हुए घड़े आदि में भी ज्ञान पाया जाता; क्योंकि जैसे शरीर उनका कार्य है, वैसे ही घट आदि भी हैं। इसके अतिरिक्त मृत शरीर में ज्ञान का अभाव देखने से वह शरीर गुण नहीं हो सकता। ज्ञान इन्द्रियों का भी गुण नहीं है। किसी इन्द्रिय के नष्ट हो जाने पर पहले अनुभव किये गये ज्ञान की स्मृति उसी को होती है जिसने अनुभव किया है; अतः अनुभव करने वाला पदार्थ इन्द्रियों से भिन्न है। ज्ञान मन का भी गुण नहीं; क्योंकि मन जानने का साधन है, ज्ञाता नहीं; इसलिए परिशेष से ज्ञान आत्मा का गुण सिद्ध होता है। इससे आत्मा का अनुमान होता है। इसी प्रकार इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख, आदि भी शरीर से भिन्न आत्मा का अनुमान कराते हैं। हित की प्राप्ति और अहित के

परिहार के लिए शरीर की चेष्टा भी इस बात को प्रकट करती है कि अपने हिताहित को जानकर शरीर को चलाने वाला एक अलग अधिष्ठाता शरीर में बैठा हुआ है, जैसे रथ में सारथि रहता है। इसी प्रकार और भी अनेक हैं जिनसे आत्मा शरीरादियों से भिन्न होता है। जीवात्मा अनेक हैं और प्रति शरीर भिन्न-भिन्न हैं। परमात्मा, जीवात्मा से भिन्न, सर्वज्ञ, सर्व व्यापक और सृष्टि-कर्त्ता है।

मन का निरूपण

जैसे बाहर के रूपादि ज्ञान के साधन नेत्रादि इन्द्रिय हैं, वैसे ही अन्दर के सुख-दुःखादि ज्ञान के साधन जो इन्द्रिय है वह मन है। वह प्रत्येक आत्मा के साथ एक-एक नियत है और अणु (सूक्ष्म) है।

तम (अन्धकार) द्रव्य नहीं है

ये ६ ही द्रव्य हैं; अधिक नहीं। यद्यपि तम (अन्धकार) काले रंग का तथा चलता हुआ प्रतीत होता है; पर वस्तुतः तम कोई द्रव्य नहीं। प्रकाश का अभाव ही तम है और प्रकाश के अभाव के कारण उसे न देखना ही उसमें कालापन है। यदि सचमुच उसका कोई रंग होता, तो वह प्रकाश के साथ दीखता; क्योंकि प्रकाश में तो कोई वस्तु अदृश्य रहता ही नहीं। और जो वह चलता हुआ मालूम होता है, वह अन्धकार का चलना नहीं है; बल्कि प्रकाश के आगे-आगे चलने से, पीछे से अन्धकार (प्रकाश का अभाव) चला आता हुआ-सा प्रतीत होता है; जैसे पुरुष के चलने से उसकी छाया चलती सी प्रतीत होती है। अतः नौ ही द्रव्य हैं।

छाया में गति नहीं है, यह दूसरे प्रकार से भी समझाया जा सकता है। जहाँ एक ही पदार्थ स्थान-परिवर्त्तन करता रहता है, वहाँ पर गति की उपलब्धि होती है। पर यह बात छाया में नहीं है। किसी पदार्थ के चलने पर उसकी छाया, प्रतिक्षण नये-नये किरण-पुंज के अवरोध से, प्रतिक्षण बदलती रहती है। ऐसा कभी नहीं होता कि उस पदार्थ की जो छाया आरम्भ में पड़ी, वही उसके साथ बराबर चली जाए। अभिप्राय यह कि चलते हुए पदार्थ के स्थान-परिवर्त्तन के साथ-साथ उसकी दूसरी-दूसरी छाया ही पड़ती जाती है और द्रष्टा को यह भ्रम हो जाता है कि छाया चल रही है। अतः छाया वा तम कोई द्रव्य नहीं है। चलच्चित्रों का भी यही हाल जानिए। एक ही चित्र नहीं चलता; बल्कि अनेक चित्रों का सामूहिक परिणाम हमारे नेत्रों पर इस प्रकार प्रायः एक साथ ही पड़ता है जिससे हम लोगों को एक ही चित्र चलता-फिरता, दौड़ता आदि-सा मालूम होता है। द्रव्यों का निरूपण पूरा हुआ। अब गुणों का निरूपण करते हैं।

गुणों का निरूपण

गुण २४ हैं; यथा—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द, संख्या, परिमाण, संयोग, पृथकत्व

विभाग वा वियोग; परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार। अब इनका संक्षिप्त विवरण देते हैं।

रूप नेत्र-ग्राह्य है; पृथ्वी, जल और तेज में द्रव्यादि का प्रत्यक्ष कराने वाला है; नेत्र का सहकारी है; शुक्लादि रूप के अनेक प्रकार हैं।

रस रसेन्द्रिय-ग्राह्य है; जीवन, पुष्टि, बल और आरोग्य का निमित्त है; रसना का सहकारी है; मधुर, अम्ल, कटु, तिक्त, लवण और कषाय, ये रस के ६ भेद हैं।

गन्ध घ्राणेन्द्रिय-ग्राह्य है; केवल पृथ्वी में रहता है और घ्राण का सहकारी है; सुरभि (सुगन्ध) और असुरभि (दुर्गन्ध), इसके २ भेद हैं।

स्पर्श त्वगिन्द्रिय-ग्राह्य है; पृथ्वी, जल, तेज और वायु में रहता है और त्वचा का सहकारी है। शीत, उष्ण अनुष्णशीत (न गर्म, न ठंढा), इसके ३ भेद हैं।

शब्द आकाश-मात्र का गुण है, जो श्रोत्र से ग्रहण किया जाता है। शब्द दो प्रकार का होता है—ध्वनि-स्वरूप, जो मृदंगादि वाद्य यंत्रों में होता है और वर्ण-स्वरूप, जो मनुष्यों की भाषाओं में है। मनुष्येतर प्राणियों की बोलियाँ केवल ध्वनि-स्वरूप हैं।

संख्या

वह एक है; वे दो हैं, इत्यादि व्यवहार का हेतु संख्या है। एकत्व संख्या नित्य द्रव्यों में नित्य, पर अनित्य द्रव्यों में अनित्य है; क्योंकि नित्यों में वह सदा बनी रहती है, पर अनित्यों में वह उनकी उत्पत्ति के साथ उत्पन्न और नाश के साथ नष्ट हो जाती है। एक में एकत्व संख्या सदा रहती है; द्वित्वादि संख्या नहीं। जब हम अलग-अलग दो वस्तुओं को इकट्ठा करते हैं तब उनमें द्वित्व संख्या उत्पन्न होती है, जो पहले नहीं थी और पीछे भी नहीं रहेगी। यह द्वित्व संख्या उक्त दो वस्तुओं की अन्योन्यापेक्षी बुद्धि से है। इसी प्रकार जीव और ईश्वर दो हैं, यह द्वित्व संख्या भी उनकी अन्योन्यापेक्षी बुद्धि से ही उनमें उत्पन्न हुई है, जिसका नाश होते ही उक्त द्वित्व संख्या का नाश हो जाएगा। त्रित्वादि संख्याओं का भी यही हाल जानना चाहिए। संख्या कहाँ तक जा सकती है, यह कोई कह नहीं सकता; पर मनुष्यों ने अपने व्यवहार के लिए उसकी कल्पना परार्द्ध तक कर ली है। संख्या नित्य, अनित्य, मूर्त्त, अमूर्त्त, सारे द्रव्यों में पाई जाती है।

परिमाण

यह इतना है; वह उतना है, इस व्यवहार का हेतु परिमाण है। परिमाण चार प्रकार का है—अणुत्व, महत्त्व, दीर्घत्व और ह्रस्वत्व। ये परिमाण-भेद अन्योन्यापेक्षी हैं। हम एक ही वस्तु को उससे बड़ी वस्तु की अपेक्षा से अणु तथा उससे छोटी वस्तु की अपेक्षा से महत् कहते हैं। हाँ, परमाणुओं में अणुत्व और ह्रस्वत्व और आकाशादि विभु द्रव्यों में

महत्त्व और दीर्घत्व मुख्य हैं। संख्या की तरह परिमाण भी नित्य, अनित्य, मूर्त्त, अमूर्त्त सारे द्रव्यों में रहता है।

संयोग

यह संयुक्त है, इस प्रतीति का निमित्त संयोग है। संयोग तीन प्रकार का है(१)—अन्यतर कर्मज, अर्थात् एक के कर्म से उत्पन्न होने वाला, जैसे श्येन (बाज) और पर्वत् का संयोग; (२) उभय कर्मज, अर्थात् दोनों के कर्म से उत्पन्न होने वाला; जैसे दो मेढ़ों का संयोग (टक्कर) और (३) संयोगज, अर्थात् संयोग से उत्पन्न होने वाला; जैसे हाथ और पुस्तक के संयोग से शरीर और पुस्तक का संयोग। संयोग भी सारे द्रव्यों में होता है। संयोग अनादि नहीं होता; प्रत्युत प्रत्येक बार वह नया उत्पन्न होता है, चाहे वह नित्यों का, जैसे परमाणुओं का, संयोग क्यों नहीं हो; अतः प्रत्येक संयोग अनित्य है। इसके अतिरिक्त सभी संयोग अव्याप्यवृत्ति होते हैं, अर्थात् जो संयुक्त हैं उनके सारे स्वरूप में संयोग नहीं होता, बल्कि किसी एक वा किन्हीं एक प्रदेशों के साथ होता है।

पृथकत्व

यह इससे पृथक है, इस व्यवहार का कारण पृथकत्व है। यह भी सारे द्रव्यों में रहता है। संख्या की तरह एक-पृथकत्व नित्यों में नित्य और अनित्यों में अनित्य होता है; क्योंकि अनित्य आश्रय के नाश होने पर अनित्यों का एक-पृथकत्व भी नष्ट हो जाता है।

विभाग

संयोग का नाशक गुण विभाग है। संयोगवत् यह भी तीन प्रकार का होता है—(१) अन्यतर कर्मज, जैसे—श्येन के उड़ जाने से श्येन और पर्वत का विभाग एक के कर्म से उत्पन्न होता है; (२) उभयकर्मज, जैसे—मेढ़ों के पीछे हट जाने से उनका विभाग दोनों के कर्म से उत्पन्न होता है और (३) विभागज, जैसे—हाथ और पुस्तक के विभाग से शरीर और पुस्तक का विभाग होता है। विभाग का दूसरा नाम वियोग है।

परत्व और अपरत्व

यह परे है, यह वरे है, इस व्यवहार के निमित्त परत्व और अपरत्व हैं। वे दो प्रकार के होते हैं—दैशिक और कालिक। दैशिक दिशा से किये हुए, अर्थात् दूर-निकट की अपेक्षा से उत्पन्न हुए को कहते हैं; जैसे वह वस्तु इससे परे (दूर) है, वा वरे (निकट) है। कालिक काल की अपेक्षा अर्थात् आयु की अपेक्षा से उत्पन्न होता है, जैसे वह पर (बड़ा) है और यह अपर (छोटा) है। दैशिक किम्वा कालिक सारे परत्व और अपरत्व अपेक्षा-बुद्धि से उत्पन्न होते हैं और उस बुद्धि के नाश से नष्ट हो जाते हैं।

गुरुत्व

गिरने का निमित्त गुरुत्व है जो जल और पृथ्वी में रहता है। वायु में गुरुत्व की

प्रतीति पार्थिव और जलीय रेणुओं के संयोग से होती है। गुरुत्व नित्यों में नित्य और अनित्यों में अनित्य होता है।

द्रवत्व

बहने का निमित्त द्रवत्व है। वह दो प्रकार का है—स्वाभाविक और नैमित्तिक। जल में स्वाभाविक है; घृतादि पार्थिव वस्तुओं में नैमित्तिक है जो अग्नि के संयोग से उत्पन्न होता है। द्रवत्व भी नित्यों में नित्य और अनित्यों में अनित्य होता है।

स्नेह जलों का विशेष गुण है। संग्रह करना, अर्थात् चूर्ण को एक पिण्ड बना देना कान्ति और मृदुता का हेतु है। स्नेह नित्यों में नित्य और अनित्यों में अनित्य होता है।

बुद्धि और उसके भेदोपभेद

बुद्धि ज्ञान का नाम है। यह केवल आत्मा का गुण है। बुद्धि के दो भेद हैं—अनुभव और स्मृति। नया ज्ञान अनुभव है; और पूर्व में जाने हुए का स्मरण स्मृति है। अनुभव भी दो प्रकार का होता है—यथार्थ (सच्चा), जिसे प्रमा वा विद्या कहते हैं और अयथार्थ (मिथ्या) जिसे अप्रमा वा अविद्या कहते हैं। यथार्थ अनुभव के तीन भेद हैं—(१) प्रत्यक्ष, जो इन्द्रिय-जन्य है; (२) लैङ्गिक (अनुमान), जो लिङ्ग (चिन्ह) देखकर लिङ्ग (चिन्ह) वाले का ज्ञान है; जैसे धूँआ देखकर आग का ज्ञान होना। इसके अपर नाम अनुमिति वा अनुमा भी हैं और (३) आर्ष, जो यथार्थ वक्ता ऋषियों के उपदेश से धर्म के विषय में उत्पन्न होता है, जैसे वेदादि सच्छास्त्र। इस अनुभव को शाब्द वा आप्त भी कहते हैं।

अयथार्थ अनुभव के दो भेद हैं—(१) संशय। एक का निश्चय न होना संशय प्रत्यक्ष में भी होता है और अप्रत्यक्ष में भी; जैसे दूर से खंभे को देखकर संशय होता है कि क्या यह खंभा है वा कोई आदमी ? यहाँ प्रत्यक्ष में संशय हुआ। और जंगल में केवल सींग को देखकर संशय होता है कि क्या यह गाय है वा गवय ? यहाँ अप्रत्यक्ष में संशय हुआ। संशय तब होता है जब हम केवल समान धर्म को तो देखते हैं; पर विशेष धर्म को नहीं, जैसे वृक्ष और आदमी का समान धर्म ऊँचाई तो दीखती है, पर हाथ, पाँव आदि आदमी के वा घोंसले, खोढ़र आदि वृक्ष के विशेष धर्म नहीं दीखते। विशेष धर्म का ज्ञान होने पर संशय मिट जाता है। (२) विपर्यय। मिथ्या ज्ञान, उलटा ज्ञान, भ्रम, भ्रान्ति, उसको वह न समझना वा वैसे को वैसा नहीं समझना आदि विपर्यय है; जैसे गाय को घोड़ा समझना, अज्ञानी को ज्ञानी समझना इत्यादि। विपर्यय, प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों में होता है; जैसे रस्सी को साँप वा सीप को चाँदी समझना प्रत्यक्ष में विपर्यय है; और वाष्प को

धूँआ जानकर अग्नि का, वा गवय का सींग देखकर गाय का अनुमान करना अनुमान में विपर्यय है।

सुख इष्ट विषय की प्राप्ति से उत्पन्न होता है और सदा अनुकूल-स्वभाव होता है। सुख होने से मुख और नेत्र खिल जाते हैं। सुखात्मक अतीत विषयों की स्मृति और अनागत विषयों के संकल्प मात्र से सुख होता है। सुख ही मनुष्य का परम उद्देश्य है। उसी की प्राप्ति के लिए सब कुछ किया जाता है।

दुःख इष्ट के वियोग वा अनिष्ट की प्राप्ति से उत्पन्न होता है। वह सदा प्रतिकूल-स्वभाव होता है। दुःख के होने से चेहरा मुरझा जाता है और दीनता आ जाती है। दुःखात्मक अतीत विषयों की स्मृति और अनागत विषयों के संकल्प मात्र से दुःख होता है।

इच्छा

अपने वा दूसरों के लिए किसी अप्राप्त वस्तु की चाह ही इच्छा है। किसी वस्तु को इष्ट साधक वा अनिष्ट निवारक जानकर उसके लिए इच्छा होती है। वह दो प्रकार की होती है—फल की इच्छा और उपाय की इच्छा। फल सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति है। और सब व्यापार उसके साक्षात् (Direct) वा परम्परा से (Indirect) उपाय हैं।

द्वेष प्रज्ज्वलन रूप है। अर्थात् जिसके उत्पन्न होने पर मनुष्य अपने आप को प्रज्ज्वलित सा समझता है वह द्वेष है। वह प्रयत्न, स्मृति, धर्म और अधर्म का हेतु है। द्वेष से मारने वा जीतने का प्रयत्न होता है; जिससे द्वेष हो उसकी बार-बार स्मृति होती है; दुष्टों से द्वेष में धर्म और श्रेष्ठों से द्वेष में अधर्म होता है।

प्रयत्न

उद्योग वा उत्साह प्रयत्न है। वह दो प्रकार का होता है—जीवन-पूर्वक और इच्छा-द्वेष-पूर्वक। जो सोते हुए प्राणी के प्राण, अपान आदि वायुओं को चलाता है वह जीवन-पूर्वक प्रयत्न है और जो जाग्रत् काल में अन्तःकरण का इन्द्रियों के साथ संयोग कराता है वह इच्छा-द्वेष-पूर्वक प्रयत्न है। हित के साधनों के ग्रहण में इच्छापूर्वक और दुःख के साधनों के परित्याग में द्वेषपूर्वक प्रयत्न होता है।

धर्म और अधर्म

वेद विहित कर्मों से धर्म उत्पन्न होता है। वह पुरुष का गुण है। कर्त्ता के प्रिय हित और मोक्ष का हेतु होता है। प्रतिषिद्ध कर्मों से अधर्म उत्पन्न होता है और कर्त्ता के अहित और दुःख का हेतु होता है। धर्म और अधर्म को अदृष्ट कहते हैं।

संस्कार के भेद

संस्कार तीन प्रकार का है—वेग, भावना और स्थिति-स्थापक। वेग पृथ्वी, जल, तेज, वायु और मन, इन पाँच मूर्त्त द्रव्यों में कर्म से उत्पन्न होता है और भावी कर्म का

कारण बनता है। भावना-संस्कार अनुभव से उत्पन्न होकर स्मृति और पहचान का हेतु होता है। विद्या, शिल्प, व्यायामादि में बार-बार के अभ्यास से इस संस्कार का अतिशय होता है और उसके बल से तत्तद्विषय में निपुणता प्राप्त होती है। अन्यथा किये हुए को पुनः उसकी साबिक अवस्था में लाने वाला संस्कार स्थिति-स्थापक है जिसके कारण टेढ़ी की हुई शाखा छोड़ देने पर पुनः सीधी हो जाती है।

५ कर्म

वैशेषिक सूत्र है—"उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुंचनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि" (वै० १।१।७)। अर्थ—उत्क्षेपण (ऊपर फेंकना), अवक्षेपण, (नीचे फेंकना) आकुंचन (सिकोड़ना), प्रसारण (फैलाना) और गमन (चलना), ये कर्म हैं। मनुष्य के कर्म पुण्य-पाप-रूप होते हैं; महाभूतों के नहीं।

यह मुख्य पदार्थ अर्थात् द्रव्य, गुण और कर्म का विचार समाप्त हुआ। अब गौण पदार्थ सामान्य, विशेष और समवाय का विचार करते हैं।

सामान्य और उसके भेद

किसी पदार्थ की जो जाति (किस्म) है, वही सामान्य है; जैसे वृक्ष की वृक्षत्व जाति और मनुष्य की मनुष्यत्व जाति। जाति बहुतों में एक होती है, जैसे सारे वृक्षों में वृक्षत्व एक जाति है। जो एक व्यक्ति ही उसमें जाति नहीं रहती; अतएव आकाश, काल और दिशा में जाति नहीं है। वे एक-एक व्यक्ति हैं। उनके किस्म का कोई और व्यक्ति नहीं है।

सामान्य (जाति) के दो भेद हैं—पर और अपर। एक ही व्यापक जाति जिसकी अवान्तर जातियाँ और भी हों, पर-सामान्य और उसकी अवान्तर जातियाँ अपर-सामान्य कहलाती हैं; जैसे किसी आम्रवृक्ष का वृक्षत्व पर और उसका आमत्व अपर सामान्य है।

पर और अपर सापेक्ष हैं

यह पर और अपर का विचार सापेक्ष है। आम्रत्व आदि की अपेक्षा से वृक्षत्व पर है और वृक्षत्व की अपेक्षा से आम्रत्व अपर है। पर वृक्षत्व भी पृथ्वीत्व की अपेक्षा से अपर है और आम्रत्व भी अपनी अवान्तर जातियों की अपेक्षा से पर है। जिसके आगे कोई अवान्तर जाति नहीं, वह केवल अपर ही होता है, जैसे घटत्वादि। इसी प्रकार जिसकी व्यापक जाति कोई न हो वह केवल पर ही होता है! ऐसी जाति केवल सत्ता है; क्योंकि वह निःशेष द्रव्यों, गुणों और कर्मों में पाई जाती है और सर्वत्र एक रूप है।

विशेष निरूपण

जैसे घोड़े से गौ में विलक्षण प्रतीति जाति-निमित्तक होती है और एक गौ से दूसरी गौ में विलक्षण प्रतीति का निमित्त रूपादि वा अवयवों की बनावट आदि में भेद है, वैसे

ही योगियों को एक ही जाति, गुण और कर्म वाले परमाणुओं में जो एक दूसरे से विलक्षण प्रतीति होती है उसका भी कोई निमित्त अवश्य है जिसका स्फुरण साधारण मनुष्यों को नहीं होता। बस, उसी निमित्त को, उसी भेदक धर्म को विशेष पदार्थ कहते हैं। प्रत्येक नित्य द्रव्य में एक-एक विशेष रहता है जिससे वह दूसरे नित्य द्रव्यों से विलक्षण प्रतीत होता है। पहचान और विलक्षण प्रतीति किसी निमित्त से होती है; जैसे गौ में गोत्व-जाति से और शुक्ल में शुक्लत्व गुण से। पर वैसा निमित्त परमाणुओं में कोई और न होने से उनमें भी कोई अलग एक ऐसा पदार्थ अवश्य है जो उनकी पहचान और विलक्षण प्रतीति का निमित्त है और वही विशेष पदार्थ है। चूँकि इस विशेष पदार्थ का पता इसी दर्शन ने लगाया है, अतएव इसे वैशेषिक कहते हैं।

सामान्य निरूपण

सम्बन्ध सदा दो में होता है, जैसे कुंडे और दही का सम्बन्ध। इनमें से दही कुंडे से और कुंडा दही से अलग भी रहता है। ऐसे सम्बन्ध को संयोग कहते हैं। पर जो ऐसा घना सम्बन्ध है कि जहाँ सम्बन्धी अलग-अलग न थे और न हो सकते हैं, तो ऐसे सम्बन्ध को समवाय सम्बन्ध कहते हैं; जैसे गुण और गुणी का सम्बन्ध। इसी प्रकार अवयवों में अवयवी, क्रिया वाले में क्रिया, व्यक्ति में जाति और नित्य द्रव्यों में विशेष (पदार्थ) समवाय सम्बन्ध से रहता है।

अभाव और उसके भेद

नव्यों ने पूर्वोक्त ६ पदार्थों के अतिरिक्त अभाव को एक सातवाँ पदार्थ माना है जो चार प्रकार का होता है—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योऽन्याभाव। किसी वस्तु की उत्पत्ति से पहले जो उसका अभाव है, वह प्रागभाव है। नाश के पीछे जो अभाव है, वह प्रध्वंसाभाव है। यहाँ घट नहीं है, यहाँ पट नहीं है इत्यादि रूप से जो किसी स्थान में घटादि के संसर्ग का प्रतिषेध है, वह अत्यन्ताभाव है। और घट पट नहीं है, इस प्रकार का अभाव अन्योऽन्याभाव है।

पूर्वोक्त पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मोक्ष होता है। और तत्त्वज्ञान धर्म विशेष से उत्पन्न होता है, जैसा कि कहा है—

"धर्म विशेष प्रसूताद् द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवायानां पदार्थानां सा धर्म्य वैधर्म्याभ्यांतत्त्वज्ञानान्निश्रेयसम्।"

अर्थ—धर्म विशेष से उत्पन्न तथा द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय रूप पदार्थों के साधर्म्य और वैधर्म्य के द्वारा प्राप्त जो तत्त्वज्ञान है उससे मोक्ष होता है।

मीमांसा और उसके दो भेद

वेदार्थ-विषयक विचार को मीमांसा कहते हैं। मीमांसा के दो भेद हैं—पूर्व मीमांसा

और उत्तर मीमांसा। पूर्व मीमांसा में कर्मकाण्ड का और उत्तर मीमांसा में उपासना और ज्ञानकाण्ड का विचार है। पूर्व मीमांसा का प्रसिद्ध नाम मीमांसा दर्शन और उत्तर मीमांसा का वेदान्त दर्शन है।

मीमांसा-दर्शन के प्रवर्त्तक और नाम-करण

मीमांसा दर्शन के प्रवर्त्तक जैमिनि मुनि हैं; अतः उन्हीं के नाम पर इसे जैमिनीय दर्शन तथा इसमें वेदार्थ का विचार होने से इसे मीमांसा दर्शन कहते हैं।

जैमिनि के मत में शब्द नित्य और वेद अपौरुषेय हैं

जैमिनि मुनि शब्द, शब्दार्थ तथा उनके अन्योन्य सम्बन्ध को नित्य, वेद को अपौरुषेय तथा स्वतः प्रमाण, पर ब्राह्मणादि अन्य ग्रन्थों को परतः प्रमाण अर्थात् वेदानुकूल होने पर प्रमाण, पर वेद-प्रतिकूल होने पर अप्रमाण मानते हैं। यहाँ पर उनका सूत्र है—"धर्मस्य शब्दमूलत्वादशब्दमनेपेक्ष्यंस्यात्" (१।३।१); अर्थात् धर्म के वेद-मूल (वेद-प्रमाण) होने से जो अशब्द (वेद भिन्न ग्रन्थ जैसे ऐतरेय आदि ब्राह्मण ग्रन्थ) हैं वे अप्रमाण हैं। पुनश्च—"विरोधेत्वनपेक्ष्यंस्यादसतिह्यनुमानम् (१।३।३); अर्थात् जहाँ वेद और ब्राह्मण में विरोध हो वहाँ ब्राह्मण प्रमाण नहीं हो सकते; पर जहाँ विरोध का अभाव हो वहाँ पर वे अनुमान (प्रमाण) हो सकते हैं।

वेदाध्ययन का विधान

मनुष्य के अन्दर जो धर्म की जिज्ञासा है, वह वेदाध्ययन से ही पूरी हो सकती है। अतः कहा भी है "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" (शत० ११।५।७); अर्थात् वेदों को पढ़ना चाहिए जिससे धर्म का स्वरूप मालूम हो। वेदोक्तयज्ञादि कर्म और सबके साथ द्रोह-रहित होना आदि चरित ही धर्म है।

कर्म संबन्धी तीन आवश्यक बातें

वेदोक्त यज्ञादि कर्म को तीन बातों की आवश्यकता है—साध्य, साधन और इति-कर्त्तव्यता। "दर्शपूर्णमासाभ्यांस्वर्गकामोयजेत" इत्यादि वाक्य से स्वर्ग को लक्ष्य करके पुरुष के प्रति यज्ञ का विधान किया है। यहाँ स्वर्ग साध्य है। यज्ञ साधन है, और प्रयाज आदि अंग उसकी इतिकर्त्तव्यता को पूरा करते हैं।

कर्म संबन्धी ५ विचारणीय स्थल

वैदिक कर्म के लिए विचारणीय स्थल पाँच हैं—विधि, मंत्र, नामधेय, निषेध और अर्थवाद।

विधि

अज्ञात अर्थ का ज्ञापक भाग विधि है। विधि का प्रयोजन यह है कि वह किसी ऐसे अर्थ का विधान करे जो किसी प्रमाणान्तर से प्राप्त नहीं हो सकता; जैसे "अग्निहेजंजुहुयात्

स्वर्गकामः" अर्थात् स्वर्ग की कामना वाला पुरुष अग्निहोत्र का होम करे। यह विधि स्वर्ग-प्रयोजन वाले होम का विधान करती है जो प्रमाणान्तर से अप्राप्त है।

विधि के चार प्रकार

विधि ४ प्रकार की होती है—उत्पत्ति विधि, विनियोग विधि, अधिकार विधि और प्रयोग विधि।

उत्पत्ति विधि

कर्म के स्वरूप मात्र को बोधक जो विधि है, वह उत्पत्ति विधि है; जैसे "अग्निहोत्रं जुहोति"; अर्थात् अग्निहोत्र का होम करे।

विनियोग विधि

अङ्ग और प्रधान के सम्बन्ध की बोधक विधि विनियोग विधि है; जैसे "दध्ना जुहोति"; अर्थात् दही से होम करे। यहाँ दही होम का अंग है। यह विधि दही का होम के साथ सम्बन्ध बतलाती है। अभिप्राय है कि दही रूप द्रव्य के द्वारा होम का सम्पादन करे।

विनियोग विधि के ६ सहकारी प्रमाण

विनियोग विधि के सहकारी (साथी) ६ प्रमाण हैं—श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या। इनकी सहायता से विधि अंगता (परार्थता) सिद्ध करती है, जैसे दही का होमार्थ होना। परार्थ को शेष और प्रधान को शेषी कहते हैं और इनके सम्बन्ध का नाम शेष-शेषी भाव वा अंगांगिभाव सम्बन्ध है।

श्रुति और उसके भेद

श्रुति तीन प्रकार की है—विधात्री, अभिधात्री और विनियोक्त्री। विधात्री=विधान करने वाली। लिङ्, लट्, तव्यादि प्रत्यय जो विधि बोधक हैं वे ही विधात्री श्रुति से अभिप्रेत हैं; जैसे "स्वर्गकामोयजेत।" यहाँ यज् धातु में लिङ् लकार विधात्री श्रुति है। अभिधात्री=अभिधान (नाम) बतलाने वाली; जैसे "व्रीहिभिर्यजेत;" यहाँ 'व्रीहि' शब्द नाम है; अतः यह अभिधात्री श्रुति है। विनियोक्त्री=विनियोग करने वाली। जिस शब्द के श्रवणमात्र से शेष-शेषी भाव (अङ्गाङ्गि भाव) सम्बन्ध प्रतीत हो वह विनियोक्त्री श्रुति है; जैसे "व्रीहिभिर्यजेत" में तृतीया विभक्ति की श्रुति से ही व्रीहि की यागाङ्गता प्रतीत होती है।

विनियोक्त्री तीन प्रकार की होती है—विभक्ति-रूपा, एकाभिधान-रूपा और एकपद-रूपा। विभक्तिरूपा; जैसे "व्रीहिभिर्यजेत" में तृतीया विभक्तिरूपा विनियोक्त्री श्रुति से व्रीहि-याग का अंग है। एकाभिधान-रूपा; जैसे "यजेत" में आख्यात प्रत्यय से जो एकत्व संख्या कही गई है, वह एकाभिधान श्रुति के कर्त्ता का अङ्ग है और वही एकपद रूपा श्रुति से से याग का अंग है।

लिङ्ग

शब्दों के सामर्थ्य का नाम लिंग है जैसे "वर्हिर्देवसदनंदामि"; अर्थात् कुश जो पुरोडाश का आसन है, काटता हूँ। यहाँ शब्दों के सामर्थ्य से यह मंत्र कुश के काटने का अङ्ग प्रतीत होता है।

वाक्य

साथ उच्चारण होना वाक्य है; अर्थात् शेष-शेषी भाव की वाचक विभक्ति के न रहते हुए भी शेष-शेषी वाचक पदों का साथ उच्चारण होना वाक्य है; जैसे—"यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति"; अर्थात् जिसकी पलाश की जुहू होती है, वह अपने अपयश को नहीं सुनता। यहाँ पलाश और जुहू के एक साथ उच्चारण से ही पलाश जुहू का अङ्ग प्रतीत होता है। जुहू = A crescent-shaped wooden laddle एक चन्द्रार्द्धाकार काष्ठमयी कलछी जिसके द्वारा अग्नि में घी डाला जाता है।

प्रकरण

परस्पर (दोनों को एक दूसरे की) आकांक्षा का होना प्रकरण है। जैसे "समिधो-यजति"; अर्थात् समिधों की यजन करता है। यहाँ फल (साध्य) की आकांक्षा है। और "दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत"; अर्थात् दर्श और पूर्णमास से स्वर्ग चाहने वाला यजन करे। यहाँ किस प्रकार यजन करे यह नहीं मालूम होने के कारण साधन की आकांक्षा है। इस प्रकार दोनों ओर से आकांक्षा होने पर प्रयाजादि दर्शपूर्णमास का अंगसिद्ध होते हैं। प्रकरण दो प्रकार का है—१. महाप्रकरण (प्रधान कर्म सम्बन्धी, और २. अवान्तर प्रकरण (अंग सम्बन्धी)

स्थान

स्थान नाम है जगह वा क्रम का। समान स्थान पर होना ही क्रम है। जैसे—"ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत्" = इन्द्र और अग्नि-सम्बन्धी इग्यारह कपाल वाले पुरोडाश का निर्वाप करे। और "वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्" = वैश्वानर सम्बन्धी बारह कपाल वाले पुरोडाश का निर्वाप करे। इस प्रकार क्रम से विहित जो ऐन्द्राग्नेष्टियाग और वैश्वानरेष्टियाग हैं, उनके याज्या और अनुवाक्या मंत्र "इन्द्राग्नीरोचनादिवः" आदि पढ़े हैं; पर यह नहीं बतलाया कि ऐन्द्राग्नेष्टि के याज्या और अनुवाक्या मंत्र कौन है। और वैश्वनरेष्टि के कौन। सो यहाँ क्रम के अनुसार पहले दोनों मंत्र ऐन्द्राग्नेष्टि के और दूसरे दोनों मंत्र वैश्वानरेष्टि के याज्या और अनुवाक्या मंत्र समझने चाहिए। स्थान के भेदोपभेद विस्तार-भय से नहीं लिखे। संक्षेपतः भेद दो हैं—१. पाठकृत और २. अर्थकृत। पुनः पाठकृत के दो उपभेद हैं—यथा संख्य और सन्निधि।

समाख्या

समाख्या यौगिक शब्द को कहते हैं। यज्ञ में प्रयोजनीय याज्यापुरोनुवाक्या पाठादि धर्म ऋग्वेद में, दोहन-निर्वापादि धर्म यजुर्वेद में और आज्यस्तोत्र-पृष्ठतोत्रादि सामवेद में कहे हैं। पर इनमें से कौन ऋत्विज् किसका अनुष्ठान करे, यह नियम होतृ, अध्वर्यु और उद्गातृ से सम्बन्ध रखने वाली समाख्याओं से जाना जाता है।

लिंग और समाख्या, दोनों में शब्द के सामर्थ्य से विनियोग होता है। पर .भेद यह है कि लिंग में रूढ़ि शब्दों का, और समाख्या में यौगिक शब्दों का सामर्थ्य लिया जाता है।

विनियोग के प्रमाण श्रुत्यादि में पूर्व-पूर्व के प्रति परस्पर का दौर्बल्य

विनियोग विधि के जो पूर्वोक्त श्रुत्यादि ६ सहकारी प्रमाण बतलाए गये हैं उनमें से यदि सभी वा कई एक ही बार लागू हो जाएँ तो पूर्व के प्रति पर प्रमाण दुर्बल हो जाता है। इस पर जैमिनि का सूत्र है—"श्रुति-लिंग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यानां समवाये पारदौर्बल्य मर्थ विप्रकर्षात्" (३।३।१४) = श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या के मेल में पूर्व के प्रति पर प्रमाण, दूर रहने के कारण, दुर्बल पड़ जाता है। उदाहरणतः जहाँ श्रुति और लिङ्ग का समवाय हो वहाँ श्रुति प्रबल और लिङ्ग दुर्बल होगा; कारण लिंग में सीधा विनियोग नहीं होता; केवल उसकी कल्पना की जाती है। पर जब तक विनियोग की कल्पना की जाए, उसके पहले ही प्रत्यक्ष श्रुति विनियोग कर देती है और कल्पना शक्ति प्रतिबद्ध हो जाती है।

विनियोक्तव्य अंगों के २ भेद

श्रुत्यादि की सहायता द्वारा विनियोग विधि से जिन अंगों का विनियोग होता है वे दो प्रकार के हैं—सिद्धरूप और क्रियारूप। उनमें गौ आदि जाति, व्रीहि आदि द्रव्य और एकत्वादि संख्या सिद्धरूप हैं। क्रियारूप अङ्ग दो प्रकार के हैं—सन्निपत्योपकारक और आरादुपकारक। इन्हें क्रमशः गुण कर्म और प्रधान कर्म भी कहते हैं। यज्ञिय द्रव्यादि का संस्कार करने वाला कर्म, जैसे व्रीहि का अवधात (छाँटना), प्रोक्षण (छिड़कना) आदि, सन्निपत्योपकारक होता है। इसी को आश्रयी कर्म तथा समवायी कर्म भी कहते हैं। और द्रव्यादि के उद्देश्य के बिना विधीयमान कर्म आरादुपकारक होता है, जैसे प्रयाजादि। घी की पाँच आहुतियों की संज्ञा प्रयाज है।

फल भेद से अंग भेद

फल भेद से अंगों के तीन भेद हैं—दृष्टार्थ, अदृष्टार्थ और दृष्टादृष्टार्थ। दृष्टार्थ वह अंग है जिसका प्रयोजन सीधा दीखता है और अदृष्टार्थ वह है जिसका प्रयोजन प्रत्यक्ष से परे है, चाहे वह इस लोक में मिले वा परलोक में। पूर्वोक्त सिद्धरूप जितने अङ्ग हैं वे

सब दृष्टार्थ होते हैं, जैसे गौ से सोम खरीदते हैं, ब्रीहि से यजन करते हैं इत्यादि। गुणकर्म (क्रिया रूप) जो द्रव्यादि अंगों के संस्कार करने वाले हैं, उनमें कई दृष्टार्थ होते हैं, जैसे ब्रीहि का कूटना चावल निकालने के लिए है; क्योंकि चावलों के बिना पुरोडाश नहीं बन सकता, पर कई अदृष्टार्थ होते हैं, जैसे ब्रीहि का प्रोक्षण करना (छिड़कना) केवल अदृष्टार्थ है; क्योंकि प्रोक्षण के बिना भी याग का स्वरूप सिद्ध हो जाता है, और प्रोक्षण से कोई दृष्ट उपकार होता नहीं। और पूरोडाशादि का त्याग दृष्टादृष्टार्थ होता है, क्योंकि द्रव्यत्यागरूप अंश से ही वह अदृष्टार्थ को उत्पन्न करता है और चूँकि वह देवता के उद्देश्य से किया जाता है, अतः देवता-स्मरण-रूप दृष्ट को भी वह उत्पन्न करता है प्रधान कर्म (क्रियारूप) निःशेषतः अदृष्टार्थ ही होते हैं।

अधिकार विधि

वैदिक कर्म का कौन अधिकारी है, यह जिसमें बतलाया गया हो वह अधिकार विधि है। अधिकारी सर्वत्र पुरुष विशेष होता है। पुरुष विशेष का निश्चय उसके विशेषणों से होता है। वह विशेषण काम्य कर्मों में तो फल की कामना है, जैसे "स्वर्ग कामों यजेत" में स्वर्ग की कामना ही अधिकारी पुरुष का विशेषण है। नैमित्तिक कर्म में निमित्त का निश्चय अधिकारी पुरुष का विशेषण होता है; जैसे "यस्याहिताग्ने रग्निर्ग्रहान् दहेत् सोऽग्नये क्षामवतेऽष्टाकपालं निर्वपेत्"= जिस आहिताग्नि के घरों को अग्नि दग्ध करे, वह क्षामवत् अग्नि के लिए निर्वाप करे। यहाँ जिस आहिताग्नि को अग्निदाह रूप निमित्त का निश्चय है, वह इसका अधिकारी है। नित्यकर्म में कृतज्ञ होना विशेषण है, अतएव नित्य के त्याग में प्रत्यवाय (पाप) होता है। कहीं-कहीं अधिकार-विधि में पढ़ा हुआ विशेषण भी अधिकारी का विशेषण होता है। जैसे अग्नि-साध्य कर्म सब आहिताग्नि के लिए होते हैं; इसलिए आहिताग्नि होना भी उन कर्मों में अधिकारी का विशेषण है।

प्रयोग-विधि

अंगों के क्रम की बोधक विधि प्रयोग-विधि है। यह विधि कोई अलग विधि नहीं होती, किन्तु सारे अंग वाक्यों के साथ एक वाक्य बनाई हुई प्रधान विधि ही प्रयोग विधि है। यदि इस प्रकार सबों को एक विधि न बना लिया जाय तो इस क्रम से एक के पीछे दूसरा कर्म करते चले जाना चाहिए, बीच में विलम्ब नहीं करना चाहिए, यह बात सिद्ध नहीं होती। प्रयोग-विधि बीच में विलम्ब की निवारण करती है और नियत क्रम का विधान करती है।

क्रम के बोधक ६ प्रमाण श्रुति

क्रम के बोधक ६ प्रमाण हैं—श्रुति, अर्थ, पाठ, स्थान, मुख्य और प्रवृत्ति। क्रम वचन श्रुति है। वह वचन दो प्रकार का होता है—केवल क्रम-परक और क्रम-विधि-पदार्थ-परक।

"वेदं कृत्वा वेदिं करोति"=वेद (कुश की मुट्ठी विशेष) को बनाकर वेदि को बनाता है; यह वचन केवल क्रम-परक है; क्योंकि वेद और वेदि का बनाना अन्य वचन से प्राप्त है। और "वषट्कर्त्तुः प्रथम भक्षः"=वषट्कर्त्ता का प्रथम भक्षण होता है। इस एक ही श्रुति से वषट्कर्त्ता के भक्षण और उसी के प्रथम भक्षण दोनों का बोध होता है, अतः यह क्रम विशिष्ट-पदार्थ-परक है।

अर्थ

जहाँ प्रयोजन के वश से निर्णय हो, वह अर्थ क्रम है; जैसे "अग्निहोत्रंजुहोति, यवागूँ पचति"=अग्निहोत्र करे, यवागू को पकाए। यहाँ यद्यपि अग्निहोत्र पहले कहा है और यवागू-पाक उसके अनन्तर। पर यवागू-पाक होम के लिए है, इसलिए पहले यवागू को पकाता है और पीछे उसका होम करता है। यही क्रम है।

पाठ

पाठ का क्रम पाठ-क्रम है। जिस क्रम से वाक्य पढ़े जाते हैं उसी क्रम से उनके अर्थ प्रतीत होते हैं और प्रतीति के क्रम से अनुष्ठान होना चाहिए। पाठ दो प्रकार का है—मंत्र-पाठ और ब्राह्मण-पाठ। जहाँ एक ही अनुष्ठान के सम्बन्ध में मंत्र और ब्राह्मण के बीच क्रम-विषयक विरोध देख पड़े वहाँ अनुष्ठान का क्रम मंत्र पाठ के अनुसार लेना चाहिए; क्योंकि मंत्र ब्राह्मण से बलवत्तर है। पर जहाँ क्रम के स्मारक कोई मंत्र न हो वहाँ क्रम के स्मारक ब्राह्मण ही स्वीकार किया जाता है।

स्थान

स्थान उपस्थिति को कहते हैं। विकृति यागों में जो प्रकृति याग के अंग अनुष्ठेय होते हैं, उनमें से प्रकृति याग के अनुसार जिसकी पहले उपस्थिति होती है उसका पहले और जिसकी पीछे होती है, उसका पीछे अनुष्ठान करना चाहिए, यही स्थान क्रम है।

मुख्य

प्रधान के क्रम से जो प्रयोग के अंगों का क्रम है, वह मुख्य क्रम है। अर्थात् जहाँ अनेक प्रधान यागों का एक साथ अनुष्ठान कहा है, वहाँ उनके अंगों का अनुष्ठान प्रधान के ही क्रम से करना चाहिए।

प्रवृत्ति

जहाँ बहुतों के विषय में कई कर्म इकट्ठे करने होते हैं, वहाँ सबों के विषय में पहले एक कर्म कर दिया जाता है, फिर जिस क्रम से पहले प्रवृत्त हुए थे, उसी क्रम से दूसरे आदि कर दिये जाते हैं। इसी का नाम प्रवृत्ति-क्रम है।

क्रम के बोधक श्रुत्यादि प्रमाणों में पूर्व-पूर्व के प्रति पर-पर का दौर्बल्य

पूर्वोक्त क्रम बोधक श्रुत्यादि ६ प्रमाणों की अपेक्षा बलवान होते हैं। एक उदाहरण

लीजिए—आश्विनग्रह यद्यपि तीसरे स्थान में पढ़ा है; पर "आश्विनोदशमोगृह्यते" इस श्रुति के अनुसार उसे दसवें स्थान पर ग्रहण करना चाहिए। इसी प्रकार अर्थ-क्रम पाठ क्रमादि की अपेक्षा, पाठक्रम स्थानादि क्रम की अपेक्षा, स्थान-क्रम मुख्य क्रमादि की अपेक्षा और मुख्य-क्रम प्रवृत्ति-क्रम की अपेक्षा बलवान् है।

मंत्र

प्रयोग के साथ सम्बन्ध रखने वाले जो द्रव्य, देवता, इतिकर्त्तव्यता आदि अर्थ हैं उनके स्मारक मंत्र होते हैं। यद्यपि उन अर्थों का स्मरण और प्रकार से भी हो सकता है, पर मंत्रों से ही उनका स्मरण करना चाहिए, इस प्रकार इस विषय में नियम विधि मानी गई है।

अपूर्व विधि

प्रमाणान्तर से अप्राप्त अर्थ की प्रापक जो विधि है वह अपूर्व विधि होती है; जैसे स्वर्गार्थ याग किसी अन्य प्रमाण से प्राप्त नहीं है, जिसे "दर्श पूर्णमासाभ्यां स्वर्ग कामो यजेत" यह विधि विधान करनी है; अतः यह अपूर्व विधि है। इसी प्रकार याग सम देश और विषम देश, दोनों जगहों पर हो सकता है। यही पाक्षिक प्राप्ति है।

नियम विधि

पर विषम देश पर याग करना इष्ट नहीं है, अतः नियम कर दिया "समे यजेत" अर्थात् सम देश पर ही याग करे। यह नियम विधि है। यदि यह विधि नहीं रहती तो याग सम, विषम सभी स्थानों पर हुआ करता।

परिसंख्या विधि

दोनों विधियों (अपूर्व विधि और नियम विधि) की प्राप्ति में एक को हटाने वाली विधि परिसंख्या विधि होती है; जैसे "ऋतौ भार्यामुपेयात्"; अर्थात् ऋतु काल में स्त्री के पास जाये। यहाँ अपूर्व विधि भी हो सकती है; क्योंकि प्रामाणान्तर का अभाव है और नियम विधि भी हो सकती है; क्योंकि पाक्षिक प्राप्ति होने के कारण कोई ऐसा नियम नहीं है कि ऋतुकाल में स्त्री के पास अवश्य ही जाए, कारण कि कई ऋतुओं में न जाना ही उत्तम है। यहाँ केवल इतना ही अभिप्राय है कि ऋतुकाल से भिन्न काल में न जाये। यही परिसंख्या विधि है।

नामधेय

"उद्भिदा यजेत पशुकामः"=पशुओं की कामना वाला उद्भिद् (याग) से यजन करे। यहाँ 'उद्भिद्' शब्द याग का नामधेय है; किन्तु "दध्ना जुहोति"=दही से होम करे,

यहाँ जैसे दही रूप गुण (अंग) का विधान है जैसे "उद्भिदा यजेत" में किसी गुण का विधान नहीं।

नामधेय के ४ निमित्त

नामधेय मानने में ४ निमित्त होते हैं—मत्वर्थलक्षणा का भय, वाक्य भेद का भय, तत्प्रख्य शास्त्र और तदव्यपदेश। "उद्भिदा यजेत पशुकामः", यहाँ उद्भिद् शब्द से गुण का विधान नहीं हो सकता; क्योंकि याग का अलग विधान नहीं है।

मत्वर्थ लक्षण

यदि इसे गुण विशिष्ट की विधि मानें और इनका यों अर्थ करें कि उद्भिद् वाले याग से यजन करे तो यहाँ मत्वर्थलक्षणा करनी पड़ती है।

वाक्य भेद

नामधेय-लक्षण नहीं और गुण मानने में उद्भिद् शब्द की कोई प्रसिद्धि है भी नहीं; अतः 'उद्भिद्' शब्द कर्म का नामधेय है। "चित्रया यजेत पशुकामः"=पशुओं की कामना वाला चित्रा (याग) से यजन करे, यहाँ चित्रा शब्द कर्म का नामधेय है; क्योंकि यहाँ गुण का विधान नहीं हो सकता।

तत्प्रख्य शास्त्र

गुण का विधान तो "दधि-मधु-मयो-घृतं-धाता-उदकं-तंडुला-स्तत्संसृष्टं प्राजापत्यम्" में अलग ही कर दिया गया है। इसलिए गुण-विशिष्ट याग विधि नहीं बन सकता। और यदि याग का विधान फल और गुण दोनों का सम्बन्ध करें तो वाक्य भेद होता है; अतः चित्रा शब्द कर्म का नामधेय है। "अग्निहोत्रं जुहोति"=अग्निहोत्र होम करे। यहाँ 'अग्निहोत्र' शब्द कर्म का नामधेय है; क्योंकि उसका गुण कहने वाला शास्त्र (तत्प्रख्य शास्त्र) अलग है।

तदव्यपदेश

"श्येनेनाभिचरन् यजेत"=श्येन (याग) से अभिचार करता हुआ यजन करे। यहाँ 'श्येनेन' से यदि श्येन (बाज) रूपी गुण का विधान मानें तो "यथा वैश्येनो निपत्यादत्ते, एवमयं द्विषन्तं भ्रातृव्यं निपत्यादत्ते, यमभिचरति श्येनेन"=जैसे श्येन गिर कर पकड़ लेता है, उसी प्रकार वह शत्रु पर आक्रमण कर पकड़ लेता है जिसके लिए श्येन (याग) से अभिचार करता है। यहाँ उपमान श्येन पक्षी का गुण उपमेय कर्म में है; अतः 'श्येन' शब्द अभिचार कर्म का नामधेय है। यहाँ तदव्यपदेश निमित्त है। तदव्यपदेश=उससे उपमा देना।

निषेध

पुरुष का निवर्त्तक (मना करने वाला) वाक्य निषेध होता है जैसे "नानृतंवदेव" = झूठ न बोले।

अर्थवाद और उसके तीन भेद

स्तुति-परक वा निन्दा-परक वाक्य अर्थवाद होता है। जिसका विधान है उसकी उत्तमता के बोधक वाक्य, और जिसका निषेध है उसके दोषों के बोधक वाक्य अर्थवाद कहलाते हैं।

गुणवाद

अर्थवाद के तीन भेद हैं—गुणवाद, अनुवाद और भूतार्थवाद। 'आदि त्योयूपः' = यूप सूर्य है। यहाँ यूप का सूर्य होना प्रत्यक्ष बाधित है। इसलिए चमकने वाले गुण के कारण उसकी जो स्तुति की है वह गुणवाद है। 'अग्निर्हिमेष्य भेषजम्' = आग ठंढक की दवा है।

अनुवाद

आग से ठंढक का दूर होना प्रत्यक्ष सिद्ध है; अतः यह अनुवाद है। और गुणवाद और अनुवाद के अभाव में भूतार्थवाद होता है; जैसे जनक की सभा में जो ऋषियों के संवादादि वस्तुतः हुए हैं उनका कथन भूतार्थवाद है। इस प्रकार परम्परा से अर्थवाद भी धर्म में प्रवृत्ति और पाप से निवृत्ति का सहायक है।

भूतार्थवाद

वैदिक कर्म फल-कामना से किये जाने पर शुभ फलों के उत्पादक होते हैं और उनके ही द्वारा अन्तःकरण शुद्ध होकर ज्ञान का भंडार बनता है।

(६) वेदान्त-दर्शन

वेदान्त-दर्शन के प्रवर्त्तक और नाम-करण

इस दर्शन के प्रवर्त्तक बादरायण, न कि महाभारत के रचयिता कृष्ण द्वैपायन, व्यास हैं; अतः उनके नाम पर इसे वैयासिक दर्शन भी कहते हैं। पर वेदों का अन्तिम तात्पर्य बतलाने से इसे मुख्यतः वेदान्त-दर्शन ही कहते हैं।

चतुःसूत्री

जैसे पूर्व मीमांसा (मीमांसा-दर्शन) का जिज्ञास्य विषय धर्म है, वैसे ही उत्तर-मीमांसा (वेदान्त-दर्शन) का जिज्ञास्य विषय ब्रह्म है। वेदान्त-दर्शन के आदि के चार सूत्र चतुःसूत्री कहलाते हैं। इन्हीं में सामान्य रूप से वेदान्त का विचार कर दिया है; अतः सर्वप्रथम इन्हीं सूत्रों की व्याख्या पाठकों की सेवा में की जाती है जिसमें वेदान्त-शास्त्र

का तात्पर्य उन्हें सरलता से मालूम हो जाय। यह व्याख्या सभी के ग्रहण करने योग्य सूत्रों के स्वाभाविकार्थानुसार की गई है—

"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" (१।१।१) = अब यहाँ से ब्रह्म की जिज्ञासा है। चूँकि अग्निहोत्रादिकों का फल जो स्वर्गादि है वह अनित्य है; उससे जीवात्मा को शास्वत शान्ति नहीं प्राप्त होती; अतः धर्म-जिज्ञासा के अनन्तर ब्रह्म जानने की इच्छा हुई, यही सूत्र का सारार्थ है। उस ब्रह्म का लक्षण क्या है, उसे दूसरे सूत्र में बतलाते हैं।

"जन्माद्यस्य यतः" (१।१।२) = जिससे इस जगत् के जन्मादि हैं। आदि शब्द से स्थिति और प्रलय भी गृहीत होते हैं। नाम-रूपात्मक संपूर्ण जगत् का जन्म, स्थिति और प्रलय जिस सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् कारण-रूप परमेश्वर से होते हैं वह ब्रह्म है। श्रुति कहानी है—"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयंत्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म" (तै० ३।१)। अर्थ—जिससे भूत (प्राणी) उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिससे जीते हैं और जिसको प्राप्त होकर लीन होते हैं, उसकी जिज्ञासा कर। वह ब्रह्म है।

पूर्व जो कहा कि इस नाम रूपात्मक संपूर्ण जगत् का कारण परमात्मा है, उसी अर्थ को अगले (तीसरे) सूत्र में दृढ़ करते हैं।

शास्त्रयोनित्वात्" (१।१।३) = वेदादि शास्त्रों की योनि (कारण) होने से अथवा शास्त्रों के द्वारा ही ब्रह्म का साक्षात्कार होने से, निःशेष विधाओं का स्थानभूत और स्वार्थ-प्रकाशक जो ऋग्वेदादि शास्त्र हैं उनका कारण ब्रह्म के बिना अन्य कोई नहीं हो सकता; अथवा ऋग्वेदादि ही ब्रह्म सद्भाव में योनि (कारण) अर्थात् प्रमाण हो सकते हैं।

इस पर शंका होती है कि वेद यज्ञादि क्रिया तथा उपासना को बतलाते हैं और ब्रह्म सिद्ध वस्तु है; उसे वेद प्रतिपादित नहीं कर सकते। इस पूर्व पक्ष को दूर करते हैं। अगला (चौथा) सूत्र देखिए।

"तत्तुसमन्वयात्" (१।१।४)। अर्थ—जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण ब्रह्म है; कारण कि वेदान्तशास्त्र के सभी वाक्यों का तात्पर्य ब्रह्म के प्रतिपादन से सम्बद्ध है।

सांख्य मत का खंडन

सांख्यशास्त्रवादी अचेतन प्रकृति को जगत् का कारण मानते हैं, पर ब्रह्म सूत्रकार व्यास अपनी युक्तियों से उनके मत का खंडन करते हैं। इस प्रसंग में हम अपने पाठकों को यह जता देना चाहते हैं कि बादरायण व्यास स्वपक्ष के मंडन तथा परपक्ष के खंडन के लिए कोई अपनी मौलिक तथा स्वतन्त्र युक्तियों, तर्कों एवं प्रमाणों का आश्रय न लेकर

केवल श्रुतियों की ही दुहाई प्रायः दिया करते हैं। जैसे यहाँ पर जगत् की सृष्टि-विषयक सांख्य-वादियों के मत के खंडन में वे कहते हैं—"ईक्षते नी शब्दम्" (१।१।५); अर्थात् श्रुति ने 'ईक्षण' क्रिया का प्रयोग जगत् की रचना-प्रसंग में किया है, और ईक्षण चेतन का ही व्यापार है; अतः जड़ प्रकृति जगत् की रचना करने वाली नहीं मानी जा सकती। श्रुति का वचन है—"तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय" इत्यादि श्रुति में 'ईक्षण' का श्रवण हुआ है जो चेतन में ही हो सकता है, अचेतन प्रधान में नहीं ; अतः प्रकृति जो जड़ है जगत् की कर्त्ता नहीं हो सकती। पर ऐसी दलील केवल साम्प्रदायिक है और इसका निर्वाह केवल वहाँ ही हो सकता है जहाँ दोनों पक्ष एक ही सम्प्रदाय के हों और उनके प्रामाण्य-ग्रन्थ समान हों। पर जहाँ दोनों पक्ष दो भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय के हों तो ऐसी दलील कारगर नहीं हो सकती ; कारण कि इस दशा में विपक्षी वादी के प्रामाण्य-ग्रन्थों की मान्य बुद्धि से नहीं देखता। मान लीजिए कि विपक्षी बौद्ध वा जैन है तो व्यास की उक्त दलील विपक्षी के लिए कोई महत्व नहीं रखती। इतना ही नहीं ; बल्कि वादरायण ने अपने सारे ब्रह्मविषयक विचारों का समर्थन श्रुतियों से ही कराई है। श्रुतियों से उनका अभिप्राय उपनिषदों से है ; क्योंकि वे संहिताओं की तरह उपनिषदों और ब्राह्मण ग्रंथों को भी श्रुति मानते हैं। सारांश यह कि वादरायण ने उपनिषदों के ब्रह्मविषयक विचारों को ही अपने दर्शन में सूत्रबद्ध कर दिया है।

वेदान्त सूत्रकार और भगवद्गीताकार एक नहीं

वादरायण को सांख्य मत का खंडन करते देखकर हमें इस बात का पक्का प्रमाण मिल जाता है कि वेदान्त-सूत्रकार व्यास और भगवद्गीता (महाभारत) कार व्यास, दोनों दो भिन्न व्यक्ति हैं। वेदांत-सूत्रकार ने सांख्य और योग दोनों का खंडन किया है ; यहाँ तक कि वेदान्त-सूत्रकार का प्रधान शत्रु सांख्य ही है जिसका खंडन उन्होंने बहुत मार्मिक रीति से विस्तारपूर्वक किया है। सांख्यमत के खंडन को शंकराचार्य ने 'प्रधान-मल्ल-निवर्हण' कहा है और इसी प्रकार वादरायण ने अपने "एतेन योगः प्रत्युक्तः।" (२।१।३) इस सूत्र से योग का भी खंडन कर दिया है। भगवद्गीता में यह बात नहीं है। उसमें सांख्य और योग का स्वीकार किया गया है ; यहाँ तक कि सांख्य को प्रथम सम्मान दिया गया है। सारांश यह कि भगवद्गीता ने सांख्य और योग को अपनाया है, परन्तु वेदान्त-सूत्र से इन दोनों को लथेड़ा है। इससे सिद्ध होता है कि दोनों के कर्त्ता एक नहीं हो सकते, और न दोनों का समय ही एक हो सकता है। जैसे भगवद्गीता में, वैसे ही महाभारत में भी, सांख्य और योग का खंडन नहीं है, किन्तु स्वीकार है। स्थान-स्थान में उन दोनों की प्रशंसा है और सांख्य के प्रवर्त्तक कपिल को विष्णु का अवतार कहा गया है। इसके सिवा भगवद्गीता और वेदान्त-सूत्रों के वेदान्त-विषयक मतों में भी अन्तर देख पड़ता

है। अतः यह निर्विवाद रूप से सिद्ध है कि दोनों ग्रंथों के रचयिता और रचना-काल एक नहीं हो सकते, जैसा कतिपय सज्जन मान बैठे हैं।

ब्रह्म का स्वरूप

अब वेदान्त शास्त्रानुसार ब्रह्म के स्वरूप पर विचार करते हैं। अभी पूर्व में कह आए हैं कि यह सारा नामरूपात्मक जगत् ब्रह्म की ही सृष्टि है। पर ऐसा कभी नहीं समझना चाहिए कि ब्रह्म सृष्टि से कहीं अलग है, वा इसी सृष्टि में ही कहीं एक जगह बैठा हुआ है। प्रत्युत वह सृष्टि के भीतर तथा बाहर, सर्वत्र एकरस होकर व्यापक हो रहा है। वह सर्वत्र ही आंशिक रूप से नहीं बल्कि पूर्ण रूप से वर्त्तमान है। ऐसा नहीं है कि वह थोड़ा-थोड़ा करके विभक्त होकर अर्थात् बँट कर सभी जगह मौजूद है। जहाँ वह है वहाँ वह पूर्ण रूप से है। उपनिषत्कारों की ब्रह्म-विषयक ऐसी विलक्षण कल्पना मानव-मस्तिष्क के लिए सर्वथा अगोचर है। हम एक ऐसे पदार्थ की कल्पना कभी भी नहीं कर सकते; अथवा यों कहिये कि हमारी बुद्धि एक पदार्थ को समझने के लिए सर्वथा असमर्थ है जो किसी एक ही समय में, अपने पूर्ण-रूप से जो दूर रहे, अपने आंशिक रूप से भी विश्व में सर्वत्र मौजूद रहे। चौथे परिच्छेद से उपनिषद् ग्रंथों की विवेचना करते हुए ब्रह्म के स्वरूप के विषय में बहुत कुछ लिख आए हैं। वहाँ देख लीजिए।

उपनिषत्कारों के ब्रह्म विषयक और विचार

ब्रह्म के विषय में उपनिषत्कारों के विचार और भी सुनिए। बृहदारण्यक (३।७।३) कहता है—"यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीर, यः पृथिवी मन्तरोयमयत्येषत आत्माऽन्तर्याम्यमृतः।"=यह तेरी आत्मा जो पृथिवी में रह कर पृथिवी से अलग है, पृथिवी जिसको नहीं जानती, पृथिवी जिसका शरीर है, जो पृथिवी के भीतर रह कर उसका नियमन अर्थात् शासन करता है, अन्तर्यामी अमृत है। पुनश्च—"तद् यदिद माहु रमुं यजा मुंदजेत्येकैकं देवमेतस्यैव सा विसृष्टि रेष उह्येव सर्वेदेवाः" (बृहदा० १।४।६) अर्थ—इसलिये जो यह कहते हैं कि उसका याग करो, उसका याग करो, इस प्रकार एक-एक देवता का याग बतलाते हैं, वे सभी देवताएँ इसी ब्रह्म के व्यष्टि रूप हैं।

मंत्र द्रष्टा ऋषिगण ब्रह्मवादी न थे

नोट—बृहदारण्यक के इस उद्धरण से पता चलता है कि वेद मन्त्र द्रष्टा ऋषियों को एक ईश्वर या एक ब्रह्म का कुछ भी ज्ञान न था। चारों संहिताओं में कहीं पर भी आपको 'ईश्वर' वा 'ब्रह्म' शब्द नहीं मिलेगा। वे इन्द्र, वरुण, अग्नि, सोम, सविता, उषा, वायु, अश्विद्वय आदि अनेक कल्पित देव-देवियों को प्रसन्न करने के लिए नाना प्रकार के यज्ञ किया करते थे और उनसे मोक्ष वा स्वर्ग नहीं; बल्कि धन, पुत्र, अपनी जीत और शत्रुओं

का संहार आदि ऐहिक अभीष्ट पदार्थ माँगा करते थे। पर जब उनका जी उक्त कल्पित देवताओं के प्रसादनार्थ नाना-विध कर्म-काण्ड से ऊब गया तो वे ज्ञान की ओर झुके और विचारने लगे कि उन देव-देवियों के अतिरिक्त, जिनकी पूजा और अर्च्चा बड़े समारोह और श्रद्धा के साथ आज तक वे करते चले आए, कोई और भी परम देवता है या नहीं जो उनका नियंता है अथवा जो उनके द्वारा अपने को व्यष्टि रूप से व्यक्त करता है। बस, यही विचारधारा उपनिषद्वर्णित ब्रह्म विद्या की नींव डालने वाली हुई।

ब्रह्म का शुद्ध स्वरूप प्रायः निषेधात्मक शब्दों (Negative words) से वर्णन होता है, कारण कि उसका स्वरूप क्या है, यह बात तो आत्मानुभव से ही जानी जा सकती है। उपदेश केवल इतना ही हो सकता है कि इन ज्ञात वस्तुओं से उसका परे होना बतला दिया जाए जैसा कि महर्षि याज्ञवल्क्य बृहदारण्यक में गार्गी से कहते हैं—

"एतद्वैतदक्षरं गार्गि! ब्राह्मण अभिवदन्त्यस्थूल मनण्व ह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेह मच्छाय मनमोऽवाय्वनाकाशम् संगभरस मगन्धमचक्षुष्कम श्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राण ममुखम मात्रमनन्तरमबाह्य; नतदश्नातिकिंचन, नतदश्नातिकंचन" (बृह० ३।८।८)। अर्थ—हे गार्गि! इसको (ब्रह्म को) ब्राह्मण अक्षर कहते हैं। वह न मोटा है, न पतला है, न लम्बा है, न लाल है (उसमें कोई रंग नहीं), बिना स्नेह का है, बिना छाया और अँधेरे का है, वह वायु नहीं, आकाश नहीं, किसी के संग नहीं, रस और गन्ध से रहित, नेत्र और श्रोत्र से विहीन, वाणी और मन से रहित तेज (जीवन का नाप) से विहीन, प्राण, मुख और परिमाण से रहित है। न उसके भीतर कुछ है, न कुछ उसके बाहर। न वह कुछ भोगता है, न उसका भोगने वाला कोई है।

विधानात्मक शब्दों में ब्रह्म का स्वरूप

यह तो हुआ ब्रह्म के स्वरूप का विचार निषेधात्मक शब्दों के द्वारा; अर्थात् ब्रह्म यह नहीं है, वह नहीं है, इत्यादि। अब उसके स्वरूप का विचार विधानात्मक शब्दों (Affirmative words) के द्वारा करते हैं। इस प्रकार से विचार करते समय हम ब्रह्म का शुद्ध स्वरूप शुद्ध, सत्य, ज्योति, ज्ञान, आनन्द आदि शब्दों वा इन्हीं के पर्याय-वाची शब्दों के द्वारा ही बोधित करते हैं; जैसे "शुद्धमपापविद्धम्" (ईशोपनिषद् ८); अर्थात् ब्रह्म शुद्ध और पाप से अविद्ध है। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म (तैत्तिरीय २।१।१); अर्थात् ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है। "तच्छुभ्रं ज्योतिषांज्योति (मुंडक २।६); अर्थात् वह शुभ्र (शोभने वाला वा सुन्दर) और ज्योतियों की भी ज्योति है। "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" (बृहदारण्यक ३।६।२८) अर्थात् ब्रह्म विज्ञान और आनन्द है। सारांश यह कि ब्रह्म सब कुछ है तथा कुछ भी नहीं है। यदि ब्रह्म के विषय में इस प्रकार की परस्पर-विरोधी दो, एक दूसरे से ठीक प्रतिकूल धारणाएँ हैं तो ब्रह्म की सत्ता में ही सन्देह उत्पन्न हो

जाता है क्योंकि इन धारणाओं से यही परिणाम निकलता है कि ब्रह्म एक ऐसी कल्पित वस्तु है कि उसके विषय में जो कुछ कह दो सो ठीक ही है।

ब्रह्म की शक्तियाँ

अब ब्रह्म की शक्तियों पर विचार किया जाता है। वेदान्त-सूत्र (२।१०।३०) बतलाता है—"सर्वोयतो च तद्दर्शनात्" अर्थात् ब्रह्म सारी शक्तियों से युक्त है क्योंकि श्रुति में उसका ऐसा वर्णन देखा जाता है। "सत्य संकल्प" (छान्दोग्य, ३।१४।१); अर्थात् ब्रह्म सत्य-संकल्प है। "सर्वकर्मा" (छान्दोग्य ३।१४।४); अर्थात् ब्रह्म संपूर्ण रचना करने वाला है। "यः सर्वज्ञः सर्ववित्" (मुण्डक १।६) अर्थात् जो सबको जानता है और सबको समझता है। "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! सूर्या चन्दमसौ विधृतौ तिष्ठतः" (बृह० ३।८।६) अर्थ—हे गार्गि ! उस अविनाशी के जबरदस्त हुकूमत में सूर्य और चन्द्र अपनी-अपनी मर्यादा में खड़े हैं। इस प्रकार की श्रुतियाँ बतलाती हैं कि परम ब्रह्म में सारी शक्तियाँ मौजूद हैं।

शंका ब्रह्म निरिन्द्रिय होने से कुछ कर नहीं सकता

इस पर एक प्रतिवादी कहता है कि जैसे मनुष्य ज्ञानेन्द्रियों से जानता है और कर्मेन्द्रियों से कर्म करता है और इन दोनों प्रकार के इन्द्रियों के बिना चेतन आत्मा न जान सकता है और न कर्म ही कर सकता है, वैसे ही ब्रह्म भी चेतन और आत्मा है; अतः उसको भी जानने के लिए ज्ञानेन्द्रियों की और कर्म करने के लिए कर्मेन्द्रियों की अवश्य जरूरत है। पर उपनिषद् कहती है—"अचक्षुष्क मश्रोत्रमवागमन" इत्यादि (बृ० ३।८।८) अर्थात् उसका न नेत्र है, न श्रोत्र है, न वाणी है, न मन है इत्यादि। इसी प्रकार श्वेताश्वनरोपनिषद् कहती है—"न तस्य कार्यं कारणं चविद्यते" (श्वेता० ६।८) अर्थात् न कोई उस ब्रह्म का कार्य है और न कोई इन्द्रिय है। इसलिए जब उसके कोई इन्द्रिय ही नहीं तो वह सर्व-शक्तिमान् होता हुआ भी कोई व्यापार नहीं कर सकता। इस आक्षेप का उत्तर खुद उक्त उपनिषद् ही देती है—

> अपाणि-पादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः सश्रृणोत्यकर्णः।
> सवेत्ति वेद्यं न च तस्यास्तिवेत्ता नमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्नम्॥
>
> (श्वेता० ३।१६)

अर्थ—वह ब्रह्म बिना हाथ का होता हुआ भी पकड़ता है; बिना पैर का होता हुआ भी शीघ्र चलता है ; बिना आँख का होता हुआ भी देखता है और बिना कान का होता हुआ भी सुनता है। जो वस्तु जानने योग्य है वह उसे जानता है; पर उसका जानने वाला कोई नहीं है। पण्डितगण उसे परमपुरुष और परमात्मा कहते हैं।

यह श्रुति इन्द्रियों से रहित ब्रह्म में सारी शक्तियों का सम्बन्ध दिखला देती है। और यह कोई नियम नहीं है कि सभी का सामर्थ्य एक सा हो। भले ही हम बिना इन्द्रियों के कोई व्यापार न कर सकें ; पर परमात्मा के व्यापार इन्द्रिय-निरपेक्ष हैं। यह उसका लोकोत्तर सामर्थ्य है। यह उसकी विशेषता है। और हम भी तो कितने काम बिना इन्द्रियों की सहायता से कर लेते हैं। जैसे यदि हमें अपना हाथ हिलाना हुआ अथवा चलने के लिए कदम बढ़ाना हुआ तो हम इन क्रियाओं को बिना किसी इन्द्रिय की सहायता से, केवल अपनी आत्मा की निजी शक्ति से कर लेते हैं। इसी प्रकार परमात्मा प्रत्येक पदार्थ के भीतर व्यापक होकर सीधे तौर पर उसमें क्रिया उत्पन्न कर सकता है। उसको किसी इन्द्रिय की आवश्यकता ही नहीं ; क्योंकि उसको किसी ऐसी जगह काम नहीं करना है जिसके भीतर अन्तर्यामी आत्मा के तौर पर वह स्वयं विद्यमान न हो। इसलिए निःसन्देह वह सारी क्रियाओं को बिना इन्द्रियों के ही करने में पूर्णतः समर्थ है और अन्य सारी शक्तियाँ उसकी ही शक्ति का आश्रय लेकर काम करती हैं ; अतः वह सर्व-शक्तिमान् है।

माया का स्वरूप

अब माया क्या है, इस पर विचार करते हैं। साधारण विचारानुसार सांख्यवादियों की जैसी प्रकृति है, वैसी ही ब्रह्मवादियों (वेदान्तियों) की माया है। माया जगत् का उपादान कारण है जो ब्रह्म के अधीन है। इसी को उपादान बनाकर ब्रह्म जगत् की रचना किया करता है। माया की तरह चेतन जीव भी उसी ब्रह्म के अधीन है। वह दोनों का अधिपति है ; दोनों पर शासन करता है जैसा कि श्वेताश्वतर में कहा है—

"क्षरं प्रधान ममृताक्षरं हरः क्षरात्मना वीशतेदेव एकः।
तस्याभिध्यानाद् योजनात् तत्त्वभावाद् भूयश्चान्ते विश्वमाया निवृत्तिः॥

अर्थ—प्रधान (प्रकृति वा माया) परिवर्त्तनशील है। पुरुष अमर और अपरिवर्त्तन-शील है। ब्रह्म ही एक देव क्षरणशील प्रकृति और पुरुष पर शासन करता है। उस देवता के ध्यान से, उसमें जुट जाने से और उसमें तन्मय हो जाने से फिर अन्त में सारी माया हट जाती है। यहाँ पुरुष शब्द से जीवात्मा का अभिप्राय है। पुनश्च "प्रधान क्षेत्रज्ञपतिर्गुणेश्चः" (श्वे० ६।१६)=वह प्रकृति और पुरुष का मालिक और गुणों पर शासन करता है।

जीव का स्वरूप

अब जीव का स्वरूप बतलाते हैं। शरीर के भीतर जो चेतन-शक्ति है उसी का नाम जीव है। यह शरीर से भिन्न है। वेदान्त-सूत्र २।३।१७ कहता है—"नात्माऽश्रुतेर्नित्य-त्वाच्चनाभ्यः"। अर्थ—आत्मा जन्मता-मरता नहीं ; क्योंकि उसका जन्म-मरण बतलाने

वाली कोई श्रुति नहीं ; बल्कि श्रुतियों से वह नित्य सिद्ध होता है। छान्दोग्योपनिषद् (६।११।३) कहती है—"जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते।" अर्थ—जीव से परित्यक्त यह (शरीर) मरता है ; न कि जीव मरता है। पुनश्च—"न जायते म्रियते वा विपश्चित्" (कठोपनिषद् २।१८) अर्थ—यह जानने वाला जीवात्मा न जन्मता है और न मरता है। अतः जब आत्मा नित्य है तो जन्म-मरण से शरीर का ही जन्म-मरण अभिप्रेत है ; अर्थात् शरीर ही जन्मता और मरता है, न कि जीवात्मा, यही समझना चाहिए। बृहदारण्यक (४।३।८) देखिये—"सवा अयं पुरुषा जायमानः शरीर मभिसम्पद्यमानः ······स उत्क्रामन् म्रियमाणः"। अर्थ—यह पुरुष जब जन्मता है अर्थात् शरीर धारण करता है······जब मरता है अर्थात् शरीर से निकलता है। कहने का तात्पर्य यह कि जीवात्मा का शरीर धारण करना ही जन्मना और शरीर से उसका निकल जाना ही उसका मरना है; वस्तुतः वह न जन्मता है, न मरता है; यह केवल शरीर-परिवर्त्तन किया करता है।

जीव अणु है

अब जीव का अणुत्व दिखलाते हैं। वेदान्त-सूत्र (२।३।१९) कहता है—"उत्क्रान्ति गत्यागतीनाम्"। अर्थ—इस शरीर से निकलना (उत्क्रान्ति), परलोक में जाना (गति) और पुनः परलोक से इस लोक में आना (आगति), ये तीनों व्यापार अणु में ही बन सकते हैं, विभु में नहीं और जो मध्यम परिमाण वाला है अर्थात् जो न विभु है, न अणु वह नित्य नहीं हो सकता और जीवात्मा नित्य है ; अतः वह अणु ही है। वेदान्त-सूत्र (२।३।२२) कहता है—"स्वशब्दोन्मानाभ्यांच"। अर्थ—अपने शब्द (स्वविषयक श्रुति) और माप से भी जीव अणु है। श्रुति—"एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदित व्योयस्मिन् प्राणः पञ्चधासंविवेश" (मुण्ड० ३।१।९) अर्थ—यह अणु आत्मा चित्त से जानने योग्य है, जिसमें प्राण पाँच प्रकार से (पाँच इन्द्रियों के रूप में) प्रविष्ट हुआ है। यहाँ इन्द्रियों के सम्बन्ध से जीव को ही अणु कहा है। माप—"वालाग्र शतभागस्य शतधा· कल्पितस्यच। भागोजीवः सविज्ञेयः सचानन्त्याय कल्पते" (श्वेता० ५।९) अर्थ—बाल की नोंक का जो सवाँ भाग है, उसके सौ (१००) टुकड़े किए जायँ तो उसका एक टुकड़ा-परिमित जीव को जानना चाहिए। उसको अनन्त समझना चाहिए ; अर्थात् वह नित्य है।

जीव कर्त्ता है

जीव कर्त्ता है जैसा कि वेदान्त-सूत्र (२।३।३३) "कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्" स्पष्टतः कहता है;क्योंकि वह शास्त्र का प्रयोजन वाला है। यदि जीव को कर्त्ता न मानोगे तो 'यजेत' (याग करे), 'जुहोति' (होम करे), 'दद्यात्' (दान देवे), इत्यादि विधि

शास्त्र और 'नसुरां पिबेत्' सुरा न पिये इत्यादि निषेधशास्त्र निष्प्रयोजन हो जायँगे। जब वह कर्त्ता ही नहीं तो कर्त्तव्य का उपदेश उसके लिए क्यों हो? और श्रुति साक्षात् उसको कर्त्ता भी बतलाती है। प्रश्नोपनिषद् (४।९) कहती है—"एष हि द्रष्टा स्पृष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता वोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः" अर्थ यह विज्ञानात्मा पुरुष अर्थात् जीव देखने वाला, छूनेवाला, सुननेवाला, सूँघनेवाला, स्वाद लेने वाला, मनन करने वाला, समझने वाला और कर्त्ता है।

सभी जीवों का स्वरूप एक सा है

जीव जैसा मनुष्य में है, वैसा ही कीड़े-मकोड़े में है। उसके स्वरूप में कोई भेद नहीं होता। एक ही जीव अपने भले-बुरे कर्मों के अनुसार कभी कीड़े-मकोड़े का और कभी मनुष्य का शरीर पाता है। भेद केवल शरीर में होता है न कि जीव के स्वरूप में।

जीवों का कर्मानुसार शरीर-धारण

पाप कर्म करने वाले जीव कीड़े-मकोड़े, पशु-पक्षियों की योनि, पुण्य कर्म करने वाले देवताओं की योनि तथा वे जीव जिनके कर्म में पाप-पुण्य दोनों मिले-जुले रहते हैं, मनुष्य की योनि पाते हैं। इन त्रिविध योनियों में केवल मनुष्य-योनि ही कर्म-योनि है और शेष दो योनियाँ केवल भोग-योनियाँ हैं। जीव मनुष्य योनि में आकर अपने कर्मों का जिम्मेवार बनता है; कारण कि वह उसका कर्म योनि है और इसी (मनुष्य) योनि में किये हुए अपने कर्मों के अनुसार उसको अगला जन्म मिलता है। मनुष्येतर योनियों में जीव अपने कर्मों को केवल भोगता है; पर जो कुछ उन योनियों में वह करता है उसका वह जिम्मेवार नहीं होता।

देवयान और पितृयाण

पुण्यात्माओं की दो गतियाँ कही गई हैं—देवयान और पितृयाण। जो पुण्यात्मा जब उपासना द्वारा ब्रह्म को साक्षात् कर चुके रहते हैं वे मरकर ब्रह्म लोक को प्राप्त करते हैं जहाँ से वे फिर इस कल्प में वापस नहीं आते। यही देवयान है। और पितृयाण उन लोगों का होता है जो इस लोक में वैदिक यज्ञों का अनुष्ठान विधिपूर्वक करते हैं और उन्हीं यज्ञों का फलस्वरूप मरकर चन्द्रलोक को प्राप्त करते हैं। चन्द्रलोक ही स्वर्ग लोक है जहाँ वे अपने सुकृत कर्मों को भोग कर फिर मनुष्य लोक में वापस आकार नया जन्म पाते हैं। सारांश यह कि ज्ञानकाण्ड के उपासकों का देवयान और कर्मकाण्ड के उपासकों का पितृयाण होता है।

देवयान और पितृयाण का सविस्तार वर्णन छान्दोग्य (५।३) वृहदारण्यक (६।२) और कौषीतकि (१।२) में है। और वेदान्त-दर्शन के तीसरे अध्याय के प्रथम पाद में

पितृयाण-सम्बन्धी अनेक विधि-विचार दिखलाए हैं। एवं उसके चौथे अध्याय के दूसरे और तीसरे पाद में देवयान मार्ग का विस्तार-पूर्वक वर्णन किया गया है।

प्रश्नोपनिषद् (५।५) कहती है—"यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यते एवं हवैस पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात् परात् परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते।" अर्थ—जो इस तीन मात्रा (अ, उ, म्) वाले अक्षर (ओम्) से परम पुरुष का ध्यान करे वह तेजोमय सूर्यलोक को प्राप्त होकर, जैसे साँप केंचुली से मुक्त होता है वैसे ही वह पाप से मुक्त हो जाता है। उसे साम-मन्त्र उठाकर ब्रह्मलोक को पहुँचा देते हैं और वहाँ वह सबसे परे जो ब्रह्मा (हिरण्यगर्भ) हैं उनसे भी परे उस परम पुरुष को, जो सारे ब्रह्माण्ड में स्थित है, देखता है। वेदान्त-सूत्र (४।३।१०) कहता है—"कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात्।" अर्थ—जब कार्य ब्रह्मलोक का प्रलय प्राप्त होता है तब मुक्तजीव सम्यक् ज्ञान से सम्पन्न होते हुए उस ब्रह्मलोक के अध्यक्ष हिरण्यगर्भ के साथ उस लोक से भी परे विष्णु के शुद्ध लोक में पहुँचते हैं; क्योंकि श्रुति में इसका अभिधान अर्थात् कथन हुआ है।

तैत्तिरीयोपनिषद् (२।४) बतलाती है—"यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन।" अर्थ—जहाँ से वाणियाँ बिना पहुँचे हुए मन के साथ लौट आती हैं, उस ब्रह्म के आनन्द का अनुभव करने वाला सदा के लिए अभय हो जाता है।

श्वेताश्वतर (२।१४-१५) देखिये—"यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत्सुधातम्। तद्वाऽऽत्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः ॥१४॥ यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्। अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वै विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्व पाशैः ॥१५॥

अर्थ—जैसे मिट्टी से लिपटा हुआ कोई रत्न ठीक तरह से धो देने पर तेजोमय होकर चमकने लगता है, वैसे ही मनुष्य आत्म-तत्त्व को देख लेने से शुद्ध होकर कृतार्थ और शोक-रहित हो जाता है ॥१४॥ फिर जब समाधियुक्त होकर आत्म-तत्त्व के दीपक से अजन्मा, अटल और सभी तत्त्वों से विशुद्ध ब्रह्मतत्त्व को देखता है, तब वह इस देव (ब्रह्म) को जानकर सभी फाँसों से छूट जाता है।

मुक्त जीव का ऐश्वर्य

अब मुक्त जीव के ऐश्वर्य पर विचार करते हैं। मुक्त जीव सत्यकाम और सत्यसंकल्प हो जाता है। वेदान्त-सूत्र (४।४।८) कहता है—"संकल्पादेवतुतच्छ्रुतेः।" अर्थ—मुक्त जीव के संकल्प से ही सब कुछ हो जाता है क्योंकि श्रुति ऐसा ही कहती है।

छान्दोग्योपनिषद् (८।२।१०) पढ़िए—"यंयमन्त्रमभिकामो भवति यं कामं कामयते सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन संपन्नो महीयते।" अर्थ—जिस-जिस अर्थ को वह प्यार करता है, जिसको वह चाहता है, वह उसके संकल्प से ही प्रकट होता है और वह उससे सम्पन्न होकर आनन्द भोगता है।

अपनी कामना में संकल्प से भिन्न उसको किसी के अधीन नहीं होना पड़ता। वेदान्त-सूत्र (४।४।६) पढ़िए—"अतएव चा नन्याधिपतिः"। अर्थ—अवन्ध्य संकल्प होने से मुक्तजीव अनन्याधिपति होता है; अर्थात् उसका अन्य कोई अधिपति नहीं होता। छन्दोग्य (७।२५।२) देखिए—"सस्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु काम चारो भवति"। अर्थ—वह स्वतन्त्र अधिपति बन जाता है। वह सभी लोकों में यथेच्छाचारी होता है; अर्थात् अपनी इच्छा से चाहे जिस लोक में चला जाता है। उसकी कहीं रुकावट नहीं है।

जगत की रचना आदि छोड़कर उसके अन्य ऐश्वर्य स्वतन्त्र

शंका—जब मुक्त पुरुष सत्य-संकल्प है तो जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय भी उसके संकल्प के अधीन हो जाएँगे। इस दशा में कोई एक ईश्वर कर्त्ता, धर्त्ता और संहर्त्ता नहीं ठहर सकता। समाधान—जगत् के रचना आदि जो ईश्वर के व्यापार हैं उनमें मुक्त जीव ईश्वर नहीं होता, जैसा कि जगद्व्यापाराधिकरण में निर्णय किया गया है। वेदान्त-सूत्र (४।४।१७) पढ़िए—"जगद्व्यापार वर्ज्जं प्रकरणाद सन्निहितत्वाच्च।" अर्थ—जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय, इन तीन व्यापारों को छोड़कर मुक्त पुरुषों के अन्य सभी अणिमादि ऐश्वर्य स्वतन्त्र होते हैं; पर सृष्टि आदि ईश्वराधीन रहते हैं, क्योंकि जहाँ कहीं जगत् की रचना आदि का वर्णन है वहाँ ईश्वर का ही प्रकरण है और मुक्त पुरुषों की वहाँ कोई सान्निधि नहीं है। मुक्तजीव को सृष्ट्यादि-विषयक अनधिकार कामना नहीं होती। वेदान्त-सूत्र (४।४।२१) कहता है—"भोगमात्रसाम्यलिंगाच्च।" अर्थ—केवल आनन्द का भोगमात्र मुक्तजीव और ईश्वर के बीच समता का चिन्ह है और कुछ नहीं। तैत्तिरीय (२।१) देखिए—"सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता"। अर्थ—मुक्तजीव सर्वज्ञ ब्रह्म के साथ सारी कामनाओं को भोगता है।

वेदान्तियों में मतभेद

उपनिषदों का मर्म समझने में जो दार्शनिकों में मतभेद उत्पन्न हुआ है उसका भी दिग्दर्शन पाठकों को करा देना परमावश्यक है। जिन अंशों में मतभेद उत्पन्न हुआ है उन्हें उन्होंने उपनिषदों की अपनी-अपनी व्याख्याओं में स्पष्ट कर दिया है। यह मतभेद प्रायः इस विषय में है कि जीव और ब्रह्म में भेद है वा अभेद, और जगत् मिथ्या है वा सत्य। उपनिषदों में जगत् जीव, ईश्वर तथा जगत् का उपादान भूत प्रकृति (माया)

का भी वर्णन है, जिससे जीव, ईश्वर और जगत् का भेद और तीनों का सत्य होना प्रतीत होता है।

मतभेद का कारण

उपनिषदों में ऐसे भी वचन हैं जिनमें जीव और ईश्वर का अभेद पाया जाता है, जैसे- "तत्वमसि" अर्थात् वह तू है (छन्दोग्य ६।८।६) इत्यादि। एवं ऐसे भी वचन हैं जिनमें सृष्टि से पहले एक ब्रह्म के अतिरिक्त किसी दूसरे का न होना पाया जाता है, जैसे "सदेव सोम्ये दमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" (छान्दोग्य ६।२।१); अर्थ—हे सोम्य ! यह सत् ही बिना किसी दूसरे के पहले था। पुनः ऐसे भी वचन हैं जिनमें सब कुछ ब्रह्म ही कहा गया है, जैसे "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (छन्दोग्य ३।१४।१); अर्थ—यह सब ब्रह्म है इत्यादि। अतः इन उभयविध वाक्यों को देखकर यह संशय होता है कि उपनिषदों का तात्पर्य अभेद में है वा भेद में। यदि अभेद में है तो भेद-वाक्यों का अभिप्राय क्या है ? और यदि भेद में है तो अभेद वाक्य किस अभिप्राय से कहे गए। इसी के निर्णय करने में मतभेद हुआ है। इन भिन्न-भिन्न मतों को एक दूसरे से पृथक् करने के लिए ये नाम दिये गये हैं—(१) द्वैतवाद, (२) अद्वैतवाद, (३) विशिष्टाद्वैतवाद, (४) शुद्धाद्वैतवाद और (५) द्वैताद्वैतवाद।

(१) द्वैतवाद—ब्रह्म और जीव दोनों चेतन होते हुए भी एक दूसरे से भिन्न हैं। ब्रह्म विभु, सर्वज्ञ और सर्वशक्ति है; पर जीव अणु, अल्पज्ञ और अल्पशक्ति है। मुक्तावस्था में जीव ब्रह्म के परम सदृश, अर्थात् शोकमोहादि से रहित और सत्य संकल्प तो हो जाता है, पर ब्रह्म रूप नहीं हो जाता, अर्थात् अपना भेदात्मक स्वरूप नहीं खो देता। माया वा प्रकृति भी, जो ब्रह्म की एक शक्ति है और यह जगत जो माया का कार्य है, दोनों सद्रूप हैं। हम जगत को मिथ्या नहीं कह सकते क्योंकि इसे हम प्रत्यक्ष देखते हैं। यह मत अन्य मतों की अपेक्षा सरल और सुबोध है। इसमें दुर्बोध कल्पनाओं की जटिलता नहीं है। स्वामी दयानन्द और उनके अनुयायी इसी मत को मानते हैं।

(२) अद्वैतवाद—यह मत शंकराचार्य का है। इस मत के अनुसार जो कुछ यह नाना रूप प्रतीत हो रहा है, वस्तुतः वह एक है।

ब्रह्म ही एक परमार्थ सत्ता है

वास्तव में एक ही परमार्थ सत्ता है जिसको ब्रह्म वा परमात्मा कहते हैं। वह शुद्ध चैतन्य वा शुद्ध ज्ञान है; अर्थात् ब्रह्म जानने वाला नहीं, किन्तु ज्ञान-स्वरूप है। वह निर्विशेष है; अर्थात् जो कुछ है वह आप ही है। उसमें कोई गुण वा धर्म नहीं; अतः वह निर्गुण या निर्धर्म है।

प्रपंच भ्रान्ति मात्र और माया-जन्य है

पर ब्रह्म यदि केवल सन्मात्र है; उसमें कोई भी धर्म नहीं और सिवा उसके और कुछ है ही नहीं, तो यह सारा प्रपंच कहाँ से आ गया, जिसे हम अपनी चारों ओर देख रहे हैं और जिसमें हम भी अपनी एक अलग सत्ता रखते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर शंकराचार्य यों देते हैं कि ब्रह्म के साथ आदि काल से एक विशेष शक्ति है जिसको माया वा अविद्या कहते हैं। यह सारा प्रपंच इसी से दिखलाया जाता है। इस शक्ति को न सत् कह सकते हैं न असत्। सत् इसलिए नहीं कि यह ब्रह्म की तरह कोई वास्तविक सत्ता नहीं है, क्योंकि ज्ञान के उदय होने पर इसका नाश हो जाता है। और असत् इसलिए नहीं कि यह किसी न किसी प्रकार इस प्रपंच को प्रकट कर देती है; अतः अभाव-रूप भी नहीं। वस्तुतः यह माया उस भ्रान्ति का अनिर्वचनीय कारण है जिससे आक्रान्त होकर हम अपने चारों ओर जड़-चेतन की विविध सृष्टि देखते रहते हैं। ब्रह्म इस शक्ति के द्वारा जड़-चेतन की विविध सृष्टि ठीक वैसे ही दिखलाता है जैसे कोई ऐन्द्रजालिक अपनी माया शक्ति से नाना प्रकार के तमाशे दिखलाता है जो केवल भ्रान्ति-मात्र हैं; अर्थात् वैसे वे देख पड़ते हैं।

माया के सम्बन्ध से ब्रह्म को प्रायः ईश्वर कहते हैं। ईश्वर की इच्छा से माया में परिणाम होता है और उससे यह सारा नाम रूपात्मक जगत् प्रकट होता है। पंच महाभूत, निःशेष भौतिक पदार्थ, शरीर और इन्द्रिय, सभी माया के परिणाम हैं। शरीर जो परस्पर भिन्न प्रतीत होते हैं, माया के रूप हैं और इनमें जो चेतन है वही ब्रह्म है जो माया के फेर में पड़कर अपने असली रूप को भूल गया है और अपने को अन्य सभी जीवों से, जो वस्तुतः ब्रह्म के ही रूप हैं, अलग मान बैठा है।

माया-वश ब्रह्म अपने को जीव मानता है

इस जीव को माया ने इस प्रकार धर दबाया है कि यह उन शरीर, इन्द्रिय और अंतः-करण नामधारी उपाधियों को जो वस्तुतः माया के कार्य हैं, अपने आप समझ बैठा है और उनके धर्मों को मान लेता है। मोटा और दुबला शरीर होता है न कि आत्मा; पर यह कहता है कि मैं मोटा हूँ, मैं दुबला हूँ इत्यादि। इसी प्रकार अन्धे और बहरे इन्द्रिय (आँख और कान) होते हैं न कि आत्मा; पर यह कहता है कि मैं अन्धा हूँ, मैं बहरा हूँ इत्यादि।

माया में भूला हुआ जीव अपनी उपाधियों को आप समझता है

शोक और चिन्ता अन्तःकरण के धर्म हैं, पर यह अन्तःकरण तो अपने आप समझ कर कहता है कि मैं शोक में हूँ, मैं चिन्ता में हूँ इत्यादि। इस अध्यास (Wrong Supposition) के कारण यह आत्मा जो वस्तुतः शुद्ध स्वरूप और अनन्त है, एक सीमा में आ जाता है जिससे वह अल्पज्ञ, अल्पशक्ति, कर्त्ता, भोक्ता आदि बन जाता है।

वह अपने कर्मों द्वारा पुण्य और पाप का संचय करता और ईश्वर की मर्यादा में उनके शुभाशुभ फल भोगता है।

मोक्ष-वर्णन

अपने कर्म-फलों को भोगने के लिए बार-बार जन्म लेना और मरना पड़ना है; अर्थात् एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जाता रहता है और यह सिलसिला तब तक जारी रहता है जब तक अज्ञान का नाश नहीं हो जाता। अज्ञान के नाश और ज्ञान के उदय होने पर आत्मा शरीर-बन्धन से मुक्त होकर मोक्षावस्था में चला जाता है।

यही अद्वैतवाद है। इस वाद में केवल ब्रह्म ही एक सत् पदार्थ माना गया है और द्वैत को यहाँ तक दूर किया गया है कि ब्रह्म में कोई गुण भी नहीं माना गया है; क्योंकि ऐसा मानने पर एक गुण और दूसरा गुणी दो बन जाएँगे।

(३) विशिष्टाद्वैतवाद। यह मत स्वामी रामानुज का चलाया हुआ है। बाहर के विषय (पदार्थ), शरीर और इन्द्रिय, ये अचित् (जड़) जड़ हैं। इस अचित् शरीर का आत्मा जो चित् (चेतन) है, प्रत्यगात्मा या जीवात्मा है। वह अपने स्वरूप और स्वभाव से शरीर से अत्यन्त विलक्षण है। और परमात्मा इन दोनों से भी अत्यन्त विलक्षण है। वह इन दोनों में व्यापक और दोनों का आधार और नियन्ता है तथा सर्वज्ञ और सर्वशक्ति है। वह अनन्त कल्याण-गुणों से युक्त है। उसी को ब्रह्म, पुरुषोत्तम, नारायण, परमेश्वर आदि कहते हैं।

चित् और अचित् परमात्मा के शरीर हैं

चित् और अचित् दोनों परमात्मा के शरीर हैं, जैसा कि बृहदारण्यक के अन्तर्यामी ब्राह्मण (३।७) में कहा है। सारा बाह्य जगत्, शरीर और आत्मा, ये सब परमात्मा के शरीर हैं और वह इनका अन्तर्यामी आत्मा है। ये चित् और अचित् सदा अपने विशेष रूप में रहते हैं। ये कभी परमात्मा के रूप में लीन नहीं होते।

कारणावस्था में यह नाम-रूप का भेद जो अब दीखता है, नहीं होता; किन्तु सारा जगत् प्रकृतिमय रहता है। इसी अवस्था को अव्यक्त कहते हैं। चेतन आत्माओं में ज्ञान की शक्ति होते हुए भी उनके ज्ञान का संकोच हो जाता है; अतएव वे किसी भी दूसरे पदार्थ को उस समय नहीं जानते। पर कार्यावस्था में ये दोनों बातें बदल जाती हैं। जगत् अव्यक्तावस्था से व्यक्तावस्था में जाता है और सभी पदार्थ अपने-अपने अलग-अलग नाम-रूप को धारण करते हैं। चेतन आत्मा शरीर को धारण करते हैं और उनके ज्ञान का विकास होता है। ये दोनों चित् अचित् दोनों ही अवस्थाओं में परमात्मा के शरीर और परमात्मा उनका अन्तरात्मा बना रहता है।

मोक्ष का स्वरूप

मोक्ष में जीवात्मा ब्रह्म को प्राप्त होता है और 'ब्रह्म के सदृश, न कि ब्रह्म-रूप हो जाता है; क्योंकि कोई भी द्रव्य अपने रूप को त्याग कर दूसरे का रूप नहीं धारण कर सकता।

चित्, अचित् परमात्मा के शरीर हैं—प्रकार हैं—विशेषण हैं और परमात्मा इन विशेषणों से विशिष्ट है। सूक्ष्म चित् अचित् रूपी शरीर विशिष्ट परमात्मा कारण और स्थूल चित् अचित् रूपी शरीर विशिष्ट परमात्मा कार्य है। इस प्रकार चित् अचित् से विशिष्ट रूप में ब्रह्म का वर्णन करने से दूसरी वस्तु नहीं रह जाती। इस विशिष्ट रूप में अद्वैत मानने से यह मत विशिष्टाद्वैत कहलाता है।

(४) शुद्धाद्वैतवाद—इस मत के प्रवर्त्तक वल्लभाचार्य हैं। "तदात्मानं स्वमकुरुत" (उसने स्वयं अपने आप को बनाया) इत्यादि, तैत्तिरीयोपनिषद् के इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि प्रपंच शुद्ध ब्रह्म का कार्य है और "आत्मैवेदंसर्वम्" (आत्मा ही यह सब कुछ है)।

प्रपंच न मायाजन्य है न ब्रह्म भिन्न है

"पुरुष एवेदंसर्वम्" (पुरुष ही यह सब कुछ है) इत्यादि प्रमाणों से सारा प्रपंच ब्रह्मरूप है अतः प्रपंच न मायाजन्य है, न ब्रह्म भिन्न है; बल्कि सत्य होने से आविर्भाव-तिरोभावशाली है, न कि उत्पत्ति-विनाश वाला। जो कुछ यह है, सब ब्रह्म का ही रूप है। कहा भी है "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"; अर्थात् सब कुछ ब्रह्म ही है। तापनीय में स्पष्ट कहा गया है "सर्वं सर्वमयम्"; अर्थात् प्रत्येक वस्तु सर्वमय है। शंका—जब सब कुछ सर्वमय है तो घट से ही वस्त्र का काम निकल जाना चाहिए।

सभी सब कुछ है

समाधान—घट सर्वमय है; पर उसमें कई धर्मों का आविर्भाव है तो कई धर्मों का तिरोभाव भी है। चूँकि घट में वस्त्र के धर्मों का तिरोभाव है, अतः उससे वस्त्र का कार्य नहीं निकलता। उदाहरणवत् रूई से भी वस्त्र का कार्य नहीं निकलता; क्योंकि अभी उसमें वस्त्र के धर्म तिरोहित हैं। *इस प्रकार सब ही सर्व-रूप हैं; सब ही सर्वत्र* विद्यमान हैं; अतः सभी ब्रह्म हैं यही शुद्ध अद्वैत ब्रह्मवाद है।

पदार्थों में उत्पत्ति, विनाश, परस्पर भेदभाव आदि जो प्रतीत होते हैं वे केवल अविद्या-जन्य हैं। सारा प्रपंच ब्रह्मरूप है; अतः सत्य है। केवल उसके भान में भेद होता है। एक ही श्वेत वस्त्र शुद्ध आँख वाले को अपने असली रूप-रंग में भासता है। पर हरे चश्मे वाले को उसका आकार तो वही रहता है, पर वह रंग में हरा भासता है। यह

रहस्य समझदार व्यक्ति को मालूम रहता है; पर अबोध बालक को नहीं। समझदार व्यक्ति जानता है कि हरा रंग चश्मे का है, वस्त्र का नहीं; पर अबोध बालक वस्त्र को ही हरा समझ लेता है। इसी प्रकार तत्त्वज्ञानी अविद्या का चश्मा उतार कर इस प्रपंच को ठीक ब्रह्मरूप में देखता है।

जीव की तीन अवस्थाएँ

जीव ब्रह्म से अभिन्न, अणु और ब्रह्म का अंश है। उसकी तीन अवस्थाएँ होती हैं— शुद्ध, सांसारी और मुक्त।

जब जीव ब्रह्म से, अग्नि से चिनगारी की तरह निकलता है, तो उसका आनन्द अंश तिरोभूत हो जाता है और वह केवल सच्चित् रूप हो जाता है, यही शुद्ध जीव है। अभी इस पर अविद्या नहीं आई है।

पुनः परमात्मा की इच्छा से देह, इन्द्रिय और अन्तःकरण के साथ इसको आत्मत्व का अध्यास उत्पन्न होता है और यह अपने स्वरूप को भूल जाता है। फिर इष्ट अनिष्ट कर्म करने से उनके फलों को भोगता है, यही सांसारी जीव है।

फिर परमात्मा की कृपा से सत्संगादि द्वारा ज्ञान प्राप्त कर परमानन्द स्वरूप मुक्ति का लाभ करता है। यही मुक्त जीव है।

(५) द्वैताद्वैतवाद

(५) द्वैताद्वैतवाद इसके प्रवर्त्तक नियमानन्दाचार्य हैं। शरीरादि अचेतन हैं। इनसे अत्यन्त विलक्षण जीवात्मा चेतन और अणु है। इन दोनों से भी अत्यन्त विलक्षण परमात्मा चेतन और सर्वव्यापक है। इसलिए इन तीनों का स्वरूप भेद वास्तविक है। जहाँ-जहाँ भेद का वर्णन है वहाँ-वहाँ वह इसी वास्तविक भेद के अभिप्राय से है।

भेद और अभेद का वास्तविक अभिप्राय

इन तीनों में ब्रह्म स्वतन्त्र सत्ता वाला है, जड़ और जीव परतंत्रसत्ता वाले हैं। चूँकि समस्त जड़-चेतन की स्थिति और प्रवृत्ति ब्रह्म के अधीन है, अथवा यों कहिए कि ब्रह्म इन दोनों का आत्मा है, नियन्ता है, व्यापक है और आधार है, इसलिए ब्रह्म से इनका अभेद भी वर्णन किया गया है। अभेद के बोधक सारे वाक्य इसी अभिप्राय से कहे गये हैं।

स्वयं उपनिषदों में मतैक्य नहीं है

उपनिषदों के सिद्धान्त समझने में जो मतभेद उत्पन्न हुआ है उसका दिग्दर्शन पाठकों को करा दिया गया। पर प्रश्न यह है कि स्वयं उपनिषदों में मतैक्य है वा नहीं। यदि मतैक्य है तो वह पूर्वोक्त पाँचों मतों में से कौन सा उनका अपना मत है। उनके सभी अपने नहीं हो सकते अथवा यह भी हो सकता है कि उनका निजी मत उक्त पाँचों मतों से पूर्णतः भिन्न एक दूसरा ही मत हो, जिसको जानने के लिए हमारे पास कोई साधन नहीं है।

पर हम लोग इस विषय में जो भूल करते हैं उसे बताते हैं। हम लोगों की धारणा है कि उपनिषदें अपौरुषेय (ईश्वर-कृत), अतः निर्भ्रान्त और किसी एक ही मत के प्रवर्त्तक हैं ; पर सो बात नहीं है। उपनिषदें वेदमंत्रों की तरह ऋषि-कृत हैं और चूँकि ऋषिगण मानव प्राणी थे जिनमें मतभेद का होना स्वाभाविक है, प्रत्येक उपनिषद् केवल उसी मत का प्रतिपादन करती है जो उसके रचयिता का निजी मत था। उदाहरणतः जिसका मत यह था कि जीव और ब्रह्म एक हैं, उसने अपने इस मत को 'तत्त्वमसि' आदि वचनों के द्वारा, पर इसके प्रतिकूल जिसका यह मत था कि जीव और ब्रह्म अलग-अलग हैं उसने अपना मत "द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते" आदि वाक्यों के द्वारा प्रकट किया।

खींचातानी से मतैक्य का प्रयत्न व्यर्थ है

हम लोगों को उचित है कि किसी एक मत को मान कर विरोधी मत के वचनों का अर्थ खींचातानी से अपने मत के अनुकूल करने का व्यर्थ प्रयत्न न किया करें। किसी भी दार्शनिक विषय में कल्पना की मात्रा इतनी अधिक रहती है कि उसके आधार पर हम किसी भी ऐसे निश्चित सिद्धान्त पर नहीं पहुँच सकते जो सभी को मान्य हो।

अथ सप्तम परिच्छेद

ईश्वर-विचार

ईश्वर विषयक स्वतन्त्र विचार

षष्ठ परिच्छेद में ईश्वर, जीव, प्रकृति, सृष्टि, प्रलय आदि विषयों पर भारत के प्राचीन दार्शनिकों के मन्तव्यानुसार विचार किया गया है; अब इस सप्तम परिच्छेद में उन विषयों पर एक ऐसे ढंग से विचार किया जायगा जो पूर्णतः स्वतन्त्र और आद्यपर्य्यन्तिक (up-to-date) है। आशा है कि हमारे पाठकगण इसे ध्यानपूर्वक पढ़ेंगे और निष्पक्ष होकर जैसा समझें वैसा निर्णय करेंगे।

मानसिक दासता का युग चल बसा

अब वह युग सदा के लिए चल बसा जब वेद-वाक्यों को अप्रामाण्य कहने वाले बौद्धों को नास्तिक कह कर देश से निकाल दिया जाता था; अब वह जमाना न रहा जब बाइबिल के विरुद्ध आवाज उठाने वालों को हेरेटिक (Heretic) करार देकर जिन्दा जला दिया जाता था; अब वह समय बिल्कुल जाता रहा जब कुरान की आयतों पर ईमान न लाने वालों को काफिर बनाकर तलवार के घाट उतार दिया जाता था। पंडित-पुरोहितों का; पोप पादरियों का; एवं मुल्ला-मोलवियों का वह धर्मान्धता-जन्य मनमाना कराल क्रीड़ा काल आज हमारे सौभाग्यवश समाप्त हो गया।

विचार-स्वातन्त्र्य क्या है ?

यह युग विचार-स्वातन्त्र्य का है। विचार-स्वातन्त्र्य मानव-जाति का जन्मसिद्ध अधिकार, विश्व की विभूति तथा सत्य का वास्तविक अन्वेषक, सहायक और परिपोषक है। विचार-स्वातन्त्र्य की इस कल्प-वेलि को अब स्वानुकूल परिस्थिति पाकर खूब फलना और फूलना चाहिए और अपने मधुर रस से सत्य-जिज्ञासुओं की ज्ञान-पिपासा को परितृप्त करना चाहिए, यदि विचार-स्वातन्त्र्य के इस मंगलकारी युग में भी हमने मानसिक दासता की बेड़ी तोड़ कर नहीं फेंक दी; यदि हमने उक्त जन्मसिद्ध अधिकार का यथेष्ट उपयोग कर सत्य की खोज न की तो, बस समझ लीजिए कि हम पाखंडियों के गुलाम सदा के लिए बने रहे। अतः प्यारे पाठकवृन्द ! आइए, आज हम लोग उस वस्तु की खोज करें जिसको हमारे ऋषियों और कवियों ने ईश्वर-संज्ञा दी है तथा साथ-साथ ईश्वर से सम्बन्ध रखने वाले जीव, प्रकृति सृष्टि, प्रलय आदि विषयों पर भी निष्पक्ष होकर विचार करें।

विश्व का शुक्ल पक्ष

निखिल सौन्दर्य के आगार तथा मुगल सम्राट शाहजहाँ के अटल कीर्ति-स्तम्भ और उस के पत्नी-प्रेम की मानो साक्षात मूर्ति ताजमहल को देखकर जिस प्रकार हमें उसके कारीगर का अनुमान होता है और हमारे मुँह से उसकी प्रशंसा में 'वाह-वाह' के शब्द बिना निकले नहीं मानते, उसी प्रकार विश्व की विविध वर्णनातीत रचनाओं को देखकर हमें विश्व-स्रष्टा का अनुमान स्वतः हो जाता है और उसकी सत्ता में तनिक भी सन्देह नहीं होता। प्रातः-काल का शीतल मन्द सुगन्ध त्रिविध बयार; ऋतुराज के आगमन पर रसाल वृक्ष की किस-लय कोमल मंजरियों का रसास्वादन करती हुई काषाय-कंठ कोयल की मस्तानी कुहुक; कमल पुष्पों के नवविकसित दलों के चारों तरफ मँडराते हुए गन्ध-लोलुप उन्मत्त भ्रमरों का श्रुति सुख झंकार उदीयमान तथा अस्ताचलोन्मुख भगवान् अंशुमाली के सुनहरे रश्मि-जाल के सम्पर्क से सुवर्णायमान पर्वत-मालाएँ; नक्षत्रपुञ्ज परिवेष्ठित पीयूषपिंड पूर्णकल चन्द्रदेव की समुज्ज्वल किरणों से समुद्भासित यह सारा चराचर जीव-जगत नीरव निशीथ की निस्त-ब्धता को भंग कर तथा प्रोषित-पतिका के पतिदर्शनोत्सुक सुकोमल हृदय में काम का संचार कर, दिगन्तों को मुखरित करने वाले पपीहे का 'पी कहाँ, पी कहाँ' मय सुरीला तान; मधुर फल भार से आभूतल विनम्र तथा सुन्दर सुगन्ध फूलों से लदे वनोपवन के नाना विध वृक्ष और लताएँ; विश्व में अलौकिक रूपादि गुण सम्पन्न नर-नारियों, पशु-पक्षियों एवं कीट-पतंगों का प्रादुर्भाव; रत्न-प्रभ असंख्य ज्योति 'गणों' से जटिल यह अनन्ताकाश; ग्रहों तथा उपग्रहों का अपनी-अपनी कक्षाओं और धुरियों पर अटल नियमानुसार निरन्तर परिभ्रमण आदि इन अद्भुत लीलाओं को देखकर कौन बुद्धिमान मनुष्य उस महा कारीगर ईश्वर के अस्तित्व में सन्देह कर सकता है ?

विश्व का कृष्ण पक्ष

यह तो हुआ विश्व का शुक्लपक्ष (समुज्ज्वल अंश) जो ईश्वर को हमारे सम्मुख एक परम सौम्य देवता रूप में अंकित करता है। अब इसके कृष्ण पक्ष (अन्धकारमय अंश) पर भी दृष्टिपात कीजिए और उस तथाकथित परम कारुणिक भगवान् के अनिष्टकारक कारनामों को मुआयना फरमाइये।

जड़ जगत के उपद्रव

धरणी देवी के हृदय विदीर्णकारी महाभयावह प्रकम्प; ज्वालामुखियों के अग्नि-वर्षी प्रलयकारी विस्फोट; प्रचंड तूफानों के नग्न तांडव-नृत्य; बाढ़ और दुर्भिक्ष के रोमांचकारी उपद्रव; प्लेग, हैजा, मलेरिया तथा अन्यान्य महामारियों के जीव-संहार रूपी मर्म-भेदी नजारे; निःशंक होकर वायु-वेग से चलने वाली रेलवे ट्रेनों के एकाएक टकराने, नावों और टाइटनिक जैसे सुदृढ़ जहाजों का भी अथाह जलराशि में डूब जाने तथा बड़ी-बड़ी खानों

के अकस्मात धँस जाने के कारण निमेष-मात्र में असंख्य नर-नारियों का प्राण-विसर्जन; चंगेज खाँ, तैमूरलंग, नादिरशाह, मुहम्मद तुगलक, नीरो आदि जैसे नर-पिशाचों का इस विश्व में जन्म-ग्रहण इत्यादि। क्या इन सब दुर्घटनाओं से आपको जगतकर्त्ता की घोर क्रूरता, निर्दयता आदि अवगुणों का प्रमाण नहीं मिलता ? क्या हमारे प्रभु की उक्त काली करतूतें उसे विश्व के इस सुविस्तृत रंग-मंच पर हमारे सामने एक महादानव की भूमिका में नहीं पेश करतीं ?

चेतन-जगत् के उपद्रव

जड़ जगत् के पूर्वोक्त उपद्रवों के निरीक्षण के बाद अब .जरा चेतन जगत् में तशरीफ लाइए और देखिए कि एक जीव दूसरे जीव के साथ कैसा-कैसा क्रूर व्यवहार कर रहा, जिसे देख आप के रोंगटे खड़े हो जाते हैं। जैसा कि हम प्रथम परिच्छेद में कह आए हैं, सभी प्राणी अपने निर्बल पड़ोसियों को हड़प कर अपना जीवन मौज से बिताने की चेष्टा में व्यस्त हैं। इसका फल यह है कि कोई भी प्राणी सुख की नींद नहीं सोने पाता। क्षुद्रातिक्षुद्र कीट-पतंगों से लेकर सभ्य से सभ्य तथा 'अश्रफुल् मख़लूकात' (जीवधारियों में सर्वश्रेष्ठ) कहलाने वाली मनुष्य जाति-पर्यन्त एक भयङ्कर संग्राम स्वास्तित्व-रक्षणार्थ छिड़ा हुआ है। पशु-पक्षियों और कीट-पतंगों को, जो अपनी नैसर्गिक प्रेरणा (Natural instinct) तथा विवेकहीनता के वश अपने निर्बल पड़ोसियों के प्रति क्रूर व्यवहार कर रहे हैं, कुछ हद तक क्षम्य कहा जा सकता है; पर मानव प्राणी के पास अपनी क्रूरता का औचित्य सिद्ध करने के लिए कोई जवाब ही नहीं है। प्राचीन काल से लेकर अर्वाचीन काल तक के मानव-चरित्र की कहानी अति ही दारुण है, जिसे सुन कर स्वयं शैतान का भी हृदय थर्रा उठता है। मेक्सिको (अमेरिका) का इतिहास पढ़िए और स्पेनी सेना की क्रूरता की बानगी लीजिए। मेक्सिकोवासियों को, जो अपनी शीघ्रम्भाविनी विपत्ति के प्रति बिल्कुल निःशंक होकर अपने जातीय त्योहार को मनाने में व्यस्त और तल्लीन थे, स्पेन-वाहिनी ने गोलों के प्रहारों से आबाल-वृद्ध को उड़ाकर जो उनका सर्वस्वापहरण कर लिया, उसकी मर्मभेदी तथा करुणापूर्ण कथा सुनकर किसका हृदय नहीं काँप उठता ! अभी उस दिन, विश्वव्यापी द्वितीय महासमर (ई० सन् १९३९ से लेकर ई० सन् १९४५ तक) के समय केवल एक—एक ही परमाणु वज्र (Atom Bomb) के निपात से जापान के हिरोशिमा और नागासकी, इन दो नगरों के केवल मनुष्यों को ही नहीं, अपितु कीट, पतंग, लता, गुल्म, वृक्षादि सभी प्रकार के चराचर प्राणियों को जला कर भस्मसात् कर दिया जाना क्या कोई मजाक की बात थी ? मनुष्य का संहार कर न मालूम कितनी बार धरणी देवी को मानव-रक्त का तर्पण नहीं दिया ? चंगेज खाँ, तैमूर लंग, नादिरशाह आदि कतिपय घोर आततायी भारत पर चढ़ आते हैं

और यहाँ के आबाल-वृद्ध गणनातीत नर-नारियों को चूहों और बिल्लियों की तरह कत्ले-आम कर उनका सर्वस्व लूट लेते और शहर के शरह जलाकर खाक कर देते हैं; पर निःसहाय भारतीय प्रजा के 'त्राहि भगवन्' के गगन-विदारी तुमुल आर्त्तनाद को सुनकर भी कोमल-हृदय (?) भगवान् के कान पर जूँ तक नहीं रेंगती !! धन्य हो प्रभु !!!

मनुष्य के अत्याचार

अब पशु-जगत् के प्रति हमारे इस 'अश्रफुल् मख़लुकात' जी की क्रूरता का लेखा लीजिए, अन्नाभाव के कारण विवश होकर अपनी उदर-पूर्त्ति के लिए नहीं; बल्कि केवल अपनी चटोरी जीभ को संतुष्ट करने के लिए हम प्रतिदिन कितने मूक पशुओं को स्वयं नहीं काटते वा दूसरों से नहीं कटवाते ? बूचड़-खानों में जबह होते हुए, धर्म (?) के नाम पर देवी और काली के मन्दिरों में बलि दिये जाते हुए और ईद तथा बकराईद जैसे मुस्लिम त्योहारों पर कुर्बान किये जाते हुए अनाथ पशु-वृन्द किस करुणामय (?) भगवान् की दुहाई देते होंगे, इस प्रश्न का सन्तोषजनक उत्तर, ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हुए भी, कोई दे सकता है ? क्या पूर्वोक्त लोमहर्षणकारी दुर्घटनाओं और ईश्वर जैसे सर्व-शक्तिमान्, दीनबन्धु तथा न्याय-प्रिय शासक के रहते भी निर्बलों के प्रति सबलों के विविध अरुन्तुद अत्याचारों को देखकर हमारा इस परिणाम पर पहुँचना बुद्धि-संगत नहीं है कि हमारा प्रभु दीन-बन्धु न होकर दीनोत्पीड़क है ? न्याय-प्रिय न होकर महा अन्यायी है ? दयामय न होकर महानिर्दय है ? विश्व का कुशल संचालक न होकर एक स्वेच्छा-चारी जीव है ? आश्चर्य और दुःख तो तब होता है जब धर्म के नाम पर अधर्म करने वाले पापात्माओं को भी हमारा समाज आस्तिक कहता और मानता है !

ईश्वर वा शैतान

अब आगे चलिए। ईश्वर के पूर्वोक्त विविध प्रकार की परस्परविरोधी लीलाओं को देखकर हम एक अजीब उलझन में पड़ जाते और समझ नहीं पाते कि ईश्वर का वास्तविक स्वरूप सौम्य है वा क्रूर। यदि कहा जाए कि विश्व में ईश्वर और शैतान ये दो चेतन शक्तियाँ काम कर रही हैं, जिनमें एक से भलाई और दूसरी से बुराई होती है, तो संसार में सुख की अपेक्षा दुःख की, शान्ति की अपेक्षा अशान्ति की, प्रेम की अपेक्षा घृणा की, परार्थ की अपेक्षा स्वार्थ की मात्रा बहुत ही अधिक होने तथा पुण्यात्माओं, सदाचारियों परोपकारियों, न्यायशीलों, ईमानदारों, विद्वानों, धनियों और सुखियों की अपेक्षा पापा-त्माओं, दुराचारियों, परोपकारियों, अन्यायिओं, बेईमानों, मूर्खों तथा दुःखियों, एवं चोरों, डाकुओं, बदमाशों, दगाबाजों, ठगों आदि की संख्या अधिक देखी जाने से, वा थोड़े में यों कहिए कि भलाई की अपेक्षा बुराई ही अधिक नजर आने से हम इस बात को मानने के लिए विवश किये जाते हैं कि ईश्वर की अपेक्षा शैतान कहीं अधिक शक्तिशाली है और विश्व

को डावाँडोल करने में उसका हाथ कहीं अधिक ऊँचा है। पर ईश्वरवादी सिवा एक ईश्वर के दूसरी शक्ति नहीं मानता और उसकी काली करतूतों की व्याख्या इस प्रकार करता है कि हमारी सीमित दृष्टि में पहले बुराई भले ही नजर आवे; पर उसका अन्तिम परिणाम भलाई ही है। ईश्वर जो कुछ करता है, हमारी भलाई के लिए करता है।

क्या ईश्वर की बुराई में भी भलाई है ?

डाक्टर अपने नश्तर को रोगी के व्रण में उसके कल्याणार्थ ही बहुत ही बेदर्दी के साथ घुसेड़ता है। मलेरिया के रोगी को एडवर्ड साहब का येनिक ही पिलाया जाता है, जिसकी कड़वी घूँट उसकी जीभ बर्दाश्त नहीं करती। इस पर अपने तथा दूसरों को गुमराह करने वाले ऐसे ईश्वरवादी से क्या उसका कोई विपक्षी पूछ सकता है कि ईश्वर ने हमारे कल्याण-रूपी अपने अन्तिम ध्येय पर पहुँचने के लिए बुराई का ही आश्रय क्यों लिया ? क्या वह बुराई से भिन्न साधनों के प्रयोग करने में असमर्थ था ? यदि वह असमर्थ था तो वह सर्वशक्तिमान् न रहा ; और जो सर्वशक्तिमान् नहीं, वह ईश्वर नहीं। यदि ईश्वरवादी कहे कि ईश्वर अन्य साधनों के प्रयोग करने में समर्थ तो अवश्य था; उसके सामर्थ्य के बाहर कुछ भी नहीं; पर उसने बुराई का ही आश्रय लेना पसन्द किया, तो ऐसी हालत में उसके प्रति हमारे सारे मधुर-भाव एवं हमारी सारी श्रद्धा और भक्ति पर एक-एक वज्र-पात हो जाता है और वे हमारे हृदय में लेश-मात्र भी नहीं रह जातीं ; और उसका दयामय होना केवल कपोल-कल्पना सिद्ध हो जाता है। धर्म ग्रन्थों का यह उपदेश कि ईश्वर स्व-सृष्ट इस विश्व के जीवों पर उसी तरह दया और प्रेम का भाव रखता है जिस तरह पिता अपने बच्चों पर, एकदम झूठ तथा किसी पागल का प्रलाप-मात्र जान पड़ता है। जो ईश्वर हमारी भलाई करने के बहाने हमें विपत्ति के एक अथाह महासमुद्र में एकाएक डुबा देता है, वह ईश्वर हमारी श्रद्धा और भक्ति का पात्र कभी नहीं बन सकता। क्वेटा-निवासी आधीरात को सुख की नींद बेखबर सो रहे हैं। तिमिराच्छन्न रजनी देवी मानो अपनी काली ओढ़नी में खर्राटे ले रही हैं कि अकस्मात् भूकम्प का एक जबर्दस्त धक्का आ पहुँचता है और लाखों की जान क्षणमात्र में ले लेता है। कहो तो, इस क्रूर उपाय से ईश्वर ने उन बेचारों की कौन सी भलाई की ? यदि कहो कि जनसंख्या बढ़ जाने से दुनिया में लोग भूखों मर रहे थे तथा पाप की मात्रा बढ़ गई थी; अतः ईश्वर ने कुछ लोगों की जान लेकर पृथ्वी का भार हल्का कर दिया। यदि यही भूकम्प का रहस्य था तो क्या उसको इस बात का पूर्व ज्ञान न था कि अधिक संख्या में मानव-जन्तुओं की उत्पत्ति का अर्थ भू लोक का अनिष्ट है ? यदि उसे पूर्व ज्ञान था तो उसने उन्हें उत्पन्न कर जान-बूझ कर ही पृथ्वी में पाप और भूख-मरी उत्पन्न की। और यदि उसे पूर्वज्ञान न था तो वह सर्वज्ञ नहीं। ऐसा अदूरदर्शी, असर्वज्ञ और व्यवस्थाहीन ईश्वर—ईश्वर कहलाने के

योग्य नहीं। ईश्वर को जानना चाहता था कि पापियों को उत्पन्न कर पुनः उनका नाश करने की अपेक्षा उन्हें नहीं उत्पन्न करना ही अच्छा था, क्योंकि नीति हमें बतलाती है कि Prevention is better than cure; अर्थात् रोग को छुड़ाने की अपेक्षा उसको नहीं होने देना ही अच्छा है।

जन्मान्तरवाद की दुहाई

मुसलमान तथा ईसाई, जो जन्मान्तरवाद को नहीं मानते, केवल यही कह कर सब्र कर लेते हैं कि 'भाई ! खुदा की जैसी मर्जी; वह चाहे जिस तरह हमें रखे।' पर हिन्दू दार्शनिकों को इस 'हरि इच्छा' से सन्तोष न हुआ। उन्होंने हमारे दुःख-सुख की व्याख्या जन्मान्तरवाद के द्वारा करनी चाही। उन्होंने कहा कि हमारे दुःख-सुख हमारे पूर्वजन्म के कर्मों के फल हैं। यहाँ पर इसका विचार नहीं हो रहा है कि जन्मान्तरवाद सही है वा गलत; यद्यपि यह वाद अभी तक विवादग्रस्त है और अन्त तक विवादग्रस्त ही रहेगा। पर थोड़ी देर के लिए मान भी लिया जाए कि हमारे दुःख-सुख के कारण हमारे पूर्व-जन्म के कर्म हैं तो इससे हमारे सुखों की व्याख्या तो कुछ-कुछ समझ में आ जाती है; पर हमारे दुःख अव्याख्यात ही रह जाते हैं। इसका कारण बतलाते हैं। ईश्वर सर्वव्यापी माना जाता है। वह हमारे रोम-रोम में, हमारे प्रत्येक अणु और परमाणु में, हमारी सभी ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों में, हमारी बुद्धि और अन्तःकरण में, हमारे प्रत्येक विचार में अपनी पूर्ण ज्योति के साथ व्यापक हो रहा है। हमारा कोई भी मानसिक किम्वा शारीरिक कार्य ऐसा नहीं है जो ईश्वर से अपना पिंड छुड़ा सके। यदि यह बात सत्य है तो उसका पूर्ण प्रभाव हमारी बुद्धि पर अवश्य पड़ता होगा। इस स्थिति में किसी अपने विपक्षी को कोई ईश्वरवादी बतला सकता है कि ईश्वर के पूर्ण प्रभाव से ओतप्रोत मानव बुद्धि की प्रवृत्ति पाप की ओर क्यों होती है?

ईश्वर—व्याप्त मानव बुद्धि की पाप में प्रवृत्ति, अव्याख्येय

यदि कहो कि हमारी बुद्धि पर अज्ञान का पर्दा पड़ा है जिससे हम सत्कर्म की ओर प्रवृत्त नहीं होने पाते, तो इससे यही सिद्ध होता है कि जहाँ अज्ञान का पर्दा है वहाँ ईश्वरीय आलोक का प्रवेश नहीं है और अवश्य ही जब ईश्वर इस प्रकार कुंठित और सीमित हो गया तो उसकी सर्वव्यापकता और साथ-साथ उसकी ईश्वरता भी जाती रही।

क्या सुख के लिए ही दुःख है ?

कितने भाई हमारे दुःखों की व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि वास्तविक सुख की प्राप्ति के लिए ही भगवान् ने दुःख को सृजा है। यदि भूख न हो तो भोजन का, प्यास न हो तो पानी का, थकावट न हो तो विश्राम का, अन्धकार न हो तो प्रकाश का यथार्थ आनन्द हमें नहीं मिल सकता। पर यह व्याख्या सर्वत्र और सर्वदा लागू नहीं है। यह उन्हीं दुःख-

सुखों तक लागू है और उनकी उसी अवस्था तक सीमित है जिनमें अन्योन्यापेक्षी नैसर्गिक सम्बन्ध है और एक पक्ष की उपलब्धि होने पर उसके निराकरण के लिए दूसरे पक्ष की भी उपलब्धि हो जाये। जैसे भूख आदि के लगने पर यदि भोजन आदि न मिले तो ये भूख आदि केवल दुःख ही दुःख रह गए। इसके अतिरिक्त हम कभी-कभी ऐसे भी दुःखों के शिकार हो जाते हैं जिन्हें किसी भी सुख-विशेष के साथ अन्योन्यापेक्षी कोई भी प्राकृतिक सम्बन्ध नहीं है, जैसे भूकम्प आदि दुर्घटनाएँ। गत द्वितीय विश्वव्यापी महासमर के समय भूखमरी ने बंगाल के जिन कई लाख मानव प्राणियों को तड़पा-तड़पा कर मार डाला, अथवा ई० सन् १९३४ (जनवरी) के भूकम्प ने जिन लाखों मनुष्यों की जान बात की बात में ले ली, उन्हें इस महा दुःख के बदले में कौन सा सुख मिला ? अतः दुःख की उक्त व्याख्या में कुछ भी सार नहीं दीखता।

क्या जगत् का कर्त्ता कोई ईश्वर है ?

पर प्रश्न उठता है कि इस जगत् को आखिर रचा किसने ? एक पक्ष कहता है कि इस सृष्टि का कर्त्ता ईश्वर नाम धारी कोई सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् चेतन सत्ता अवश्य है ; क्योंकि तभी तो हम इस सृष्टि में सर्वत्र सुव्यवस्था देख रहे हैं ; जैसे सूर्य का नियमपूर्वक उदित और अस्त होना, गणित के हिसाब से नियत समय पर चन्द्र-ग्रहण एवं सूर्य-ग्रहण का लगना, ऋतुओं का नियमपूर्वक परिवर्त्तन; नक्षत्रों, ग्रहों तथा उपग्रहों की नियत दूरी पर स्थिति और गति इत्यादि। इसका उत्तर एक विपक्षी यह कह कर देता है कि यदि सृष्टि में व्यवस्था है तो उसमें बड़ी-बड़ी अव्यवस्थाएँ भी मौजूद हैं ; जैसे कहीं पर तो भू-पृष्ठ हजारों मील तक बर्फ से ढका है और जान लेने वाली सर्दी पड़ रही है और कहीं पर बालू की असीम रेत बिछी है और शरीर को जिन्दा जला देने वाली लू चल रही है। फसल तैयार हो चली है कि एकाएक बाढ़ आ गई और सारी फसल बहा ले गई। कृषकों ने बीज तो बोए, समय पर पानी एक बूँद न बरसा, जिसका फल यह हुआ कि देश में अकाल पड़ा और लाखों बिना अन्न-दाना के इस संसार से चल बसे। कहीं पर इतना कसरत से गल्ला पैदा हुआ कि उसकी खपत न हो सकी और अन्त में जला दिया गया। किसी के पास धन तो बेशुमार है पर खाने वाला कोई नहीं और किसी का घर पोतों-परपोतों से भरा है, पर वह कौड़ी-कौड़ी के लिए मुँहताज है। घर भर के मुँह में रोटी पहुँचाने वाले जवान कमासुत मर गए और बच गए अस्थिपंजरावशेष बूढ़ी-बूढ़े। कहाँ पर, किस समय, कौन सी चीज, किस मात्रा में होनी चाहिए, इसकी व्यवस्था करने वाली कोई चेतन सत्ता कहाँ है ? यदि कहो कि ईश्वर हमारे पापों के ही फलस्वरूप ऐसी-ऐसी गर्दिशें संसार में भेजा करता है तो फिर वही प्रश्न उठता है कि ईश्वरीय ज्योति के पूर्ण प्रभाव में रहते हुए भी हम पाप करने में प्रवृत्त ही क्यों होते हैं ?

यदि कहो कि जीव कर्म करने में स्वतंत्र पर फल भोगने में परतंत्र है तो एक दूसरा प्रश्न उठ खड़ा होता है कि ऐसे पापी जीवों को ईश्वर ने पाप करने के लिए स्वतंत्र क्यों छोड़ दिया है ? क्या वह उन्हें पाप कर्म करने से रोक नहीं सकता ? यदि नहीं तो वह सर्वशक्तिमान नहीं, और जो सर्वशक्तिमान् नहीं वह ईश्वर नहीं। क्या चोरों, डकैतों और हत्यारों को संसार में ऊधम मचाने के लिए स्वतंत्र छोड़ देने वाला ईश्वर उस निकम्मे पुलिस कर्मचारी के तुल्य नहीं है जो अपनी उपस्थिति में और अपने नजरों के सामने ही मुजरिमों को जुर्म करते देखता रहता है और उनके साथ तब तक कुछ भी छेड़-छाड़ नहीं करता जब तक कि वे जुर्म को न कर डालें और जुर्म के कर चुकने के बाद ही वह उन्हें दण्ड देने के लिए गिरफ्तार करता है ? ऐसे-ऐसे कितने प्रश्न ईश्वरवाद के विरुद्ध किये जा सकते हैं।

जगत की रचना में ईश्वर का उद्देश्य क्या है ?

ईश्वरवाद का विपक्षी फिर एक प्रश्न करता है कि यदि जगत् का कर्त्ता ईश्वर नामधारी कोई सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् चेतन सत्ता है तो वह अपने किस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए जगत् की सृष्टि करता है ? क्योंकि कोई भी चेतन सत्ता बिना किसी प्रयोजन के किसी भी व्यापार में प्रवृत्त नहीं होता। पूर्व मीमांसाकार वादरायण व्यास का यह सूत्र कि "लोकवत्तु लीला कैवल्यम्" अर्थात् जैसे लोक में कोई राजा बिना किसी प्रयोजन के ही कभी-कभी केवल लीला करने को प्रवृत्त होता है, वैसे ही ईश्वर भी बिना किसी प्रयोजन के ही सृष्टिरूप लीला में प्रवृत्त होता है, भोले-भाले विचार शून्य लोगों के लिए भले ही सन्तोषजनक हो; पर तत्त्व के जिज्ञासुओं को इससे सन्तोष नहीं हो सकता। राजा के लीला करने में और नहीं तो कम से कम मनोरंजन का उद्देश्य अवश्य रहता है। वैसे ही यदि ईश्वर को भी मनोरंजन की आवश्यकता हुई तो वह ईश्वर न रहा। उसकी आनन्दस्वरूपता जो उसका एक नित्य गुण माना जाता है, जाती रही और वह साधारण मनुष्यों की कोटि में आ गिरा। क्योंकि जब अकेले बिना काम के बैठे-बैठे उसका जी घबराता होगा तभी वह सृष्टि-लीला करके अपना जी बहलाता होगा। और यह लीला भी एक विचित्र लीला है जिसमें सभी प्राणी बेचैन हैं किसी को भी वास्ततिक सुख-शान्ति नहीं। जैसा कि हम पूर्व में बार-बार कह आए हैं, सभी प्राणी एक-दूसरे को मार कर अपना जीवन मौज से बिताने के प्रयत्न में व्यस्त हैं। इसके अतिरिक्त भूकम्पों, ज्वालामुखियों के विस्फोटों, महामारियों, भूखमरियों आदि के कारण जो जीव-जगत् में रह-रह कर कुहराम मच जाया करता है, वह तो अलग रहे। क्या ऐसी दोषपूर्ण सृष्टि किसी सर्वगुण-सम्पन्न कहलाने वाले ईश्वर की हो सकती है ? कभी नहीं। यदि कहो कि इसमें ईश्वर का कोई भी दोष नहीं; सभी जीव अपने-अपने कामों के फल भोग रहे हैं; इसमें उसका अपना मनोरंजन का कोई अन्य स्वार्थ नहीं है; जीवों को कर्म-फल देने के उद्देश्य से ही उसने ऐसी अशांतिमय

सृष्टि रची है, तो यह भी ईश्वर के लिए एक घोर कलंक की बात है कि उसकी सृष्टि में पुण्यात्माओं की अपेक्षा पापियों की संख्या बहुत ही अधिक हो, जिन्हें उसे दण्ड की चक्की में अहर्निशि पीसना पड़े और यदि "यथा राजा तथा प्रजा" वाली कहावत ठीक है तो हम यह कहने के लिए विवश हैं कि ऐसी दोषपूर्ण सृष्टि किसी ईश्वर की कृति न होकर किसी शैतान की करतूत है; क्योंकि सृष्टि यदि किसी ईश्वर की कृति होती तो वह एक आदर्श सृष्टि होती; तमाम आनन्द ही आनन्द नज़र आता और दुःख का नामो-निशान नहीं रहता; पर वस्तुस्थिति ठीक इस के प्रतिकूल है।

अनीश्वरवाद में सृष्टि की व्याख्या

यह तो हुई एक ईश्वरवादी के मतानुसार सृष्टि की व्याख्या और उस पर की जाने वाली नाना प्रकार की शंकाएँ। अब एक अनीश्वरवादी के मतानुसार सृष्टि की व्याख्या सुनिए।

अभाव का भाव और भाव का अभाव नहीं होता

विज्ञान का यह अटल सिद्धान्त है कि "No thing can be created and no thing can be destroyed"; अर्थात् किसी वस्तु की न सृष्टि हो सकती है, न किसी वस्तु का नाश हो सकता है। दर्शनशास्त्र भी इसी को लेकर कहता है कि अभाव का भाव तथा भाव का अभाव कभी नहीं होता। यह उभय पक्ष को मान्य है; पर अनीश्वरवादी कहता है कि जिस घटना को हम सृष्टि तथा प्रलय के नाम से अभिहित करते हैं और जो हमें प्रत्यक्ष दीखती है, वह वास्तव में पदार्थों का रूप-परिवर्त्तन मात्र है। उदाहरण के लिए जल को ही लीजिए। परिस्थिति-भेद से एक ही पदार्थ के हिम (बर्फ़), जल और वाष्प—ये तीन रूप हो जाते हैं; पर मूल तत्व ज्यों का त्यों बना रहता है। उसकी न कभी सृष्टि हुई, न कभी नाश हुआ। वह अनाद्यन्त और नित्य है। और सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर हमें यह भी मालूम पड़ता है कि सृष्टि और प्रलय, ये दोनों घटनाएँ अन्योन्याश्रयी हैं। सृष्टि के लिए प्रलय और प्रलय के लिए सृष्टि अपेक्षित है। बिना पूर्व-पूर्व रूपों का प्रलय हुए पर-पर रूपों की सृष्टि नहीं हो सकती। जल-रूप के नाश होने पर ही वाष्प-रूप वा हिम-रूप की सृष्टि होती है; अन्यथा नहीं। जिस प्रकार बिना प्रलय के सृष्टि नहीं हो सकती, उसी प्रकार बिना सृष्टि के प्रलय भी नहीं हो सकता; क्योंकि यदि किसी रूप की सृष्टि नहीं हुई तो फिर प्रलय किसका होगा? इसके अतिरिक्त यह भी जान लेना चाहिए कि सृष्टि और प्रलय ये दोनों ही घटनाएँ एक साथ निरन्तर चल रही हैं। जैसे-जैसे बीज का नाश होता जाता है, वैसे ही वैसे अंकुर की उत्पत्ति और वृद्धि होती जा[illegible] और अन्त में जाते-जाते इधर बीज का नाश हुआ, उधर अंकुर की भी उत्पत्ति

हो गई। ऐसा तो कभी होता नहीं कि बीज का नाश हो ले तब अंकुर की उत्पत्ति प्रारम्भ करे।

परमाणुओं की स्वाभाविक शक्ति

पर प्रश्न उठता है कि आखिर इस रूप-परिवर्त्तन का कर्त्ता कौन है? इसका उत्तर अनीश्वरवादी देता है कि परमाणु स्वनिहित एक स्वाभाविक शक्ति के द्वारा अन्धाधुन्ध रूप-परिवर्त्तन अनादि काल से करते चले आ रहे हैं और अनन्त काल तक करते चले जाएँगे। परमाणुओं की यह क्रिया निरन्तर चल रही है। वह कभी भी एक क्षण के लिए विश्राम नहीं करती; अर्थात् रूकती नहीं। परमाणुओं की तरह उनकी स्वाभाविक शक्ति अनाद्यन्त है। उस शक्ति को किसी ईश्वर ने नहीं दिया।

परमाणु निरन्तर क्रियाशील रहते हैं

परमाणुवाद पर प्रायः यह आक्षेप किया जाता है कि वे प्रवृत्ति-धर्म्मी हैं वा निवृत्ति-धर्म्मी? यदि वे प्रवृत्ति-धर्म्मी हैं तो कभी प्रलय न होगा और यदि वे निवृत्त-धर्म्मी है तो कभी सृष्टि न होगी। पहले कहा जा चुका है कि परमाणुओं की क्रिया निरन्तर जारी है। यह क्रिया उनकी स्वाभाविक है। वे अपनी इस क्रिया के द्वारा प्रतिक्षण रूपों को बनाते तथा बिगाड़ते चले जा रहे हैं। वे सतत प्रवृत्ति-धर्म्मी हैं और अपने इस एक ही धर्म के वश सृष्टि और प्रलय, ये दोनों ही कार्य, जो रूप-परिवर्त्तन-मात्र हैं, एक ही साथ करते चले जा रहे हैं। ये कभी भी और कहीं पर भी निश्चेष्ट नहीं रह सकते। ये प्रतिक्षण अपने स्वभाव से, वा यों कहिए कि प्राकृतिक नियमों से प्रेरित होकर अपने संयोग और वियोग के द्वारा निःशेष जगत को प्रतिक्षण रूपान्तर में परिणत कर रहे हैं। यह बात दूसरी है कि पूर्ण परिवर्त्तन धीरे-धीरे हो वा एक-ब-एक हो। परमाणुओं का, रूपान्तर उत्पन्न करने में, कोई भी उद्देश्य नहीं है। सृष्टि निष्प्रयोजन है। पर परमाणु अपने स्वाभाव से विवश होकर अपना कार्य अन्धाधुन्ध करते ही चले जाएँगे, चाहे वह कार्य किसी के अनुकूल वा प्रतिकूल हो उन्हें इसकी चिन्ता थोड़े ही है कि उनका कार्य किसी निर्दिष्ट उद्देश्य की पूर्ति में हो रहा है कि नहीं। उद्देश्य तो तब देखा जाता है जब कार्य करने वाला कोई चेतन तत्व हो। उनका कार्य जो हम मनुष्यादि प्राणियों के अनुकूल हुआ करता है, वह केवल आकस्मिक है। उससे हमारे पुण्य-पाप का कोई भी संबन्ध नहीं। उनका तो केवल यह काम है कि जहाँ जैसी सामग्री जुटी वहाँ वैसा रूप उत्पन्न कर दें।

परमाणु कभी निश्चेष्ट नहीं होते

परमाणुवाद पर उक्त आक्षेप से मिलता-जुलता एक दूसरा आक्षेप भी किया जाता है। वह यह है कि यदि परमाणु स्वभावतः मिलने वाले हैं तो वे कभी पृथक् नहीं होंगे, जिससे कभी प्रलय न होगा और यदि वे स्वभावतः पृथक् रहने वाले हैं तो वे कभी

नहीं मिलेंगे जिससे कभी सृष्टि न होगी। हम पूर्व में कह आये हैं कि परमाणु सतत क्रिया-शील हैं। वे कभी चेष्टाहीन नहीं होते, कारण कि क्रिया करने के लिए उन्हें कोई न कोई सामग्री सदा जुटी ही रहती है। उन्हें किसी विशेष प्रकार के रूप की रचना के लिए कोई आग्रह वा पूर्व निर्द्धारित कोई प्रक्रिया (Premeditated plan) नहीं रहती। बस, जब जहाँ और जैसी सामग्री जुटी कि उन्होंने वैसा एक रूप बना कर खड़ा कर दिया। परमाणुओं में परिस्थिति के अनुसार मिलना और पृथक् होना दोनों गुण रहते हैं। वही कमल पुष्प रात की ठंढक से सिकुड़ जाता ; पुनः सूर्योदय होते ही खिल उठता है। लजौनी की पत्तियों को लीजिए। कहीं अनजान में भी वे आपकी उँगलियों से छू जाएँ तो वे सिकुड़ कर परस्पर चिपक जाती हैं ; पुनः थोड़ी देर के बाद वे आप से आप पृथक् हो जाती हैं। इसी प्रकार मिलने और पृथक् होने के दोनों गुण परमाणुओं में मौजूद हैं जो स्वानुकूल परिस्थिति पाकर अपना-अपना जौहर दिखाते हैं।

दो प्रकार के पदार्थ—(१) कृत्रिम और (२) प्राकृतिक

परमाणुवाद के प्रसंग में पाठकों को एक और भी बात जान लेना चाहिए। विश्व में दो प्रकार के पदार्थ देख पड़ते हैं— (१) कृत्रिम अर्थात् मनुष्यादि प्राणियों के बनाए हुए जैसे घट, पट आदि, और (२) प्राकृतिक, अर्थात् परमाणुओं की स्वाभाविक शक्ति से रचे हुए जैसे—ग्रह, नक्षत्र, उपग्रह, पर्वत, नदी, समुद्र तथा प्राणियों के शरीर आदि। पहली श्रेणी के पदार्थों की रचना के लिए उनसे भिन्न किसी अन्य चेतन कर्त्ता की आवश्यकता होती है जो अपने किसी उद्देश्य-विशेष की पूर्त्ति के लिए एक पूर्व निर्द्धारित प्रक्रिया के अनुसार उन्हें बनाता है ; तथा जब चाहा उन्हें बनाया और जब नहीं चाहा उन्हें नहीं बनाया अथवा बनाते-बनाते उन्हें अधूरा ही छोड़ दिया और कुछ काल तक ठहर कर उनमें फिर हाथ लगाया वा बनाए हुओं को भी तोड़ दिया। पर दूसरी श्रेणी के पदार्थों की दशा एकदम भिन्न है। वे परमाणुओं की स्वाभाविक शक्ति से भिन्न किसी अन्य चेतन कर्त्ता की अपेक्षा नहीं करते। न उनकी रचना में किसी का कोई उद्देश्य रहता, न आग्रह रहता और न किसी के द्वारा पूर्व-निर्धारित कोई प्रक्रिया ही रहती, जैसा कि हम अभी पूर्व में कह आए हैं।

सृष्टि की व्यवस्थाएँ आकस्मिक हैं

अब सृष्टि में जो कहीं-कहीं (सर्वत्र नहीं) व्यवस्था देख पड़ती है उस पर विचार किया जाता है। यह व्यवस्था किसी चेतन कर्त्ता की, की हुई न होकर केवल परमाणुओं के अन्योन्याकर्षण से उत्पन्न एक घूर्णान्दोलन आकस्मिक परिणाम है। विश्व में जितने परमाणु हैं उन सबों के बीच आकर्षण-प्रत्याकर्षण की क्रिया निरन्तर जारी है ; अतः यह जरूरी है कि वे अपने इस पारस्परिक खींचातानी के कारण सब ओर न दौड़कर अपने

सामूहिक परिणाम (Resultant) के स्वरूप, बिना किसी चेतन कर्त्ता के सोचे-विचारे अपना कोई-न-कोई एक सुव्यवस्थित मार्ग पकड़ लेंगे। इस व्यवस्था को ठीक वैसी ही समझना चाहिये जैसे घून कीड़ा काठ को काटते-काटते कभी-कभी उसमें किसी अक्षर से मिलते-जुलते कोई चिन्ह अकस्मात् (By chance) बिना सोचे-विचारे बना डालता है। सूर्यादि ग्रहोपग्रहों का अपनी-अपनी कक्षा में एक नियत गति से परिभ्रमण करना आदि उक्त आकस्मिक व्यवस्था के ही फल हैं। राशियों का मेषादि जन्तुओं के रूप में देख पड़ना भी एक आकस्मिक व्यवस्था है।

कृत्रिम और प्राकृतिक पदार्थों की रचना-शैली में भेद

पूर्व में कहा गया है कि परमाणुओं के आकस्मिक संयोग और वियोग से विश्व में सृष्टि और प्रलय हो रहे हैं। इस पर शंका होती है कि यदि परमाणुओं के आकस्मिक संयोग से सृष्टि होती है तो शेक्सपियर और कालिदास के महाकाव्य अक्षरों और शब्दों के आकस्मिक संयोग से क्यों नहीं लिखे गये? यदि सागर और हिमालय अकस्मात् बन गए तो काशी का विश्वनाथ मन्दिर क्यों नहीं अकस्मात् बन गया? वन्ध्या-पुत्र और आकाशपुष्प भी आप से आप क्यों नहीं बन जाते? इत्यादि। पर शंका करने वालों को समझ लेना चाहिए कि शेक्सपियर और कालिदास के महाकाव्य एवं काशी का विश्वनाथ-मन्दिर कृत्रिम पदार्थ, पर सागर और हिमालय प्राकृतिक पदार्थ हैं। इन दोनों की रचना-शैली, जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है, भिन्न-भिन्न होती है। वन्ध्या-पुत्र और आकाश-पुष्प कल्पित पदार्थ हैं। अभाव का भाव नहीं होता।

जो जिसका स्वभाव है वह उसे छोड़ नहीं सकता

परमाणुवाद पर एक और भी आक्षेप किया जाता है कि यदि संसार अपने स्वभाव से है तो उसके रूप में कभी भी परिवर्त्तन नहीं होना चाहिए, क्योंकि स्वभाव अपरिवर्त्तन-शील है; पर संसार के रूप में प्रतिक्षण परिवर्त्तन हो रहा है, जिससे सिद्ध है कि इस परिवर्तन का कारण संसार से भिन्न कोई अन्य सत्ता है जिसे हम ईश्वर कहते हैं। बात तो कही ठीक, पर समझ का फेर है। स्वभाव अपरिवर्त्तनशील है, इसका केवल यही अर्थ है कि जो जिसका स्वभाव है उसे वह छोड़ नहीं सकता, अथवा उसमें कुछ भी फेर-फार नहीं होता; अर्थात् परिवर्त्तनशील कभी भी अपरिवर्त्तनशील और अपरिवर्त्तनशील कभी भी परिवर्त्तनशील नहीं हो सकता। अपरिवर्त्तनशीलता की तरह परिवर्त्तनशीलता भी एक गुण है, जो संसार को प्राप्त है। अथवा यदि यही मान लिया जाय कि संसार की इस परिवर्त्तनशीलता का कारण कोई अन्य वस्तु है तो वह अन्य वस्तु कोई ईश्वर न होकर परमाणुओं की ही स्वाभाविक शक्ति है जो संसार को चक्कर में डाले हुए है।

पाठकगण पर निर्णय का भार

यहाँ तक हमने ईश्वर-विषयक अनुकूल और प्रतिकूल उभयपक्ष की दलीलें दे दीं। पाठकगण अपना जैसा उचित समझें वैसा निर्णय कर लें। पृथ्वी में कुछ ऐसे धर्म भी हैं जिनमें ईश्वर का स्थान ही नहीं है, जैसे—बौद्ध और जैन। जैनी लोग तो केवल भारतवर्ष में ही रहते हैं; पर बौद्धों की संख्या विशाल है और उन्होंने तमाम पूर्वी एशिया को छेक लिया है। सोवियट रूस ने अपने यहाँ से ईश्वर के साथ धर्म को भी भगा दिया है। ईश्वर है या नहीं, इस विषय पर बहुत कुछ लिखा जा सकता है; पर ग्रन्थ के बढ़ जाने के कारण रुक जाना पड़ता है। इति किमधिकं बुद्धिमद्वर्य्येषु।